भगवान् महावीर

卐

प्रकाशक—
रघुवीरसिंह जैन
आनरेरी मन्त्री
भा० दि० जैन परिषद् पब्लिशिंग हाउस
दरीबा, दिल्ली।

अगस्त १९५१

प्रथमावृत्ति]   वीर निर्वाण सं० २४७७   [मूल्य ३)

दो शब्द

जैन धर्म के इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्री भगवान् महावीर स्वामी हैं। आज की साधारण अजैन जनता जैन धर्म के अन्य तीर्थंकरों के विषय में तो बिल्कुल अनभिज्ञ ही है और वह तो भगवान् महावीर को ही जैन धर्म का प्रवर्तक समझती है। भगवान् महावीर की जयंती चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भारत के कौने कौने में मनाई जाती है। परन्तु अभी तक भगवान् महावीर के किसी प्रामाणिक विस्तृत जीवन चरित्र का अभाव महावीर जयन्ती के अवसर पर बहुत अखरता था। उसी अभाव की पूर्तिरूप यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष होता है। श्रीयुत कामताप्रसाद D L ,M.R A S. आज के एक महान् ऐतिहासिक लेखक हैं। आपकी ऐतिहासिक खोज लेखन शैली, अद्वितीय है। आपने अबतक सैंकड़ों पुस्तकें जैनधर्म की प्राचीनता तथा जैन ऐतिहासिक महा पुरुषों के विषय में लिखी हैं। यह हमारा सौभाग्य था कि आपने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर इस पुस्तक को लिखने का भार सहर्ष ग्रहण कर लिया। इसके लिये मैं तथा परिषद् जिसके आप स्तम्भ हैं, अत्यन्त आभारी हैं। पुस्तक प्रकाशन में सुन्दर तथा टिकाऊ कागज व नये टाइप का पूर्णरूप से विचार रक्खा गया है। प्रूफ देखने में भी समुचित परिश्रम किया गया है परन्तु जिस प्रकार मनुष्य से भूल होना स्वाभाविक है उसी प्रकार पुस्तक में भी कुछ न कुछ अशुद्धि रहना असंभव नहीं है। विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि उन अशुद्धियों की ओर विचार न करें।

आशा है कि जैन तथा जैनेतर जनता इस प्रकाशन को अपनाकर हमारे प्रयत्न को सफल बनाएगी।

रघुवीरसिंह जैन

आनरेरी मन्त्री

विषय सूची

भूमिका

भगवान् महावीर तपःप्रधान संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। भोगों से भरे हुए इस संसार में एक ऐसी स्थिति भी सम्भव है जिसमे मनुष्य का अडिग मन निरन्तर संयम और प्रकाश के सान्निध्य मे रहता हो—इस सत्य की विश्वसनीय प्रयोगशाला भगवान् महावीर का जीवन है। वर्धमान महावीर गौतम बुद्ध की भांति नितांत ऐतिहासिक व्यक्ति है। माता पिता के द्वारा उन्हे भी हाड मांस का शरीर प्राप्त हुआ था। अन्य मानवों की भांति वे भी कच्चा दूध पीकर बढ़े थे, किन्तु उनका उदात्त मन अलौकिक था। तम और ज्योति, सत्य और अनृत के संघर्ष मे एक बार जो मार्ग उन्होंने स्वीकार किया, उस पर दृढ़ता से पैर रख कर हम उन्हे निरन्तर आगे बढ़ते हुए देखते हैं। उन्होंने अपने मन को अखंड ब्रह्मचर्य की आच मे जैसा तपाया था उसकी तुलना मे रखने के लिये अन्य उदाहरण कम ही मिलेंगे। जिस अध्यात्म केन्द्र मे इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त की जाती है उसकी धाराएं देश और काल मे अपना निस्सीम प्रभाव डालती हैं। महावीर का वह प्रभाव आज भी अमर है। अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य कैसा साम्राज्य निर्मित कर सकता है, उस मार्ग मे कितनी दूर तक वह अपनी जन्मसिद्धि महिमा का अधिकारी बन सकता है, इसका ज्ञान हमें महावीर के जीवन से प्राप्त होता है। बार-बार हमारा मन उनकी फौलादी दृढ़ता से प्रभावित होता है। कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े रहकर शरीर के सुख दुखो से निरपेक्ष रहते हुए उन्होंने कार्य साधन के अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श को प्रत्यक्ष दिखाया था। निर्बल संकल्प का व्यक्ति उस आदर्श को मानवी पहुँच से बाहर भले ही समझे, पर उसकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। तीर्थंकर महावीर उस

सत्यात्मक परिधि के केन्द्र मे अखंड प्रज्वलित दीप की भांति हमारे सामने आते हैं। यद्यपि यह पथ अत्यन्त कठिन था, किन्तु हम उनके कृतज्ञ हैं कि उस मार्ग पर जब वे एक बार चले तो न तो उनके पैर रुके और न डगमगाए। उन्होंने अन्त तक उसका निर्वाह किया। त्याग और तप के जीवन को रसमय शब्दों मे प्रस्तुत करना कठिन है, किन्तु फिर भी इस सुन्दर जीवन में कितने ही मार्मिक स्थल हैं, और कितनी ही ऐसी रेखाएं हैं जो उनके मानवीय रूप को साकार बनाती हैं। जैन अनुश्रुति और धार्मिक साहित्य के आधार पर महावीर के चरित्र को प्रस्तुत करने का यह प्रयास स्वागत के योग्य है। उस सुन्दर और सुरभित कमल की जितनी भी पंखड़ियाँ यहाँ आ सकी हैं उन्हे देखकर प्रसन्नता होती है। आशा है इस शतपत्र जीवन के सर्वांगपूर्ण वर्णन के और भी साहित्यिक प्रयोग होंगे।

नई दिल्ली,

६-५-५१

वासुदेव शरण

प्रस्तावना

'प्रभु स्वरूप अति अगम अथाह, क्यों हमसे यह होय निवाह ?'

कवि की इस पंक्ति के साथ ही हमने सन् १९२४ ई० में सूरत से प्रकाशित हुई अपनी कृति 'भगवान् महावीर' की प्रस्तावना लिखी थी। इस दीर्घ अन्तरकाल मे लोक के मध्य नाना परिवर्तन और ज्ञान गवेषणाये हुई है। तदनुसार भ० महावीर का पतितपावन जीवन चरित्र पुनः लिखना आवश्यक हो गया। (यद्यपि यह ठीक है कि भ० महावीर लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुये एक अद्वितीय महापुरुष थे, जिनके विषय मे सहज ही कोई प्रामाणिक निर्णय प्रकट करना सुगम नहीं, परन्तु तो भी उपलब्ध ज्ञान सामग्री के आधार से उसका संकलन 'स्वान्तः सुखाय' और 'परान्तः हिताय' करना अनुचित नहीं।) हाँ, यह हम मानते हैं कि यह हमारा एक अति साहस है। हम जैसा अल्पज्ञ एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर का चरित्र चित्रण करने मे भला कैसे सफल हो सकता है ? हमारे अनन्य मित्र जैनदर्शन दिवाकर स्व० वैरिस्टर चम्पतरायजी विद्यावारिधि ने भी तब ये ही लिखा था कि 'श्री पूज्य परमात्मा भ० वर्द्धमान महावीर का जीवन चरित्र इतना अद्भुत और अनुपम है कि जिन्होंने उन्हें उनके जीवनकाल में देखा था वे भी उनका जीवन चरित्र वर्णन करने मे असमर्थ रहे. तो फिर वर्तमानकाल के लेखकों की क्या शक्ति है जो उसको पूर्णरीत्या वर्णन कर सकें। आज इतने समय के पश्चात् भगवान् की शुभ जीवनी लिखना और उससे यह आशा करना कि वह सर्वांश ही भगवान् की दिव्य मूर्ति या उनके पूज्य गुणों को दर्शा सकेगी, एक झूठा विचार है; तथापि मेरे परम मित्र बाबू कामताप्रसादजी ने बड़े परिश्रम व कष्ट से बहुत कुछ सामग्री उक्त पूज्य तीर्थङ्कर के

जीवनकाल की एकत्रित करके उसको बहुत सुन्दर रीति से लेखबद्ध किया है।" इस समय भी अपनी हीन शक्तिका अनुभव हम कर रहे थे और आज भी वही परिस्थिति है, किन्तु समीचीन पुरुषार्थ फलीभूत होना ही है। अतएव यद्यपि हमारा प्रस्तुत प्रयास भी पूर्ववत "प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामन" वत किया है, तो भी यह भ० वर्द्धमान महावीर के लोकोद्धारक आदर्श जीवन की प्रामाणिक झांकी उपस्थित कर रहा है—यही संतोषका विषय है। प्रस्तुत कृति पूर्व संस्करण की द्वितीयावृत्ति मात्र नहीं है प्रत्युत यह नये-सिरे से सवर्द्धित और परिवर्तित रूपमें लिखी गई है—अत. एक नवीन रचना है। पहले हमने इसे एक अभाव की पूर्ति के लिये लिखा था; क्यों कि तब कोई भी प्रामाणिक वीर चरित्र नई शैली से लिखा हुआ उपलब्ध नहीं था। इसके विपरीत प्रस्तुत रचना समाज की मांग को पूरा करने के लिये लिखी गई है। 'जैनमित्र मंडल, दिल्ली" के संकेत पर इसकी रचना की गई; मंडलकी कमेटी ने इसकी पाण्डुलिपि देखी और सराहा भी किन्तु वह इसको प्रकाशित करने में असमर्थ रहे। अतएव अब यह भा० दि० जैन परिषद् प्रकाशन विभाग के सुयोग्य मन्त्री श्री ला० रघुवीरसिंहजी सर्राफ के उत्साह से प्रकाशमें आरही है। हम लालाजी की इस कृपा के लिये आभारी हैं। धर्मभाव से—किसी अर्थ या ख्याति लाभ के लोभ से नहीं—इसे हमने लिखा और प्रकाशनार्थ दिया। हमें सन्तोष है कि इस कृति के द्वारा ज्ञान प्रसार की प्रयास-प्रगति आगे बढ़ रही है।

तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी ऐतिहासिक महापुरुष थे

हम लिख चुके हैं कि लोक पूज्य तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर की जीवनी लिखना कोई सुगम कार्य नहीं है। महती ज्ञानवारी

गणधर महाराज भी उसको सर्वाङ्गरूपेण लिखने मे असमर्थ रहे। किन्तु मानव को अपने समय के मानव से विशेष सम्पर्क रहता है—वह पुरातन मानव को भी अपने मतिज्ञान के आधुनिक दर्पण मे देखने का प्रयास करता है। इस काल मे पहले पहले तो लोगो ने भ० महावीर की ओर दृष्टिपात ही नहीं किया। उनको एक कल्पित व्यक्ति माना। उपरान्त गौतम बुद्ध और वह, एक हैं—ऐसी भ्रान्त धारणा भी किन्हीं विद्वानों की रही। ऐसी ही मिथ्या धारणाओं का निरसन करने के लिये यह और भी आवश्यक हुआ कि प्रस्तुत विषय पर प्रामाणिक साहित्य सिरजा जावे। तदनुसार साहित्य सिरजा भी गया। प्रस्तुत प्रयास भी उस दिशामे एक प्रयोग है—सफल या असफल, यह पाठक जाने। इसको पढ़कर पाठकगण जानेंगे कि भ० महावीर वर्द्धमान अवश्य ही एक महापुरुष हुये, जो विश्वकी विभूति थे। वे जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे, उसके अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इस कल्पकाल मे जैनधर्म के संस्थापक श्री ऋषभदेव थे। ये क्षत्रिय रत्न केवल किसी सम्प्रदाय विशेष के आराध्य रहे हों, यह बात भी नहीं। वे तो लोक के थे—लोक के लिये उन्होंने सर्वस्व का त्याग किया और सत्य-सर्वस्व को पाकर उसको उन्होंने सब मे बांट दिया। तब वह भला किसी सीमा या परिधि में कैसे बंधे रहते ? वह महान् थे। अवश्य ही म० गौतम बुद्ध के समकालीन थे, परन्तु उनसे भिन्न थे। स्वयं म० गौतमबुद्ध ने उनकी महानता का उल्लेख निम्न प्रकार किया था:—

"एकमिदाहं, महानाम, समयं राजंगहे विहरामि गिज्झकूटे पब्बते। तेन खो पन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलियस्से कालसिलायं उब्भत्थका होन्ति आसन पटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदयन्ति। अथ खो हं, महानाम, सायण्ह समयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो येन इसिगिलि पस्सम काळसिला येन ते

निगण्ठातेन उपसंकमिम् । उपसंकमित्वा ते निगण्ठे एतदवोचम: किन्नु तुम्हे आवुसो निगण्ठा उब्भट्ठका आसनपटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदियथाति । एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं, निगण्ठो, आवुसो नाटपुत्तो सब्बञ्ञु, सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञान दस्सन परिजानाति: चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञानदस्सनं पच्चुपट्ठितंति:, सो एवं आह: अत्थि खो वो निगण्ठा पुब्बे पापं कम्म कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकरणं, इति पुराणान कम्मानं तपसा व्यन्तिभावा नवानं कम्मानं अकरणा आयतिं अनवस्सवो, आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति तं च पन् अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च आम्हा अत्तमना ति ।”

—मज्झिमनिकाय, PTS., I, PP. 92-93

इसका भावार्थ यह है कि म० बुद्ध कहते हैं. “हे महानाम ! मैं एक समय राजगृह में गृद्धकूट नामक पर्वत पर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरि के पास काल शिला (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) आसन छोड़ उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे महानाम ! मैं सायकाल के समय उन निर्ग्रन्थों के पास गया और उनसे बोला, ‘अहो निर्ग्रन्थ ! तुम आसन्न छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्या की वेदना का अनुभव कर रहे हो ?’ हे महानाम ! जब मैं ने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले, ‘अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन

उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है—'निर्ग्रन्थो ! तुमने पूर्व (जन्म) मे पापकर्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन और काय की संवृत्तिसे (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है, कर्म क्षय से दुक्खक्षय होता है, दुक्खक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षयसे सर्व दु:खो की निर्जरा हो जाती है।' इस पर बुद्ध कहते हैं कि 'यह कथन हमारे लिये रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जॅचता है'।"

शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध के उक्त प्रवचन से स्पष्ट है कि उनके समय में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर वर्द्धमान एक महान् तत्त्ववेत्ता रूपमें प्रसिद्ध थे - गौतम बुद्ध से वह भिन्न थे। उस समय के लोग उनको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी एवं अशेष—अनन्तज्ञान के अधिकारी मानते थे। अतः यह शंका करना ही व्यर्थ है कि भ० महावीर वर्द्धमान नामका कोई स्वाधीन महापुरुष हुआ ही नहीं। जब भ० महावीर ने पावापुर से निर्वाणपद पाया, तो उससे ठीक चौरासी वर्षों के पश्चात् राजस्थान के अन्तर्गत मज्झिमका नामक नगरी में उनके भक्तों ने एक भवन का निर्माण किया[1]। उधर तेरापुर, हाथीगुफा आदि स्थानों की प्राचीन जिनमूर्तियों में भ० महावीर की मूर्ति भी मिलती है।[2] मथुरा के कंकाली टीला से उपलब्ध कुशानकालीन मूर्ति भी इन अंतिम तीर्थंकर की मिली है।[3] बौद्धों के 'मिलिन्दपण्ह' ग्रन्थमें स्पष्ट

1. 'वीराय भगवते चतुरासी निवस्से सालामालिणीये रणिणविद्र मज्झिमिके।'—जैनमित्र वर्ष १२ अंक ११ पृ० १६२
2. संजैइ०, भा० ३ खंड ६ पृ० १९-१८
3. Epigraphic Indica, II, 321.

लिखा है कि पांच सौ यवन (Indo-Greeks) भ० महावीर से शंका समाधान करने गये थे और उनके भक्त हुये थे।[४] अतएव यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध के समकालीन भ० महावीर वर्द्धमान एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, जो जैनधर्म के संस्थापक नहीं, प्रत्युत उसके सर्व अन्तिम तीर्थंकर थे। जैनधर्म उनसे बहुत पहले से प्रचलित था।[५]

भ० महावीर के धर्मोपदेश का प्रभाव लोक व्यापी था।

यह विश्वविभूति भारत के रत्न और विहार प्रान्त के प्राण थे—अङ्ग और मगध की जनता उनका अवतार अपने में हुआ जानकर गौरव अनुभव करती और भाग्य को सराहती थी।[६] वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर जो थे। उनका सिद्धान्त एक विज्ञान की भांति कार्य-कारण-सूत्र पर आधारित था—इसलिये बुद्धिगम्य और ग्राह्य था—वह सत्य था। म० गौतम बुद्ध एवं अन्य मत-प्रवर्तक उससे प्रभावित हुये थे। पाठक देखेंगे कि भ० महावीर ने केवल धर्म तीर्थ और एक विशिष्ट धर्म सिद्धान्त की ही स्था-

---

4. Historical Gleanings, p. 78.
5 "Not only Jacobi, but other scholars also be-lived that jainism for from being an offshoot of Buddhism, might have been the earliest of home religions of India. The simplicity of devotion and the homely prayer of the jain without the intervention of a Brahmin would certain add to the strength of the theory so rightly upheld by jacobi. — Studies in the Sought Indian jainism, pt. I p. 9.
६. मज्झिमनिकाय, भा० १ पृ० २

पना नहीं की, प्रत्युत उन्होंने अपने समय की प्रत्येक समस्या का हल उपस्थित किया था। उन्होंने धर्मक्षेत्र मे जो हिंसा 'यज्ञों' के नामने हो रही थी, उसका अन्त ही नहीं किया, वल्कि अहिंसा के प्रचार द्वारा लोक मे विश्व वन्धुत्व की भावना जागृत कर दी थी। लोक ने पशुओं का भी आदर करना जाना था। आज का लोक तो केवल अपने मनोरंजन के लिये पशुओं को शिक्षा देकर उनसे अद्भुत करतव सरकसमे करवाता और खुश होता है, परन्तु उस समय का मानव मानवता से ओतप्रोत था, इसलिये वह पशुओ को भी ऐसी शिक्षा देता था, जिससे वह साम्यभाव को अपना कर संयमी जीवन विताते और सुखी होते थे। आज के युग को अहिंसा की इस अपूर्व शक्ति का पाठ पढ़ना है। अहिंसा की व्यवहारिकता महावीर जीवन से पद-पद पर टपकती है। आज मानव-मानव में रंगभेद और राष्ट्रभेद कटुता और वैषम्य का कारण वन रहा है—आये दिन युद्ध होते है—जातियों मे संघर्ष चलता है। भ० महावीर के सम्मुख भी आर्य-अनार्य की समस्या उपस्थित थी—लोग अनार्यों को और ग़रीव आर्यों को भी क्रीतदास वना लेते थे—उनका सामाजिक तिरस्कार होता था। भ० महावीर ने इन समस्याओं का हल उदाहरण वनकर उपस्थित किया था। दासप्रथा का अन्त हुआ—अनार्यों के प्रति घृणा का नाश हुआ—स्त्रियों और शूद्रों में भी स्वात्माभिमान जागृत हुआ—समाज में उनको सम्माननीय स्थान मिला। शासनाधिकार अहिंसा से अनुप्राणित हुआ। प्रत्येक को अभयदान मिला। राष्ट्रीय चारित्र का मापदण्ड महान् और उन्नत वना। यूनानी लेखकों ने भारतीयों के ज्ञान और चारित्र की भूरि भूरि प्रशंसा लिखी। भ० महावीर के पहले जनता भोग वासना में विवेक को खोये हुये—ऐश्वर्य के मद में पथभृष्ट हो रही थी। ईश्वर और पुरोहित को पूज कर वे

अपने को कृतकृत्य हुआ मानते थे। कामिनी-कंचन और सुरा-पान की मादकता में पौरुष से हाथ धोये बैठे थे वे। भ० महावीर ने उनको सचेत किया—उनके अन्तर में स्थित आत्मा के सत्य-रूप के दर्शन जनता को कराये। व्यक्ति ने जाना वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है—ईश्वर का रूप है—ईश्वर कहीं बाहर नहीं है—वह स्वयं ईश्वर है। भोग की वासनालिप्त दुर्भावना से उसका हृदय स्वच्छ हो गया। मानव के हृदय में विवेक जागृत हुआ। मांस-मदिरा-मधु को छूना भी लोगों ने पाप समझा—शाकाहार के नये नये स्वादिष्ट भोजनों का आविष्कार हुआ। 'जीयो और जीने दो' की अहिंसा भावना ने मानव के लोभ का संवरण किया—वह उदार बना। पैसा उसकी दृष्टि में ठीकरा हो गया—बाह्य समृद्धि उसके लिये अन्तिम ध्येय न रहा। 'संग्रह' शब्द उसके कोष से दूर होगया। भ० महावीर का परिग्रह परिमाणव्रत जो उसने लिया था। बड़े बड़े राजा महाराजा और पूंजीपति स्वेच्छा से भिखारी बन गये—उन्होंने अपनी धन-सम्पति लोकहित के कार्यों में व्यय कर दी। भारत में नयनाभिराम, मूर्ति, मन्दिर, मानस्थम्भ, दुर्ग आदि बन गये। बड़े बड़े विश्वविद्यालय खोले गये, जिनमें आदर्श ब्रह्मचारी अध्यापक-आचार्य शैक्षों को नि शुल्क शिक्षा देते थे। छात्रों को भोजन वस्त्र भी निःशुल्क मिलता था। चाहे राजा का बेटा हो अथवा एक किसान का—सब को एक समान ब्रह्मचारी जीवन बिताना होता था—सबको आश्रम का भोजन लेना होता था। समाज निर्माण के लिए ऐक्य और संगठन का क्रियात्मक पाठ यहाँ से लोग सीखते थे। इतना ही नहीं, भ० महावीर की शिक्षा का प्रसार दूर दूर देशों में किया गया। फणिक, पारस्य, यवन आदि देशों के लोग भारतकी ओर आकृष्ट हुये—भारत से उनका

सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा—अब भारत में वे सर्वथा म्लेच्छ न
रहे। भ० महावीर के समवशरण में वे भी मानवों के साथ
जाकर धर्मोपदेश सुनते थे और उनमें से अनेक जैनी हो गये थे।
ईरानी राजकुमार आर्द्रक तो जैन मुनि हो गया था। ईरान की
धर्मवृत्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ा—वहाँ पशुयज्ञों का निषेध
उनके धर्मगुरुओं ने किया। उसी समय चीन देशमें भी अहिंसा
धर्म का प्रसार हुआ। सारांशतः भ० महावीर के धर्मोपदेश ने
विश्वव्यापी क्रान्ति उपस्थित की और वह सफल हुई थी।
इनसे भारत का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी तब बढ़ा था। जैन
मुनियों का विहार काबुल, कन्धार, ईरान, तूरान, अरब, मध्य
एशिया, मिश्र आदि देशों में होता था। वहाँ के आचार-विचार
पर जैन सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। सारांशतः भ०
महावीर का सत्य-धर्म निरूपण लोक कल्याण का मूल मंत्र बना
था। आज भी उसके द्वारा लोक का कल्याण होना सम्भव है।
लोक उसको जाने और पहिचाने।

हमारी शैली।

किन्तु खेद का विषय है कि भ० महावीर के इस आदर्श
जीवन की घटनायें किसी भी स्रोत से एक व्यवस्थित शृङ्खला मे
नहीं मिलतीं—वे हैं भी बहुत थोड़ी ! बौद्धों की भाँति जैनों ने
इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि वे अपने तीर्थङ्कर के
पवित्र जीवन की कोई ऐतिहासिक तालिका रक्खे—उन्होंने
उनके जीवन की एक सामान्य जीवन रेखा उपस्थित करके संतोष
कर लिया। इसके विपरीत बौद्धों ने म० बुद्ध के जीवन का एक
वार्षिक लेखा जोखा बनाये रक्खा। इसका कारण जैनों और
बौद्धों का दृष्टिभेद था—जैन व्यक्तित्व के नहीं, सिद्धान्त के
पुजारी हैं—तीर्थङ्कर की अपेक्षा 'तीर्थङ्करत्व' उनके निकट विशेष
महत्व की वस्तु है—तीर्थङ्करत्व का चित्रण करने में उन्होंने कोई

कोर कसर वाकी न छोड़ी ! बौद्धों के निकट म० गौतम वुद्ध ही सब कुछ थे। अतएव दोनों के जीवन-वृतान्तों मे अन्तर मिलना स्वाभाविक है। इतने पर भी यह वात नहीं कि भ० महावीर अथवा किसी अन्य तीर्थङ्कर की जीवन घटनाओं का जैन साहित्य मे सर्वथा अभाव हो। भ० महावीर के विपय में जैन पुराण और कथा ग्रन्थों में अनेक जीवन वृतान्त और प्रवचन प्रसंगों का विवरण विखरा पड़ा है। उसे ढूंढ कर शृङ्खलावद्ध लड़ी मे पिरो देना, जैन विद्वानों का कर्तव्य है। जैनेतर साहित्य, विशेषतया वौद्ध साहित्य में जैन सम्वन्धी उल्लेख मिलते हैं। उधर भारतीय पुरातत्व मे वहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है। इस शैली को अपनाने का एक छोटा-सा प्रयत्न इस जीवनी के लिखने में हमने किया है। संभव है कि स्थिति पालक विद्वज्जन इससे सहमत न हों, यद्यपि उनके लिये भी कोई आपत्ति जनक वात हमें तो दिखती नहीं। हॉ, हमारी इस शैली में घटनाओं के कालक्रम का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है—वह रक्खा भी नहीं जा सकता, क्योंकि हमें यह पता ही नहीं चलता कि भ० महावीर किस समय किस स्थान में विहरे थे और अमुक घटना कव घटित हुई थी। व्यक्ति और स्थान के प्रसंग में जो उपदेश वचन निर्ग्रन्थराट् ज्ञातृपुत्र महावीर के मुख से उस समय कहे गये—यह भी ठीक से ज्ञात नहीं होता। फिर भी भगवान् ने धर्मोपदेश तो दिया ही था। अतएव हमने शास्त्रीय उल्लेखों को ध्यान में रखकर धर्मोपदेश का निर्देशन अपनी वाणी मे किया है। हमारी इस शैली से जीवनी में रोचकता आने के अतिरिक्त साहित्य में वीर जीवन सम्वन्धी विखरी हुई घटनाओं का संग्रह और प्रतिपादन भी एक हद तक हो जाता है। आशा है पाठकों को हमारी यह शैली रुचिकर होगी। कतिपय प्रसंगों का आधार स्रोत हम यहॉ स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं,

जिसमे कोई भ्रम न हो:—

(१) श्रेणिक महाराज के प्रकरण मे (पृष्ठ १५७) हमने रोहिणी एवं अन्य कथानकों का प्रसंग उपस्थित किया है। पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक कथावृत्त को श्रेणिक के प्रश्नोत्तर रूप मे प्रसूत लिखा ही है। वही शैली हमारी है।

(२) अभयकुमार के विषय मे लिखते हुये (पृ० १६७) हमने मूढ़ताओं का जो वर्णन लिखा है वह ठीक वैसा ही है जैसा श्री गुणभद्राचार्यजी ने 'उत्तर पुराण' में लिखा है। पाठकगण मुकाबिला करके देखें और मूढ़ताओं के जाल से अपने को निकालें। जिस जाति मूढ़ता का जैन धर्म में निषेध है उसी को सर्वोपरि महत्व देना मिथ्यात्व है।

(३) जैन और बौद्ध—दोनों स्रोतों से यह स्पष्ट है कि कुणिक अजातशत्रु भ० महावीर के धर्म में दीक्षित हुआ था। बौद्ध ग्रन्थों मे यह प्रकरण है कि अजातशत्रु ने सभी धर्म-गुरुओं के पास जाकर साधुता का लाभ जानने की जिज्ञासा की थी। अतः इसी विषय का प्रतिपादन उसके प्रसंग मे किया गया है।

(४) सेनापति सिंह का उल्लेख 'विनय पिटक' बौद्ध ग्रन्थ में है। जैन पुराण भी उनको सम्राट् चेटक का पुत्र बताते हैं। बौद्धग्रंथ मे अहिंसा मूलक प्रसंग उनके सम्बन्ध में उपस्थित किया गया है। वही हमने लिखा है।

इस प्रकार पाठकगण देखेंगे कि इस शैली से जहाँ पूर्व परम्परा का लोप किसी रूप में भी नहीं किया गया, वहाँ उसके द्वारा वीर चरित्र मे नवीनता और रोचकता आ गई है। यही इसकी विशिष्टता है।

आभार-प्रदर्शन

अन्त मे हम उन सभी आचार्यों और साहित्यकारो का आभार स्वीकृत करते हैं, जिनकी अमूल्य रचनाओं के आधार से हम यह ग्रन्थ रचने में सफल हुये हैं। साथ ही हम जैन सिद्धान्त भवन, आरा और इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्ता के अध्यक्षों के भी आभारी हैं, जिन्होंने आवश्यक साहित्य उपस्थित करके हमारे प्रयास को सफल बनाया। दक्षिण जैन समाज के रत्न श्रीमान् मञ्जय्य हेगडे सा० M. L. A. धर्मस्थल को भी हम भुला नहीं सकते, जो एक प्रतिष्ठित कलाकार हैं। आपने हमारे अनुरोध पर भ० महावीर का सुन्दर चित्र बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ का सौन्दर्य बढा दिया है। हम उन्हे धन्यवाद समर्पित करते हैं।

हिन्दी प्रागण के लब्ध प्रतिष्ठ महारथी श्रीमान् डा० वासुदेव शरणजी अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट् ने इसकी भूमिका लिखकर हमे कृतार्थ किया। इस कृपा के लिए हम उनका भी आभार स्वीकार करते हैं।

पाठकगण इसके पाठ से लाभान्वित हुये, तो ही हम अपना प्रयास सफल हुआ मानेंगे। इतिशम्

अलीगंज, (एटा)
श्रुत पंचमी २४७७,

विनीत—
कामताप्रसाद जैन

संकेताक्षर-सूची

अंनि०—अंगुत्तर निकाय (बौद्ध पिटक)

इंसेजै०—बुल्हर कृत इंडियन सेक्ट ऑव दी जैन्स (लंदन)

इंऐ०—इंडियन ऐंटीक्वेरी (त्रैमासिक पत्रिका)

ERE—Encyclopaedia of Religion of Ethics.

उपु०—श्री गुणभद्राचार्य रचित "उत्तरपुराण"

कैहिइं०—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया

चंभम०—श्री चंद्रराज भंडारी कृत "भ० महावीर"

जैहि०—"जैन हितैषी" मासिक पत्र (बम्बई)

जैऐं वा JA—"जैन ऐंटीक्वेरी" (शोध पत्रिका, आरा)

भमबु०—हमारा "भ० महावीर और म० बुद्ध" (सूरत)

मनि०—मज्झिम निकाय (PTS)

मच०—अशग कविकृत 'महावीर चरित्र" (सूरत)

जैसू० या JS.—जैन सूत्राज (सैक्रिड बुक्स ऑव दी ईस्ट सीरीज)

VT—VINAYA TEXTS. (Sacred Books of the East Series)

बंग०—बम्बई गैजेटियर

साम्स०—साम्स ऑव दी सिस्टर्स (थेरीगाथा का अनुवाद)

सजैइ०—हमारा 'संक्षिप्त जैन इतिहास" (सूरत)

हरि०—हरिवंश पुराण—श्री जिनसेनाचार्यकृत

हिग्ली०—डॉ० विमलाचरण लाहा कृत 'हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स' —(कलकत्ता)

भपा०—भगवान् पार्श्वनाथ (सूरत)

जैशिसं०—जैन शिलालेख संग्रह (मा० चं० ग्रं० बम्बई)

दि० जै० डा०— दिगम्बर जैन डायरेक्टरी (बम्बई)

बं वि ओ जै स्मा०—बंगाल विहार, ओड़ीसा प्रांतीय जैन स्मार्क (सूरत)

म० प्रा० जै० स्मा०—मध्य प्रान्तीय और राजपूताना प्राचीन जैन स्मार्क (सूरत)

मभै जैस्मा०—मद्रास, मैसूर प्रान्तीय जैन स्मार्क (सूरत)

संप्राजैस्मा०—संयुक्त प्रांतीय जैन स्मार्क (सूरत)

धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन में श्रीमती पुष्पा देवी जैन लखनऊ ने, अपने पति स्वर्गीय आदीश्वरप्रसाद जी जैन तहसीलदार की स्मृति में ५००) रु० प्रदान किये हैं एतदर्थ आपको धन्यवाद।

रघुवीरसिंह जैन
आनरेरी मन्त्री

जय वीर

भगवान् महावीर

(१)

वीर-दर्शन

"कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्ते कथं सम्प्रतम् ।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम् ॥
इत्थं सर्व विचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः ।
जन्माम्भोधि विवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः ॥"

—वृहद् सामायिक पाठ ।

उषा वेला का सौन्दर्य मुखरित हो रहा है। सरिता के प्रवाह की निश्चल ध्वनि वीणा के स्वरों से स्पर्द्धा कर रही है। पक्षी नीड़ों से निकल कर कलरवनाद करके मानो प्रकाश का स्वागत कर रहे है। वेले-लताये वृक्षों से लिपटीं हुईं मानों प्रणय का सन्देश दे रही है। मनोहर मन्द मन्द मलयानल उनमे एक सिहरन पैदा कर रहा है। रजनी उसको देख न सकने के कारण मानो मुँह छिपाकर भाग रही है। बटोही रास्ता नापने को तत्पर हो रहे है। इस सृष्टि-सौन्दर्य मे ज्ञान का विकास-पुञ्ज, अद्भुत शोभा पा रहा है। एक सघन साल वृक्ष के नीचे अरुण-आभा से प्रफुल्लित वदन वह मानव ध्यान मे मग्न खड़ा है। वह किसी ओर नहीं देखता। अन्तर्दृष्टि है उसकी। कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित प्रकृतिरूप में मग्न, वह योगी नासा के

अग्रभाग पर दृष्टि लगाये हुये है। मानो ससार की सारी सम्पत्ति उसको अन्तर मे ही मिल गई है—अपनी आत्मविभूति को पाकर वह लोक की ओर से बेसुध हो गया है। एक दम्पत्ति ने उसे देखा—सृष्टि सौन्दर्य से भी अधिक आकर्षक पाया उसे। वे रुके—उस शान्ति मूर्ति को देखकर वे चौंके ! स्त्री पूछती है, "प्रियतम ! यह कौन हैं ? सुन्दर सौम्य युवक होकर भी किस दुख के कारण इन्होंने यह वनवास लिया है ?" पति ने कहा, "प्रिये, भूलती हो ! ससार के सब सुख इन्हें प्राप्त थे। यह विदेह के रत्न क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के नन्दन महावीर वर्द्धमान हैं। इन्होंने स्वेच्छा से आकिंचन्य व्रत धारण किया और वनोवास लिया है। सारी सम्पत्ति इन्होंने खुशी से उनको दे डाली जिनको उसकी आवश्यकता थी। राज्य लक्ष्मी का त्याग करके यह युगप्रवर्तक युवक लोक का कल्याण करने के लिये योग साधना मे लीन हुये हैं। यह अज्ञान का नाश कर रहे हैं, दुखों को जीत रहे हैं—मौन होकर जीव-अजीव प्रकृति का देश-देश में घूमकर अध्ययन कर रहे हैं। एकान्त में निरे अकेले रहकर सूक्ष्म विचार-रूपी डोरी को आकाश की ओर फेंक कर ससार की अशान्त और संतप्त आत्माओं के उद्धार के लिये—उनको संसार सागर से तारने के लिये धर्म-विज्ञान का पुल बना रहे हैं। 'जीवमात्र को सुख और शान्ति मिले'—इसलिये यह धर्म-तीर्थ की स्थापना करने जा रहे हैं। यह अन्तिम तीर्थंकर जो हैं।" पत्नी हर्षविह्वल हो बोली, "अहो प्रियतम ! मैं समझी। यह तो महाप्रभु लोकोद्धारक महावीर वर्द्धमान जिनेन्द्र हैं।

आह ! हम इन प्रेम-सागर के समान कब बनेंगे ?" दम्पत्ति वीर-प्रभु भगवान् महावीर के चरणों मे नतमस्तक होते है और प्रभु के प्रफुल्लित कमल वदन को देखकर मन मे उल्लास और हर्ष का अनुभव करते है।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर वर्द्धमान की योग साधना का उक्त चित्रण इस पवित्र भारत मही पर भव्य जनों को देखने को मिला था। भ० महावीर ने योग साधना करके मन-वचन-काय की क्रियाओ को अपने आधीन किया था। वह पूर्ण पुरुष जीवन मुक्त परम आत्मा हुये थे। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर ही उन्होंने बहके हुये लोक को सत्य-सन्देश दिया था। समाज निर्माण का आधार स्तंभ उन्होंने व्यक्ति को माना था। पुरुष अथवा स्त्री ही वह मौलिक इकाई है जिसके आधार से समाज बनता, बढ़ता अथवा बिगड़ता है। व्यक्ति के सुधार और आत्मोद्धार मे ही समिष्टि का अभ्युत्थान अन्तर्निहित है। व्यक्ति अपना सुधार किये बिना-अपना ज्ञान पाये बिना, लोक को न जान सकता है और न उसका उपकार कर सकता है। सच देखा जाय तो भ० महावीर ने लोगों को स्वाधीन बनने की शिक्षा दी। कोई भी जीव किसी भी जीव का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और भोक्ता है। अपने जीवन को उन्नत अथवा अवनत प्रत्येक जीव स्वयं बनाता है। इसलिये ही मानव को सावधान करते हुये जगद्गुरु भ० महावीर ने प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक ठहराया कि वह विचारे (१) कौन सा काल

है ? (२) इसका कौनसा जन्म है ? (३) वह किस तरह का बर्ताव करे ? (४) इस जन्म में इसका हितकारी कर्म क्या है ? (५) परलोक के लिये इसका हित किसमें है ? (६) इसका अपना क्या है ? (७) और इससे भिन्न अन्य क्या है ? जो विवेकवान् व्यक्ति इन प्रश्नों पर ध्यान नहीं देता और आत्मा के स्वरूप को नहीं पहिचानता. उसके सब ही व्यवहार और कार्य संसार दुख को बढ़ाने-वाले होते हैं। वह न अपना भला कर सकता है और न लोक का। समय का जिसे ज्ञान नहीं. वह जीवन के मूल्य को नहीं आंक सकता। समय बड़ा बलवान है। अनुकूल समय पर ही श्रम से बोया गया बीज फल देता है। मानव समय की स्थिति को जानकर के अपने ऐहिक जीवन का लेखा-जोखा करे, तो ही वह जीवन में सफलता पा सकता है। मानव का जन्म सर्वश्रेष्ठ लाभ है। मनन करने की शक्ति पाने के कारण ही वह मानव हुआ है। अतः अपने मानव जन्म की सार्थकता के लिये मानव को मनन करना उपादेय है। अपने जन्मगत स्थिति का ठीक परिचय पाकर ही वह आत्मगौरव अनुभव करता और अपने पूर्वजों के पदचिन्हों पर चलने के लिये तत्पर होता है। इस प्रकार स्वात्माभिमान को लेकर ही मानव अपने आसपास के साथियों से ऐसा वर्ताव करता है, जिसमें सब सुखी होते और गौरव अनुभव करते हैं। 'स्वयं जीयो और अपने साथियों को जीवित रहने दो' —यह तो सामान्य नियम है प्रकृति का। किन्तु मानव तो विशिष्ट व्यक्ति है। उसकी विशेषता इसी में है कि वह दूसरों को सफल जीवन बिताने में सहायक हो।

स्वपर-आत्म-कल्याण वह करे, यही उसके लिये हितकारी है। इस जन्म मे भी और दूसरे जन्म मे भी। शरीर से भिन्न मानव देह को जाज्वल्यमान करनेवाला आत्मा महान् है। उसका प्रकाश जीवनपथ आलोकित करे, यह मानव जीवन का महान् लाभ है। इस लाभ से वह सुन्दर और समुज्ज्वल भविष्य का निर्माण करता है। मानव को दृढ श्रद्धा होती है कि उसकी अपनी वस्तु केवल आत्मा है, जो दर्शन और ज्ञान का पुञ्ज है। आत्म बल को विकसित करके मानव पूर्ण दृष्टा और ज्ञाता बने, तो वह पूर्ण सुखी होता और उसके साथ लोक भी। लोक मे आत्मा शाश्वत रहने वाली वस्तु है। शरीर और इन्द्रिय भोग क्षणिक हैं। शरीर भौतिक अंशों का जो बना है। काल पाकर अंशों का समुदाय विघटित होता ही है। वाह्य ऐश्वर्य भौतिक दृष्टि के लिये मोहक अवश्य है, किन्तु अन्तर्दृष्टा जानता है कि सुख भौतिक-भोगों में नहीं है—इन्द्रियवासना मे फंसना शरीर का दास बनना है। अच्छा खाना-पीना, अच्छा पहनना-ओढ़ना, अच्छा रहना-सहना, अच्छी सुख-सम्पदा कुछ समय के लिये भले ही सुखाभास मे मनको मोह ले, किन्तु परिणाम उनका कटु ही होता है। रोग-शोक, आतंक भय, लूट-खसोट, जन्म-मरण क्या शरीर के साथ नहीं लगे हैं? फिर भौतिक जीवन की श्रेष्ठता मात्र को ही कैसे जीवन साफल्य माना जावे? जो वस्तु अपनी नहीं है और न अपने स्वभाव के अनुकूल है, वह कैसे व्यक्ति के पास हमेशा रह सकती और उसे सुखी वना सकती है? आत्मा ही स्व-वस्तु

है। उसका बल, ज्ञान, दर्शन, सुख कभी मिटने वाला नहीं। इसलिये व्यक्ति स्वाधीन बने—अपनी आत्मा को ही अपना सर्वाधिकारी माने और उसके धर्म-शासन—ज्ञान दर्शन के विकास को अपनी सम्पति माने, तभी वह पर-पदार्थ की वाञ्छा रूपी बन्धन से छूट कर मुक्त प्रभू बन सकता है। न जन्म में महानता है और न जाति में विशेषता है—महानता और विशेषता हमारे अन्तर में विद्यमान है। अत. अन्तरात्मा बनकर लोक मे विचरो तो कदाचित् महावीर के समान बन सकते हो। भ० महावीर की इस स्वाधीन आत्म-स्वातंत्र्य और स्वभाग्य निर्माण की शिक्षा ने लोक को नया जीवन दिया। मतवाद की हाला को पीना लोक भूल गया—कुल जाति के मद में वह पागल न रहा और पशु यज्ञों के स्थान पर इन्द्रिय वासना का यज्ञ रचना, उसने सीखा। भ० महावीर के अन्तर-दर्शन पाकर लोक की कायापलट हुई थी। यह उस समय की महान् विजय थी। अहिंसा संस्कृति का अभ्युदय उस समय का ऐश्वर्य था। लोक के कण-कण मे आत्मस्वरूपी वीर-दर्शन हो रहे थे। लोक एक स्वर से कह रहा था.—"महावीर शरणं गच्छामि!" —"अरहन्त-शरण गच्छामि!" व्यक्ति के सुधार ने समिष्टि को सुधार दिया। अहिंसा ने वसुधा को एक कुटुम्ब में परिणत कर दिया और लोक मे विश्व प्रेम की जान्हवी का सुखद अवतरण हुआ। अतः आइये पाठक, उन प्रभू महावीर के पवित्र जीवन का दिग्दर्शन करें।

———

(२)

संसार-स्थिति और काल-चक्र !

"गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे।
यस्मिन्नेवहि मध्यान्हे, स दुःखमिह रूद्यते ॥"—ज्ञानार्णवः

जिस घर मे प्रभात-समय आनन्द-उत्साह के सुन्दर सुन्दर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्यान्ह के समय उसी घर मे दुखके साथ रोना सुना जाता है। संसार की यह विचित्र स्थिति है। संसृति, उलट-पलट का खेल है। जिसका आज विकास है कल उसका अन्त अवश्यम्भावी है। चन्द्र की शुभ्र-ज्योत्सना लोक को अतिरजित करके अवसान को प्राप्त होती है। किन्तु मानव हृदय मे एक आशा की रेखा छोड़ जाती है। यह आशा रेखा ही मानव को नव उत्साह और नव स्फूर्ति प्रदान करती है और उल्लास से वह निश्शंक हो जाता है।

"चिन्ता नहीं जो व्योम विस्तृत चन्द्रिका का हास हो !
चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो !!"

इस प्रकार यह संसार घटनाओ की आश्चर्यमय पुनरपि घटनास्थली है। यहॉ जन्म का अवसान नवीन विकास मे छुपा हुआ है। संसार मे सार-वस्तु यह विकास-क्रम है। वस्तु-स्वरूप को पहिचान कर जो विचक्षण विकास-पथ का पथिक वनता है, वह जीवन साफल्य को प्राप्त होता है। वस्तु स्वरूप सत्‌रूप है। सत् उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय मे अपना अस्तित्व छुपाये

हुये है। अलंकृत भाषा में कहें तो कह सकते है कि ब्रह्मा (सृजन)-विष्णु (संरक्षण)-महेश (सहार) की लीला सत-संसार है। यहाँ न वस्तु का सर्वथा नाश होता है और न नई वस्तुका सृजन ! अलबत्ता वस्तुओं की स्थिति में नितनया परि-वर्तन होता रहता है । इसलिये ससार परिवर्तनशील माना गया है।

संसार की स्थिति मे यह परिवर्तन कालचक्र के निमित्त से होता है। काल द्रव्य अनन्त है और महान् शक्ति है उसकी ! संसार में परतापरत का व्यवहार उसके कार्य का प्रत्यक्ष फल है। व्यवहार मे उसके दो रूप अथवा कल्प दृष्टिगत होते हैं : (१) अविसर्पिणी अर्थात् वह काल जिसके प्रभाव से वस्तुओं का क्रमशः ह्रास होता है। इस काल मे धीरे २ आत्म धर्म का लोप होता और अधर्म का साम्राज्य स्थापित होता है। और (२) उत्सर्पिणी अर्थात् वह काल जिसमें वस्तुओं की क्रमशः उन्नति होती है और धर्म तत्व का विकास होता है । यह दोनों कल्पयुग छै कालों (Ages) में विभक्त हैं। अविसर्पिणी युगके छै काल यूँ हैं : (१) सुखमा-सुखमा, वह काल जिसमे खूब सुख होता है। मानव प्रकृति सरल और पुण्यभोगी होती है, (२) सुखमा, वह काल जिसमें जीवन साधारण सुखमय बीतता है, (३) सुखमा-दुखमा, इस काल मे जीवन सुख दुख से सना रहता है, (४) दुखमा-सुखमा, ऐसा काल है जिसमें दुख की प्रबलता और सुख की अल्पता होती है; (५) दुखमा, वह काल जो दुख से ओत-प्रोत है। यही वर्तमान काल है । इक्कीस

हजार वर्षों तक यह दुख के पहाड़ खड़े करता रहेगा। अभी तक इसकी लगभग २४०० वर्षे व्यतीत हुई है। धर्म इसमे जुगनू की तरह चमकता रहेगा—धर्म प्रकाश में इस काल के जीव भी सुख का आभास देख सकेंगे। (६) उपरान्त अन्तिम दुखमा-दुखमा काल महान् दुख और अंधकार का समय होगा। उसके साथ अविसर्प्पिणी काल समाप्त होगा। सब वस्तुयें ह्रास की चरम सीमा को पहुंचकर प्रतिक्रिया को प्राप्त होंगी। उत्सर्प्पिणी काल के प्रारम्भसे सब वस्तुओं का क्रमश. अभ्युदय प्रारंभ होगा। इन छै कालों में पहले तीन काल केवल भोग भोगने के अभिनय क्षेत्र है। जीव इतने पुण्यशाली होते है कि वे घर कुटुम्ब और कमाने धमाने के झंझट मे नहीं पड़ते है। वह प्रकृतिसुलभ पदार्थों से तृप्ति अनुभव करते है। शेष तीन काल 'कर्मयुग' हैं। इनमे मानव आजीविकोपार्जन करके सभ्य जीवन विताता है-धर्मकर्म मे प्रवृत्ति करता है। इस समय ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने धर्मतत्व की देशना दी थी। वह धर्म देशना उनके पश्चात् तेईस तीर्थंकरों द्वारा पुनर्स्थापित होती आई। भ० पार्श्वनाथ के पश्चात् जब काल प्रभाव से धर्म तत्व का ह्रास हुआ, तो अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर के महान् व्यक्तित्व से उसका पुनः विकास हुआ! भ० महावीर ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की। यह संसार की स्थिति और काल चक्र का प्रभाव था कि धर्म तीर्थ की पुनर्स्थापना समय २ पर होती आई है। संसार परिवर्तनशील जो है।

---

(३) तीर्थंकर कौन है ?

"तित्थयरा चउवीस वि केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा।
पसियतु सिवसरूवा तिहुवण सिरसेहरा मज्झं ॥"

—जयधवल

"जिन्होंने अपने पूर्ण—केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को देख लिया है, जो शिवस्वरूपहैं और त्रिभुवन के सिर पर शेखररूप हैं, क्योंकि वह अद्वितीय हैं," ऐसे चौवीस तीर्थङ्करों का वरदहस्त सदा वाञ्छनीय है। श्री वीरसेनाचार्य के उपरोक्त वाक्य से स्पष्ट है कि प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में चौवीस तीर्थङ्कर होते हैं। वे उस काल के समस्त महापुरुषों मे प्रधान होते हैं और आत्मकल्याणकारी तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। इसलिए ही वे 'तीर्थकर' कहलाते हैं। 'तृ' धातु से 'थ' प्रत्यय सम्बद्ध होकर 'तीर्थ' शब्द बनता है। इस 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है कि "जिसके द्वारा तरा जाय।" और 'धर्म' शब्द से 'वस्तुका स्वभाव' अभिप्रेत है। तीर्थंकर धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं। जिसके सहारे प्राणी संसार के दुख सागर को तैर कर उस पार–सुख के मुक्त द्वार पर पहुँचते हैं। तीर्थंकर पदार्थ विज्ञान और आत्म तत्व के रहस्य को वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादित करते हैं। इसलिए वे ही लोक में तीर्थंकर नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस अविसर्प्पिणी कल्प के चौथे काल में ऋषभादि चौवीस तीर्थंकर हो चुके हैं। भ० महावीर उनमें सर्व अन्तिम हैं।

कतिपय युवक तीर्थंकरों की चौवीस संख्या पर आपत्ति

करते है और भ० पार्श्व से पहले के बाइस तीर्थकरों के अस्तित्व मे उनको शङ्का है। जैन शास्त्रों मे उनका प्राय' एक-सा चरित्र-चित्रण देखकर वह और भी सशङ्क होते है। किन्तु वे भूल जाते है कि 'सत्य' त्रिलोक और त्रिकाल मे एकसा-ही होता है। तीर्थंकर सत्य-रूप है, सत्य के उपदेष्टा है और सत्य उनका प्रवचन है। तब उनके चरित्र मे अन्तर कहाँ से हो? फिर भी थोड़ा बहुत अन्तर प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन चरित्र मे मिलता ही है। रही बात चौवीस संख्या की, वह भी नितान्त प्राकृतिक है। दिन-रात मे चौवीस घटे है और एक वर्ष मे चौवीस पक्ष होते है। प्रकृति के इस नियम को कोई पलट नहीं सकता। दिन रात मे चौवीस से कम ज्यादा घटे नहीं हो सकते—वर्ष मे कुल चौवीस ही पक्ष होंगे- उनकी संख्या घट बढ़ नहीं सकती। इसी प्रकार तीर्थङ्करों की संख्या भी चौवीस निश्चित है। यह काल और तीर्थङ्कर कर्म प्रकृति का प्रभाव है। अविसर्प्पिणी कल्प का काल-सूर्य अपने मध्यान्ह-यौवन पर चौथे काल मे पहुँचता है। उस काल मे केवल चौवीस अवसर ही ऐसे उपस्थित होते है कि जिनमे काल चक्र के प्रभाव से नक्षत्रों की स्थिति सर्वोच्च पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। इस परमोत्कृष्ट योग में ही त्रिभुवनसिर-शेखर तीर्थंकर जन्म लेते हैं। यूं तो सामान्य केवलज्ञानी-सर्वज्ञसर्वदर्शी महापुरुष अनेक होते हैं, किन्तु धर्मतीर्थ प्रवर्तक महापुरुष चौवीस ही होते हैं यह मान्यता बहुप्राचीन है। मौर्यकाल से पहले की जिनमूर्तिया इसकी साक्षी हैं। अतएव तीर्थंकरों की चौवीस संख्या मे शङ्का करना व्यर्थ है।

तीर्थंकर-पद महाभाग्यशाली महापुरुष को ही प्राप्त होता है। सामान्य सर्वज्ञ—सर्वदर्शी केवली-साधु हो जाना सुगम है। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में वैसे सामान्य केवली असंख्यात होते हैं; किन्तु त्रिभुवन के महापुरुषों में मुकुट-मणि-रूप तीर्थंकर होना सुगम नहीं है। धर्म चक्रवर्ती का यह महान् पद अनेक जन्मों के श्रम और योग साधना से नसीव होता है। मानव जन्मगत पूर्णता को प्राप्त करके ही तीर्थंकर पदवी मिलती है। तीर्थंकर इसीलिये ही अनुपम हैं—उनसा और कोई नहीं है। धर्म तीर्थ के संस्थापक होने के कारण वह बड़े २ आचार्यों द्वारा अभिवन्द्य हैं—वह लोक के सर्वोपरि सर्वतोभद्र कल्याण-कर्त्ता जो हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य उनके तीर्थ को सर्व आपदाओं का अन्त करने वाला सर्वोदय तीर्थ घोषित करके उनकी महानता को व्यक्त करते हैं। (सर्वापदामन्तकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं त्वमेव।) लोक कल्याण के सर्वतोभद्र सर्वोदय नेता होने के कारण ही वे सर्वोपम हैं।

मानव अनेक जन्मों में सत्य और अहिंसा की साधना करके ही अपने को इस योग्य बना पाता है कि सत्य और अहिंसा का प्रकाश उसके रोम-रोम से प्रगट हो। इन्द्रियों की दासता का जुआ वह उतार कर फेंक देता है, राग द्वेष को वह जीत लेता और जिनेन्द्र बनता है। उसके शरीर के परमाणु भी योगनिरत पूर्णता और विशुद्धता को पाकर शुद्ध-कारबन-पुद्गल स्कंध रूप हीरे की प्रभा को भी मन्द कर देते हैं। सहस्राधिक सूर्य के प्रकाश को भी उनकी प्रभा लज्जित करती है! वह

महान् सुभग-सुन्दर-समचतुरस्र-संस्थानी-वज्रवृषभनाराच संहननी हो जाते हैं। उनका अतुल बल होता है, अनन्त ज्ञान होता है-अनन्त दर्शन और अनन्त सुख मे वह मग्न रहते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वघात से ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास और प्रकाश तीर्थंकर में देखने को मिलता है। वह जीवन्मुक्त सच्चिदानन्द शुद्धआत्मा हो जाते हैं-इसलिये शरीर का कोई विकार उनमे शेष नहीं रहता। उनकी आत्मा भी शुद्ध और शरीर भी शुद्ध-दोनों अपनी २ विशुद्ध परिणति मे संलग्न रहते हैं—परका प्रभाव वहाँ निःशेष है, इसलिये विकार के लिये गु जाइश नहीं ! अंतरंग में राग द्वेषादि नहीं उठते-वहिरंग में भूख-प्यास, जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक, भय-आश्चर्य, पसीना आदि कोई भी विकार नहीं उठते। विशुद्धि के पुञ्ज उन तीर्थंकर मे शुद्ध-बुद्ध परमोत्कृष्ट आत्मा तत्व के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इसलिये उनके निकट आधि-व्याधि रहती नहीं—सौ-सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं रहता और परस्पर विरोधी जीव भी वैर भाव छोड़कर प्रेम-जान्हवी मे निमग्न हो जाते हैं। मानव क्या, स्वर्ग के देवता भी उनके दर्शन करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। उनकी धर्मदेशना के लिये देवता सभागृह अतीव सुन्दर रचते हैं, जो समवशरण कहलाता है और जिसमे जीव मात्र पहुचकर समता भाव का अनुभव करता है। नीच-ऊंच, रंक-राव, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, गोरे-काले नर-तिर्यंच—सभी तीर्थंकर के समवशरण में पहुंचकर साम्यभाव और सुख को पाते हैं। अहिंसा और

सत्य का पूर्ण प्रकाश जो वहाँ है !

यह परमोत्कृष्ट आत्मविशुद्धि असीम योग साधना का सुफल है। वह मानव जो सोलह-कारण आत्म-भावनाओं को मन वचन काय से सफल बना लेता है, वही एक तीर्थंकर के पाद मूल में बैठकर तीर्थंकर कर्म प्रकृति का बंध करता है। सोलह-कारण आत्म-भावनायें आत्म विशुद्धि को पाने के लिये नियत-निमित्त हैं। उनमें भी दर्शन विशुद्धि मूल प्रेरक है। वह सोलहों में आदि इकाई है—मुकुटमणि है। आत्म श्रद्धा की विशुद्धि, आत्मा के स्वरूप का अनुभव दर्शन विशुद्धि है। मानव पहले आत्मा को पहिचाने और उसके स्वरूप का ज्ञान और अनुभव बढ़ावे, वह अपना अतरंग निर्मल होता पावेगा, यही दर्शन विशुद्धि है। शेष पन्द्रह कारण-भावनाओं मे भी यह अन्तर्निहित है—आत्म विशुद्धि निरन्तर बढ़ती ही रहती है—महानता की कुंजी यह दर्शन विशुद्धि है। शेष भावनायें इसकी अनुगामी हैं। वे यह हैं:—

(१) **दर्शन विशुद्धि**—आत्मानुभव की उत्तरोत्तर वृद्धि !

(२) **विनय सम्पन्नता**—पूज्य पुरुषों के प्रति विनय का व्यवहार रखना और लोक व्यवहार में भी विनय पूर्वक वर्तना !

(३) **शीलव्रत**—ब्रह्मचर्य पालना। अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को मां-बहन समझना।

(४) **ज्ञानोपयोग**—पठन पाठन में निरत रहना, जिससे

आत्मा का ठीक अभिज्ञान हो।

(५) संवेग—संसार के कार्यों मे ममत्व को न रखकर विरक्त रहना।

(६) शक्ति भर त्याग—शक्ति को न छिपाकर त्याग धर्म का पालन करना। क्रोधादि कषाय अंतरंग परिग्रह का त्याग करना और वहिरंग में धन धान्यादि का त्याग (आकिंचन्यव्रती होना)

(७) शक्ति भर तप—अपनी शक्ति के अनुसार इन्द्रियनिग्रह और इच्छानिरोध के लिये तप का अभ्यास करना।

(८) साधु समाधि—साधुजनों की सत्संगति में समता भाव-जन्य समाधि-योग निष्टा की पूर्णता प्राप्त करना।

(९) वैयावृत्य—भक्ति पूर्वक साधु समूह की सेवा करना और करुणाभाव से जीवमात्र का उपकार करने मे निरत रहना।

(१०) अर्हत्-भक्ति—अर्हत महापुरुषों की उनके गुणों को प्राप्त करने के लिये भक्ति करना।

(११) आचार्य-भक्ति—संघ नेता आचार्य के कर्तव्य को पहिचानकर उनकी भक्ति करना।

(१२) वहुश्रुत भक्ति—अपने से अधिक ज्ञानी शिक्षक—उपाध्याय की भक्ति करना, जिससे ज्ञान का विकास हो।

(१३) प्रवचन भक्ति—सत्य समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय मे निरन्तर भक्तिभाव रखना।

(१४) षडावश्यक पालन—नित्य नियम के छै आवश्यक कर्मों, सामायिक-वन्दना-प्रतिक्रमणादि के करने मे दक्ष होना।

(१५) मार्ग प्रभावना—'मोक्ष मार्ग का पर्यटक संसार का प्रत्येक प्राणी बने'-इस पुनीत भावना से धर्म प्रकाश के कार्य करना।

(१६) वात्सल्य—मोक्षमार्गरत साधर्मी 'बन्धुओं के प्रति वात्सल्य भाव का वर्ताव करना और जीवमात्र के प्रति व्यवहार मे विश्व प्रेम का परिचय देना!

उपर्युक्त सोलह कारण भावनाओं का एक तीर्थंकर की निकटता में निरन्तर अभ्यास करने से मुमुक्षु अपने मे वह योग्यता प्राप्त करता है, जिससे वह तीर्थङ्कर होता है। इन भावनाओं को पालन करने का ऐसा प्रभाव होता है कि मुमुक्षु मे आध्यात्मिक प्रकाश बढ़ता जाता है—आत्मा के दर्शन-ज्ञानादि गुण विकसित होते जाते हैं। लोग समझते हैं कि वे चर्मचक्षुओं से देखते हैं, किन्तु ज्ञानी यह नहीं मानता, उसे वह जड़वाद का विकार मानता है। चर्मचक्षु ज्ञानोपयोग के बल पर ही सार्थक है। ज्ञानोपयोग मति-श्रुति-अवधि-मन पर्यय और केवलज्ञान रूप है। ज्ञानावर्णी कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान की तरतमता होती है, परन्तु उसके सर्वथा क्षय होने पर ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होता है। तब चर्मचक्षुओं के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती—शुद्ध आत्मा का ज्ञानो-

पयोग स्वयं कार्यकारी होता है। जन्म समय से ही तीर्थंकर का क्षयोपशम विशेष होने से मति-श्रुत-अवधि की विशिष्टता उनमें होती है। पूर्ण ज्ञानी होकर वे धर्मदेशना देते और धर्मतीर्थ की स्थापना करते है। अतः केवल ज्ञान-अवसर तीर्थंकर जीवन में अपूर्व है। तब देवकृत चौदह अतिशय प्रगट हो जाते हैं, जिससे तीर्थंकर भगवान् का अपूर्व वैभव प्रगट होता है। उनके विहार मे धर्मचक्र आगे आगे चलता है। समवशरण की अपूर्व रचना होती है। किन्तु यह वाह्य अतिशय उनकी अन्तरंग विभूति के आगे पासंग भी नहीं है। विवेकी इन से तीर्थंकर की महानता नहीं मानते। उनकी वाह्य विभूति में मग्न हो जाने को वे आत्मोन्नति में अर्गला मानते हैं। कहा भी है —

"जे जिनदेह प्रमाण ने, समवसरणादि सिद्धि।
वर्णन समझे जिन नुं, रोकि रहे निज बुद्धि॥"

वस्तुतः तीर्थंकर का महत्व उनकी आत्मा के पूर्ण विकास में—उसकी परम विशुद्धि मे गर्भित है और वही मानव के लिये उपादेय है। मानव उसी प्रकार अपने को शुद्ध करके महान् बन सकता है। किन्तु इस आत्म शुद्धि और उसके परिणाम रूप मुक्ति-वैभव की प्रतीति आधुनिक जगत को प्रायः नहीं है। आजकल के सभ्यशिष्ट पुरुष जड़वाद में निमग्न होने के कारण आध्यात्मिक बातों की ओर से बेसुध है—उनकी विलक्षणता देखकर वे श्रद्धा को खो बैठते हैं। किन्तु वे भूलते हैं। मानव-शरीर में चैतन्य गुणधारी आत्मा के अतिरिक्त पुद्गल की सारी

शक्ति भी अन्तर्निहित है। जब एक अणु-बम बड़े २ नगरों को भस्म कर सकता है; विद्युत्कणों आदि पुद्गलों के प्रभाव से शब्द का प्रसार रेडियो द्वारा सारे लोक में किया जा सकता है और हवा में उड़ा जा सकता है, तब वैसी ही विलक्षण बातें योगनिरत मानव शरीर के द्वारा होने में आश्चर्य क्या? तीर्थंकर के शरीर के पुद्गल परमाणु भी विशुद्ध दशा को प्राप्त होकर लोकोपकार में कारणभूत बनें तो आश्चर्य क्या? कारबन-पुद्गल-परमाणु विशिष्ट विशुद्धि को पाकर हीरे में परिणत होकर चमकते हैं। अपूर्व ज्योति होती है उनकी! मानव शरीर में भी कारबन मिलता है—शरीरगत वे पुद्गल परमाणु विशुद्ध होकर हीरे से भी अधिक प्रकाशमान होवें तो विस्मय ही क्या? तीर्थंकर शरीर की ज्योति इसीलिए महान् होती है। नियत काल पर तीर्थंकर की धर्मदेशना होती है, जिसे दूर दूर तक हर कोई समझ लेता है। ऐसी ऐसी लोकहित की अपूर्व बातें सुनकर जड़-वादी लोग उसे अतिशयोक्ति मान बैठते हैं। किन्तु यह अध्या-त्मवाद को न जानने का ही परिणाम है। आत्मबल के महत्व को पहिचान न सकने का फल है। आत्मबल के समक्ष सब बल निःसत्व होते हैं। इसका प्रभाव, परन्तु समझते वे ही महाभाग हैं, जो आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को समझ चुके हैं। वह कहने-सुनने की बात नहीं—अनुभवगत वस्तु है। तत्ववेत्ता स्पिनोज़ा (Spinoza) ने ठीक ही कहा है कि To define God is to deny Him अर्थात् परमात्मा की व्याख्या करना उसे अस्वीकार करना है। आज अध्यात्मवाद को समझने

की अत्यन्तावश्यकता है। वह भी एक विज्ञान है और उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण और तर्क से तीर्थंकर की वाणी में हो चुकी है। इसीलिए तो तीर्थंकर महान् है। वह हम-आप जैसे मानव होते हैं। किन्तु अध्यात्मबल का पूर्ण विकास करके महामानव हो जाते है और लोक को-पूर्ण-मुक्त महामानव बनने का मार्ग निर्देश कर जाते हैं। वह तीर्थंकर मानव हैं! मानव का आदर्श मानव ही होता है। तीर्थंकर सब मानव होते हैं। योगसाधना करके वह वाह्य संसर्ग और उपाधि का अन्त करके शुद्ध-बुद्ध हो जाते हैं और मानव शरीर मे ही जीवन्मुक्त परमात्मा होकर चमकते है। भगवान् महावीर भी इसी प्रकार के एक महामानव तीर्थंकर थे—अनेक भवों की निरन्तर साधना से उन्होंने यह महान् पद पाया था। आइये, उनकी पूर्वसाधना का दिग्दर्शन करे।

(४)

साधना के पथ पर!

'काल अनन्त भ्रम्यो जग में, सहिए दुख भारी!
जन्म मरण नित किए पापको हो'अधिकारी॥'

—सामायिकपाठ

संसारी जीव अनन्तकाल से संसार मे जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। शरीर में ममत्व बुद्धि रखने के कारण उसे संसार की चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। भगवान् महावीर का जीव भी अनन्तकाल से संसार में भटक रहा था। एक

जन्म में वह मानव हुआ और हुआ भीलों का सरदार ! शिकार खेलना उसका दैनिक कर्म था—वह हिंसानन्दी था। उसका नाम पुरुरवा था। कालिका उसकी पत्नी थी। एक दिन पति-पत्नी वन-विहार कर रहे थे। पुरुरवा ने पेड़ों के झुरमुट में दो चमकती-सी आँखें देखीं। तीर निकाल कर उसने धनुष पर चढ़ाया। किन्तु कालिका ने रोक दिया। वह बोली, "वहाँ शिकार नहीं, एक वन देवता बैठे हैं।" पुरुरवा अचंभे में पड़ा—वह गया और सचमुच देखा सागरसेन मुनि ध्यान लगाये बैठे हैं। दोनों ने भक्ति से फूल चढ़ाये और बैठ गये। निर्ग्रन्थ योगिराट् ने उनको 'धर्म लाभ' आशीर्वाद दिया। साधु विशेष ज्ञानी थे। उन्होंने जाना भील निकट भव्य है। उसे सभ्य बनाना कठिन नहीं। वह बोले, "भीलराज ! इस मोह में क्यों पड़े हो ? तुम चाहो तो लोक को अपना सेवक बना लो !" भील आश्चर्यचकित हुआ। उसने पूछा, "सो कैसे ?" साधु ने बताया, "कुछ नहीं, ज़रा-सी बात है। अपने को जान लो। विजय तुम्हारी है। तुम इस शरीर को अपना मानते हो, यह भ्रांति है। यह शरीर तो यहीं रह जाता है—मिट्टी में मिल जाता है। इस शरीर-मन्दिर में जो बोलता हुआ हंस है वह उड़ जाता है। वह हंस तुम हो। इसलिए तुम अमर हो। शरीर छूटने पर भी तुम रहोगे। फिर शरीर के मोह में क्यों पड़े हो ?" भीलने सोचा कि 'साधुजी बात तो ठीक कह रहे हैं।' मनोविज्ञानी योगिराट् ने भी भील का मनोगत भाव जांच लिया। उन्होंने आगे कहा, "भाई, यह बात याद रक्खो कि संसार में मनुष्य

जन्म पाना दुर्लभ है। उस दुर्लभ रत्न को पाकर तुम देह की दासता मे अंधे बने रहकर उसका मूल्य नहीं आंकते तो यह मूर्खता है।" भील बोला, "महाराज! मैं किसी का दास नहीं हूँ—भीलों का सरदार हूँ।" उसकी यह बात सुनकर साधु हँस दिये और बोले, "अरे भोले जीव! तू सरदार कहाँ है? दो अंगुल की जीभ ने तुझे अपना दास बना रक्खा है। जीभ के स्वाद के लिये तू दूसरे जीवों के प्राण लेता फिरता है। जीभ के चटखे को तू एक क्षण भी रोक नहीं पाता। उसके हुक्म को तू तत्क्षण मानता है। बता तू दास नहीं है।" भील चुप था। भीलनी ने साहस-से कहा, "यदि खाये नहीं तो भूख से मर जांय।" साधु बोले, "भूख से कोई नहीं मरता और न किसी को मरना चाहिये। किन्तु ध्यान यह रक्खो कि भूख की ज्वाला मिटाने में दूसरे जीवों को कम से कम कष्ट हो। अन्न-जल और फल-फूल खाकर भी मानव जीवित रह सकता है। पशु-हत्या मे हिंसा अधिक है—उससे मानव में पशुता और बर्बरता बढ़ती है। मुझे देखो, मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। दिन में केवल एक बार शुद्ध निरामिष भोजन करता हूँ। स्वयमेव पक कर चुये हुये फलों को खाने में बड़ी निराकुलता और आनन्द है। फिर मैं तो भूख को जीतने के लिये दो-दो महीनों तक भोजन नहीं करता? उपवास और आत्मध्यान में मग्न रहता हूँ। मुझे कोई विकार नहीं सताता। मैं स्वस्थ हूँ। तुम भी ऐसा ही करो!" भील बड़े असमंजस में पड़ कर बोला, "महाराज! मैं तो अपने भील समूह का सरदार हूँ। तब लोक का सरदार

कैसे हो जाऊँगा ?" साधु ने कहा—"भाई ! जब तू अपने को जीतेगा तो लोक को जीतने में तुझे क्या देर लगेगी। मेरे वचनों पर विश्वास ला। तू एक जन्म में अवश्य लोकपूज्य होगा। केवल यह नियम कर ले कि तू जान बूझकर किसी के प्राण न लेगा—शिकार नहीं खेलेगा और शुद्ध भोजन करेगा !" भील-भीलिनी ने साधु महाराज की यह सीख सिर-आँखों पर ली। उन्होंने स्थूल रूप में अहिंसाव्रत को ग्रहण करके उसका खूब पालन किया। अब उनका जीवन बदल गया। वे धर्म के प्रकाश में आ गये—समभावी बन गये। पहले जो जीव उनके पास आते हुये डरते थे, वही अब बेधड़क उनके पास चले आते थे और उन्हें प्यार करते थे। उनके हृदयों मे अमित दया थी। प्रेम था। भगवान् महावीर की जीवात्मा ने आत्मोत्थान की साधना इस भील के भव से ही प्रारम्भ की थी।

भील के जन्म में भगवान् महावीर की आत्मा ने जिस अहिंसा धर्म का बीज अपने हृदय में बोया था, वह कई जन्मों की जय-पराजयों के पश्चात् पूर्ण विकसित और फलित हुआ था। आयु के अंत मे भील का जीव उस नश्वर शरीर को छोड़ कर स्वर्ग में देव हुआ। उस ने दूसरों को सुखी बनाया, इस लिए स्वर्ग का सुख उसे मिला। किन्तु पूर्वसंस्कार के वश वह उस स्वर्गीय जीवन में भी भोगों के आधीन नहीं हुआ, बल्कि धर्माराधना में काल व्यतीत करता रहा। आयु के अन्त में वह जीव भारतवर्ष के आदि चक्रवर्ती भरत का पुत्र हुआ। मरीचि उस का नाम था। अपने बाबा, पहले तीर्थंकर ऋषभदेव के साथ,

वह भी दिगम्बर मुनि होगया, किन्तु वह तपस्वी-जीवन की कठिनाइयों को सहन न कर सका। जंगल में रह कर अपने शरीर को ज्यों-त्यों सरदी-गरमी से बचाता और वनफल खाकर कालक्षेप करता, अपनी शक्ति से अधिक भार उठा कर वह सन्मार्ग से च्युत हुआ। उसने अपना दूसरा ही मार्ग बनाया और एक ऐसे मत का प्रचार किया जो सांख्यमत से मिलता जुलता था। सत्य की ओर वह बढ़ा, किन्तु बीच में वह रुक गया। कायक्लेश का फल उसे अवश्य मिला। वह ब्रह्म स्वर्ग मे देव हुआ! अब वह अहिंसा-संस्कार से दूर भटक गया था—भोगों में मग्न रहा; वहां के भोग भोगकर वह फिर मनुष्य हुआ।

अयोध्या में कपिल ब्राह्मण का पुत्र जटिल हुआ। उसने मिथ्याशास्त्र पढ़े और सन्यासी होगया। तप वह तपता; परन्तु आत्मा के स्वभाव से बेसुध होकर अपने को जाने बिना कोई लोक को क्या जाने? उसकी साधना अपूर्ण थी। वह मरकर फिर देवता हुआ और वहाँ से आकर फिर अयोध्या में भारद्वाज ब्राह्मण का पुत्र पुष्पमित्र हुआ। बाल्यकाल से ही उसे हठयोग साधने की रुचि थी। सन्यासी होकर वह एक बड़ा हठयोगी होगया। हठयोगी की साधनाने उसे शरीर पर अधिकार करना सिखा दिया—लोग उसके चमत्कार देखकर मुग्ध हो जाते थे। किंतु उससे आत्मबोध नहीं हुआ। आयु पूर्ण होने पर वह पुनः स्वर्गलोक का अधिकारी हुआ!

स्वर्ग-सुख भोग कर वह जीवात्मा श्वेतिका नामक नगर में अग्निभति ब्राह्मण का पुत्र अग्निसह हुआ। सन्यास उसका

संस्कार हो गया था—वह फिर सन्यासी वना और उसका मीठा फल उसे स्वर्ग सुख मिला। स्वर्गीय जीवन के भोग भोगकर वह फिर एक वार अग्निमित्र नामक परिव्राजक हुआ और आंशिक साधना ने उसे फिर स्वर्ग-सुख दिये। निस्संदेह छोटा-सा अच्छा बीज भी मीठा-फल देता ही है, किन्तु स्वर्गीय जीवन को अन्तिमध्येय समझना तो अज्ञान है। उसमे मुक्ति नहीं है। स्वर्ग सुख भोग कर वह भारद्वाज नामक त्रिदंडी साधु हुआ। मिथ्या श्रद्धान को वह धो न सका। देवगति के भोगों में वह आसक्त जो हो गया था। इस इन्द्रियासक्ति ने उसे बहुत-सी कुयोनियों में भटकाया। फिर किसी पूर्व संचित शुभ कर्म के प्रभाव से वह मनुष्य हुआ। वह परिव्राजक स्थावर कहलाया। परिव्राजक जीवन में उसने फिर अज्ञान तप किया, आत्मानुभव से वह दूर रहा। तप का फल ऐश्वर्य भोग है। वह देवपर्याय में उसे मिला।

उस समय राजगृह नगर में विश्वभूति नामक जैनी राजा राज्य करता था। पुरुरवा भील का वह जीव जो भ० महावीर हुआ था, उस जन्म में उनका पुत्र विश्वनंदी हुआ। वह बड़ा पराक्रमी था। हरएक का प्यारा था वह। उसका चचेरा भाई विशाखनंदी था। वह विशाखभूति का पुत्र था। विश्वभूति ने राज्यभार विशाखभूति को सौंपकर मुनिव्रत धारण किया था। विश्वनंदि युवराज हुआ। उसने एक सुन्दर उद्यान अपने मनो-विलास के लिये वनवाया और उसमे आनन्द से रह रहा था। अचानक उसे ज्ञात हुआ कि कामरूप का सीमावर्ती राजा विद्रोही

हो गया है। यह पराक्रमी वीर था। चट से सेना लेकर उस विद्रोह को शमन करने के लिये वह कामरूप की सीमा पर चला गया। वीर तो था ही-राजविद्रोही का मानमर्दन करके वह जल्दी ही राजगृह लौट आया। उसने देखा कि उसके उद्यान पर विशाखनंदि ने उसकी अनुमति विना अधिकार कर लिया है। उसकी यह अनधिकार चेष्टाथी। विश्वनंदि इस अन्याय को सहन न कर सका। उसने विशाखनंदिको समझाया, किन्तु हठीला विशाख नहीं माना। दोनों मे युद्ध हुआ—विशाख हार गया और जाकर पिता के पास रोया। इधर विश्वनंदि को भाई की इस कायरता और स्वार्थबुद्धि पर करुणा आई। उसने वह उद्यान विशाख को दे दिया और संसार के वैचित्र्य को देखकर वह साधु हो गया। विशाखभूति ने रोका तो उसने कहा, "तात ! मेरा निश्चय दृढ़ है। मैं नश्वर सम्पत्ति के मोह मे भाई से लड़ा, इसका परिशोध करना है। उद्यान सौन्दर्य क्षणिक है। भाई का सौहार्द्र स्वार्थ से अलिप्त स्थिर नहीं है। आत्मा का सौन्दर्य और सौहार्द्र स्थिर और अपूर्व है। मैं उसके पाने का पराक्रम करूंगा।" विशाखभूति ने भतीजे के त्यागभाव की गहराई को आंक लिया। उसने 'तथाऽस्तु' कहा और स्वयं भी मुनि हो गया। जड़ बुद्धि मे सुख कहां है ? शरीर का बन्धन दुखद ही है। विशाखनंदि राजा हुआ। कायर था, शासन सूत्र संभाल न सका। राजभ्रष्ट होकर वह एक दिन मथुरा के बाजार में एक दुकान पर बैठा हुआ था। साधु विश्वनंदि भिक्षावृत्ति के लिए वहां से निकले। अकस्मात एक बैल ने उनको धक्का दिया। वह गिर पड़े। यह देखकर

विशाखनंदि ने उनका उपहास किया। साधु विश्वनंदि अपने को संभाल न सके-समताभाव को खो बैठे। उन्होंने निदान किया कि दूसरे जन्म में इसको जरूर मजा चखाऊंगा! वैर का खोटा बीज उन्होंने बोया। सन्मार्ग से फिर वह विचलित हुये। उन्होंने ठीक पराक्रम प्रगट किया था. किन्तु त्याग, अहिंसा और सत्य का सुनहरा जीवन उन्होंने वैर-विष की कटु-भावना से दूषित कर लिया। तपस्वी तो थे ही, शरीरान्त पर स्वर्ग मे देवता हुये।

स्वर्ग—सुख भोगकर वह जीव पोदनपुर के राजा प्रजापति का त्रिपृष्ट नामक पुत्र हुआ। वह पहला नारायण था। नरों में श्रेष्ट और मर्यादा धर्म का वह आदर्श निर्माता था। पराक्रमी भी वह अधिक था। उसी समय अश्वग्रीव नामक राजा भी बड़ा प्रतापी था। उसका लोहा सब कोई मानता था। त्रिपृष्ट पर भी उसने शासन चलाना चाहा-उसे वह सहन नहीं हुआ! स्वाधीनवृत्ति जो थी उसकी-फिर था पूर्व संस्कार! वैर का बदला चुकना ही था। अश्वग्रीव विशाखनंदिका जीव था। हठात् दोनों में युद्ध हुआ। युद्ध भी इस लिये कि अश्वग्रीव चाहता था कि स्वयंप्रभा का व्याह त्रिपृष्ट के साथ न हो, पर स्वयंप्रभा व्याही गई त्रिपृष्ट को। स्त्री मोह मे अश्वग्रीव आग बबूला हो गया और युद्ध में खेत रहा! त्रिपृष्ट निष्कण्टक हो राज्य करने लगा। तीन खंड पृथ्वी का वह राजा हुआ। उसके ऐश्वर्य का ठिकाना न था। भौतिक जीवन में वह आगे बढ़ रहा था। विलासिता ऐश्वर्य की छाया है। त्रिपृष्ट भोगों में अंधा हो गया। अपने कर्त्तव्य को वह भूल वैठा और नरकगामी हुआ। करनी का फल जीवों को

भोगना ही पड़ता है। पुरुरवा भील का जीव अच्छी करनी से देव और नारायण हुआ: किन्तु वही विषयासक्त और कर्त्तव्य हीन होकर नरक का अधिकारी बना ! नरक से भी बदतर पशु जीवन उसने पाया। वह दो बार सिंह हुआ। भौतिकता मे पशुता अन्तर्निहित है। जब पशु संस्कार की बहुलता हुई तो जीव को पशुपर्याय मिलना ही थी। भौतिकता परले सिरे की वंचकता ही तो है-अपने आत्मस्वरूप से पूरा दुराव-मायाचारी जो उसमें है !

किन्तु पुरुरवा के जीव ने अहिंसा-संस्कार का बीज अपने अन्तर मे बो लिया था-वह दब जरूर रहा था-बाह्य संसर्ग और मिथ्यादर्शन ने उसे उसकी ओर से बेसुध कर दिया था—वह पराजित हो गया था। किन्तु उसका भविष्य उज्ज्वल था। बाह्य-निमित्त मिलने से जीव की काया पलट होती है-अन्तर में ईश्वरीय जाज्वल्य का प्रकाश जो विद्यमान है। पुरुरवा का जीव सिन्धु नदी के किनारे हिमवत पर्वत की खोह मे सिंह की पर्याय मे रह रहा था। उसकी होनी अच्छी थी-उसे तो तीर्थङ्कर होना था। अजितंजय मुनिराज का संसर्ग उसे मिला। सत्य और अहिंसा के प्रकाश-पुञ्ज थे वह। उनके दिव्य-प्रकाश ने सिंह की पशुता नष्ट कर दी। सिंह ने हिरण का शिकार किया था। अजितंजय बोले, "मृगपति ! तुम अपने को भूल गये। पहले के एक जन्म में मनुष्य होकर तुम पशु बने थे। पुरुरवा तुम्हारा नाम था। तुमने तब हिंसा करना छोड़ा था और स्वर्गों के सुख भोगे थे। किन्तु त्रिपृष्ट के भव मे तुम वासना में बह गये-हिंसा मे सन गये। उसी का दुखद परिणाम यह हिंसक पशुजीवन है। सुख चाहते

हो तो इस हिंसा-कार्य को फिर छोड़ दो। पहले की प्रतिज्ञा को याद करो!

योगिराज अजितंजय की वाणी में जादू था। आत्मा की वाणी को आत्मा क्यों न समझे? सिंह की आत्मा भी दर्शन-ज्ञान-गुणों से ओत-प्रोत थी-अन्तर केवल इतना था कि अज्ञान के कारण वे गुण ढके हुये थे। योगिराज ने उसका परदा हटा दिया, सिंह के जीव को पहले जन्मों की याद आ गई। शिकार से उसे घृणा हो गई-मुनिराज के चरणों में सिर रखकर वह आंसू बहाने लगा। 'पशु मूक हैं'—मानव की यह मान्यता है, परन्तु उनकी अपनी वाणी है, अपनी समझ है। इसे वह भूल जाता है। किसी सरकस के शिक्षक से पूछिये। वह आपको पशुओं के ज्ञान की अद्भुत बातें बतायेगा। उस पर अजितंजय तो महान् योगिराट् थे। उनकी आध्यात्मिकता और अहिंसा संस्कार ने सिंह को ज्ञान नेत्र दिया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या! अजितंजय ने सिंह के भावों को दृढ़ करने के लिये कहा, "पशुपति! घबराओ नहीं! तुम्हारी आत्मा अनन्त ज्ञानवान और शक्तिशाली है। ठीक दिशा में चलो, अहिंसा को पालो, तुम्हारा उद्धार होगा। मैंने तीर्थंकर श्रीधर के मुखारविन्द से सुना है कि तुम्हारा जीव दशवें जन्म में भरत क्षेत्र का अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर वर्द्धमान होगा। तीर्थङ्कर भगवान् के वचन पर श्रद्धा करो, तुम्हारा भला होगा। मुनिराट् यह कहकर अन्तर्धान हो गये। सिंह संयमी जीवन बिताने लगा। समता भाव से प्राण विसर्जन करके उसका जीव सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।

पशु-पर्याय मे उसने अहिंसा का व्रत ग्रहण करके मानों उसने जीव मात्र की रक्षा की, उनको अभय कराने का दृढ़ संकल्प किया था। उस संकल्प को वह महावीर के जीवन में पूर्ण कर सका था।

सिंह का जीव स्वर्ग में हरिध्वज नामका देव हुआ था। धर्म का फल ऐश्वर्य होता देखकर वह धर्म-पुरुषार्थ में लीन हुआ। जिन चैत्यालयों की वह नित्य प्रति वन्दना करता। एक दिन उसे अपने गुरू मिल गये। वह विनीत हो बोला, "गुरुवर्य्य! आपके धर्मोपदेश-प्रसाद को पाकर मैं कृतकृत्य हुआ और स्वर्ग सुख भोग रहा हूं। मैं आपका उपकार और आपकी शिक्षा भूल नहीं सकता।" गुरू ने "धर्मवृद्धि" रूप आशीर्वाद देकर उसकी श्रद्धा को और भी दृढ़ कर दिया। हरिध्वज देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति में सुख अनुभव करता था। उसका आत्मोत्कर्ष हुआ। आयु के अन्त में समभावों से उसने प्राण विसर्जन किये। वह कनकध्वज नामक विद्याधर नरेश हुये। राजत्व का सुख भोग कर वह सुमति स्वामी मुनिराज से दीक्षित हुये और तपश्चरण करके स्वर्ग में पहुँचे। देव पर्याय को धर्म का फल जानकर वह जिनेन्द्र भक्ति में लीन हुये। उन्हें विश्वास था कि "ठीक से छाये गये घर में जिस प्रकार वर्षा का जल नहीं घुसता, वैसे ही जिनेन्द्र भक्ति से ओत-प्रोत हृदय में पाप-वृष्टि नहीं घुस पाती।" इस श्रद्धा को लेकर वह आध्यात्मिक उन्नति में बढ़ता गया।

स्वर्ग से आकर वह उज्जयनी नगरी में हरिषेण राजा हुआ।

राज्य लक्ष्मी को भोगते हुये भी वह व्रतों को पालता था। जीव के संस्कार जैसे पड़ जाते हैं, वैसा ही जीवन व्यवहार स्वतः बनता ही जाता है। धर्म का बीज अंकुरित होने पर बढ़ता ही है। हरिषेण के भव में भ० महावीर के जीव ने धर्म भाव को उत्तरोत्तर बढ़ाया। दान देते और पूजा करते हुये वह आनन्द अनुभव करता। सचमुच "मैं धर्म कार्य कर रहा हूँ।" यह भाव ही सुखदायक है, यहां भी और दूसरे भव में भी। किन्तु अन्तर्दृष्टा-जीव इस पुण्य कार्य से ही संतुष्ट नहीं होता। भक्ति को वह अपनी साधना की एक मंजिल मानता है और उसको पाकर आगे बढ़ता है। हरिषेण का जीव तत्वदृष्टि पा गया था। वह आगे बढ़ा, मुनि हुआ। तप किया और समाधि से फिर स्वर्ग सुख पा गया। वहां भी वह धर्म की आराधना करता रहा।

धर्म पुरुषार्थ से ऐश्वर्य की प्राप्ति होना अवश्यम्भावी है। उस ऐश्वर्य को पाकर भी जब जीव वासना को जीतता है—इन्द्रियों का दास नहीं होता, तभी वह महान् होता है। महावीर प्रभु के जीव ने इस परीक्षा में भी अपने को सफल सिद्ध किया। उनको चक्रवर्ती का ऐश्वर्य मिला। भौतिक उन्नति की चरम सीमा पर वह पहुंच गये। प्रियमित्र चक्रवर्ती थे वह, किन्तु इस भौतिक उत्कर्ष में भी उनका ज्ञाननेत्र प्रकाशमान था। राजत्व और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर वह पहुँचे। शरीर बल और लोक प्रभुता की परमोत्कृष्ट स्थिति में थे वह, किन्तु प्रियमित्र उससे प्रभावित नहीं हुये, वासना में वह नहीं

बहे, घमंड मे वह अंधे नहीं हुये। उन्होंने सिद्ध कर दिया 'अधिकार पाय काहि मद नाहिं' की उक्ति अज्ञजनों के लिए है। विचक्षण राजत्व को चार दिन की चांदनी—भर जानते हैं। प्रियमित्र यह मानकर आत्मोत्कर्ष के कार्य करने पर तुल पड़े। उन्होने जिनेन्द्र भक्ति से प्रेरित हो 'इन्द्रध्वज-मह' (यज्ञ) नामक विशेष पूजा रची और लोगों को किमिच्छित दान दिया। उनका यश लोक में फैल गया। वह महान् लोकोपकारी जो थे। साधना की पहली सीढ़ियों को पूरा कर आये। धन का निस्सार रूप उन्होंने पहचान लिया, वह सम्पत्ति नहीं है, सम्पत्ति तो समुचित 'श्रम' है। श्रम न हो तो सम्पत्ति भी न हो। श्रम से महान् सम्पत्ति मिलती है। श्रमण-साधु श्रम से ही मोक्ष-लक्ष्मी को पाता है। अतः सत-श्रम ही उपादेय है। यह सोचकर प्रियमित्र एक दिन श्री क्षेमङ्कर तीर्थङ्कर के समवशरण में पहुंचा। उनसे धर्मोपदेश सुना। उसके अन्तर मे आत्मा का प्रकाश चमक उठा। चक्रवर्ती का ऐश्वर्य उसके सम्मुख फीका जंचा। वह उसे काटने को दौड़ा। अपने पुत्र को राज्य देकर वह श्रमण (मुनि) हो गये। तीर्थङ्कर के पाद-मूल में धर्म की आराधना करने मे वह तन्मय हो गए। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी गुरू को उन्होंने पाया। केवल ज्ञान के उन्होंने साक्षात् दर्शन किये। आत्मा की अनन्त शक्ति में उनको दृढ़ श्रद्धा हुई। आर्य-सत्य को पाने के लिये वह सत्-श्रम करने में लग गये; क्योंकि उनको विश्वास था कि श्रम वही सराहनीय और उपादेय है जिसके

करने से अपने आत्मिक गुणों का विकास हो, और वही श्रम अक्षयबल है जिससे आत्म-विभूति की उपलब्धि हो। क्षुद्र स्वार्थ के लिए किया गया श्रम प्रशस्त नहीं है क्योंकि उसमें हिंसा की कालिमा छिपी हुई है। चञ्चला लक्ष्मी के लिए श्रम करना कुछ महत्व नहीं रखता। व्यवहार विनिमय के साधन स्वरूप लक्ष्मी द्वारा अपना भौतिक एवं लौकिक स्वार्थ साधकर व्यक्ति सुख-सा समझता है परन्तु उसे सन्तोष नहीं होता। अच्छा भोजन और अच्छा वस्त्र पाने के लिए व्यक्ति झगड़ता है और भूल जाता है कि यह पशुवृत्ति है। क्या मानव को पशु बनना है? नहीं, कदापि नहीं। प्रिय मित्र ने श्रमण पद लेकर इस सत्य को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने वस्त्र का बन्धन ही न रखा, और भूख को जीतने के लिए वह तपस्या करने लगे। आगे बढ़ते हुये सोलह कारण भावनाओं का मूर्तमान चित्र उन्होंने अपने हृदय में अंकित किया। सचमुच धर्ममूर्त प्रियमित्र महाभाग थे—राजचक्रिवर्तित्व के पद को उन्होंने ठुकराया था। अतः धर्मचक्रवर्ती का महान् पद मिलना उनके लिये अनिवार्य था। सोलह कारण भावनाओं को अपनी जीवनचर्या में मूर्तमान बनाकर उन्होंने तीर्थंकर-कर्म-प्रकृति का बन्ध किया था। समभावों से शरीर त्याग कर वह सहस्रार स्वर्ग में देव हुये। साधना की चरम स्थिति में वह पहुँच चुके थे। वहां से च्युत हुये, तो नन्दनवर्द्धन नाम के राजा हुये। मुनिव्रत धारे और समाधि से प्राणोत्सर्ग करके वह पुष्पोत्तर विमान में देव हुये। यहां से च्युत होकर वह जीव तीर्थंकर महावीर नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आत्मोन्नति के जीवन पथ में उनके जीव ने उन्नति अवनति के झकोरे सहे। आखिर वह सम्यक् पथ के पथिक बने। शारीरिक पूर्णता के साथ वह आध्यात्मिक उन्नति करनेमे सफल हुए। पर्वत की शिखिर पर चढ़नेके लिये कदम-ब-कदम ऊपर चलना होता है। परमोत्कृष्ट मोक्षधाम भी इसी क्रम से पहुँचा जा सकता है। आत्म-पराक्रम प्रगट करके जीव शुद्ध बुद्ध बनता है। भ० महावीर के जीव ने उसको पानेके लिये एक दर्जन से भी अधिक पूर्वजन्मों मे पराक्रम किया था। सर्वज्ञ तीर्थङ्कर के पाद-पद्म मे उनकी आत्मा ऐसी ज्ञान-सुरभित हुई कि अन्ततः वह भी ठीक वैसी ही चमकी! महान् पद के लिये महान् उद्योग करना स्वाभाविक है। कहां शिकारी पुरुरवा भील और कहां तीर्थङ्कर महावीर ? आत्मा की अनन्त अचिन्त्य शक्ति है।

तत्कालीन परिस्थिति

"अतिशय देख धर्म की हानी, परम सभीत धरा अकुलानी।"

जल घटिका भर चुकी थी। वह झट-से तली में बैठ गई सजग प्रहरी ने घंटा बजाया। लोगों को सचेत कर दिया। घटिका को खाली करके पानी की सतह पर तैरा दिया। यह कार्यक्रम हमेशा इसी प्रकार चलता है। संसार में नित्य नये परिवर्तन होते, इसी क्रम से देखे जाते हैं। अधुना भारतक्षेत्र में अवसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है। यह दुखमा काल है। सब ही जीव इसमें क्रमश उत्तरोत्तर दुखी जीवन बितायेंगे। किन्तु भगवान् महावीर के जन्म समय यहाँ चौथे दुखमा-सुखमा-काल का अन्तिम पाद था। लोगों को दुख के साथ सुख भी भोगने को मिल जाता था। समयानुसार महापुरुषों का जन्म होता था—वे बिगड़ी को बना लेते थे। मनुष्यों की दुरवस्था को मिटा देते थे। यद्यपि सारा संसार एक दम धर्मात्मा नहीं होता, परन्तु इस में धर्मात्माओं का बाहुल्य और पापात्माओं का अल्पत्व होता है। यही स्वर्णकाल है। भगवान् महावीर के जन्म समय भारत इस स्वर्णकाल की प्रतीक्षा कर रहा था।

मनुष्यों के तत्कालीन कृत्यों से ही देश-दशा में परिवर्तन होते हैं। यदि मनुष्यों के कर्म शुभ होते हैं तो उनकी दशा उत्तम होती है। और यदि मनुष्य बुरे कर्म करने में फंस जाते हैं

तो उनकी दशा अधम और शोचनीय होती है। समाज मनुष्यों से ही बना है। अच्छे-बुरे मनुष्यों की संख्या और तारतम्य के अनुसार ही समाज की स्थिति बदलती रहती है—उसकी आवश्यकतायें घटती-बढ़ती और नई-नई होती रहती है-मनुष्यों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार नये नये विचार उत्पन्न होते रहते हैं। मनुष्य उन्हींके अनुकूल अपने सिद्धांत भी गढ़ लेते हैं। परन्तु वह उस हद तकही मान्य और स्थायी होते हैं जितने अंश में उनमे सत्य होता है। इस युग की आदि मे ऋषभदेव नामक प्रथम तीर्थङ्कर ने मनुष्यों को समाज शास्त्र, राजनीति और धर्मतत्व का यथार्थ पाठ पढ़ाया था; परन्तु उसी समय भ० महावीर के जोव मरीचिने अहङ्कार के वश में होकर मिथ्या मार्ग का भी उपदेश दिया था। मतभेद स्वाभाविक है, परन्तु उसमे हठ और पक्षपात का होना भयङ्कर है। लोक मे हठीले और पक्षपाती मिथ्यादृष्टियों की कभी भी कमी नहीं रही है। अतः कभी ऐसी दुरूह स्थिति उपस्थित होती है कि उसका सामञ्जस्य नहीं होता। वह एक ऐसी समस्या बनती है कि जिसका उत्तर नहीं मिलता। परिणामतः मनुष्य समाज मे अशान्ति और असन्तोष फैल जाता है-लोगोंको धर्म सिद्धान्तों मे विश्वास नहीं रहता और यदि कहीं रहता भी है तो अंध श्रद्धा के रूप में! चहुँओर अविवेक का अंधकार छा जाता है। विवेक रूपी प्रकाशसे उसका संघर्ष होता है। समय की इस अवस्था के अनुकूल महान् आत्माऐं अवतरित होती हैं। वह समाज की गंभीर और विच्छिन्न स्थिति को सुधार देती हैं और समाज को सन्मार्ग पर ले आती हैं।

ईस्वी सन् से पहले पाचवीं और छठवीं शताब्दियां मानव जाति के इतिहासमें अपूर्व थीं। वह क्रान्तिमय काल था। उसका प्रभाव स्थायी और चिरस्मरणीय था। सारे लोक में उस समय हलचल मची थी। प्रचलित सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक मान्यताओं के विरोध में मानवों ने आवाज उठाई थी। भारत उससे अछूता नहीं था। किन्तु सौभाग्यवश यहीं पर सर्वज्ञ तीर्थङ्कर महावीर का जन्म हुआ, जिन्होंने लोक को सत्य के दर्शन कराये और उसे सुख एवं शान्ति प्रदान की! तूफान के वाद जैसे समुद्र शान्त और गम्भीर हो जाता है, वैसे ही भ० महावीर के सत्योपदेश से लोक सन्तुष्ट हुआ था! प्यासे को जल और भूखे को भोजन जैसे तृप्त करता है, वैसे ही मिथ्या अंधदृष्टि के लिये ज्ञान ज्योति तृप्ति का कारण है।

भ० महावीर के शुभागमन के पहले से ही भारतवर्ष की दशा जटिल और मार्मिक बनी हुई थी। यहाँ के मनुष्यों पर अर्थ संकट उतना भयङ्कर नहीं था, जितना कि समाज और धर्म का संकट विकट था। उनके कारण राजनीति भी परिवर्तन से अछूती नहीं रही थी। अतः उस क्रान्तिमय स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना, भगवान् महावीर के लोकोद्धारक कार्य का महत्व समझने के लिये आवश्यक है। आइये पाठक उसको देखिये।

आर्थिक स्थिति—तब भारतमे अर्थ संकट नहीं था। अब से तब का भारत लाख दर्जे अच्छा था। आजकल जैसा दारिद्रय और दुष्काल तब कहीं दिखाई नहीं पड़ता था। सदा-

सवदा सुकाल सब ओर दीखता था। जैन कथाओं मे उस समय की समृद्धि और अर्थ सम्पन्नता का चित्रण हुआ मिलता है। मनुष्यों को भोजन-वस्त्र की कमी नाम को नहीं थी। दास और दासी के अतिरिक्त कोई मजदूरी नहीं करता था—मजदूरी भी पैसों के लिये नहीं की जाती थी—सुखी और स्वाधीन जीवन विताने के लिये मजदूरी की जाती थी। श्रमी मालिक के घर का एक अङ्ग बन जाता था। चंदना को कौशाम्बी के सेठ अपने घर ले गये—घर में पहले वह ऐसे रही मानो उस घर मे ही जन्मी हो या उससे सम्बन्धित हो। परन्तु दास-दासियों पर कभी कभी घोर अत्याचार भी हो जाते थे। उनका मानवी जीवन दूसरों की दया पर निर्भर था। कृषि और वाणिज्य ही लोगों का मुख्य व्यवसाय था, पर शिल्पका अभाव नहीं था। गांव-गांव में विविध प्रकार के कलाकार रहते थे। प्रत्येक ग्राम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे स्वयं समर्थ था। खेती से अन्न, कर्घे से वस्त्र, पशुधन से दूध-घी और अवशेष वस्तुयें उन्हें अन्य शिल्पियों से मिलतीं थीं। लोग भरे पूरे चैन से रहते थे। व्यापारी लोग दूर-दूर देशों से व्यापार करते थे। देश की आवश्यकतानुसार चीजें लाते और ले जाते थे। मिश्र, यूनान चीन, फारस, लंका आदि देशों से व्यापार किया जाता था। उस समय के सिक्के भी मिले हैं। व्यापारिक आदान-प्रदान सिक्कों से नकद होता था। उस समय लोग गांवों मे ही अधिक रहते थे। नगरों की संख्या गिनी चुनी थी। नगर समृद्धिशाली और समुन्नत नागरिक जीवन की साक्षी देते थे। उनमें तड़ाग-

वापी-स्नानागार-सभागृह-नाट्यशाला आदि आमोद-प्रमोद की सामग्री का बाहुल्य था। मकान और महल अच्छी कारीगरी के दो-दो तीन-तीन मंजिलों के बनते थे। चोरी बहुत कम होती थी।

सामाजिक स्थिति—उस समय समाज में शिक्षा का प्रचार पर्याप्त था। उपाध्यायमहाराज ब्रह्मचर्याश्रम मे रख कर बालक-बालिकाओं को धार्मिक और लौकिक शिक्षा दिया करते थे। जम्बूकुमार यद्यपि एक करोड़पति सेठ के पुत्र थे, परन्तु वह विद्याध्ययन के लिये उपाध्याय महाराज के निकट गुरुकुल में रहे थे। ग्रामीण सीधा-सादा जीवन विताते थे, परन्तु नगरों में विलासिता बढ़ी हुई थी। युवक-युवतियाँ प्रेमालाप करतीं थीं। परिणाम स्वरूप गंधर्व विवाह भी होते थे। कामुकता की मात्रा समाज में सीमा को उलंघन कर गई थी। चन्दना का उदाहरण इसका प्रमाण है। महलों में झूलती हुई राजकुमारी को एक कामुक विद्याधर उड़ा ले जाता है। जब चन्दना के दृढ़चरित्र के सन्मुख वह हताश होता है, तो उसे एक अटवी में छोड़ देता है। वहाँ का सरदार उसे पाकर वासनामें थिरकता है, परन्तु चन्दना अपना शीलधर्म वहाँ भी 'अक्षुण्ण रखती है। स्त्रीत्व की हीनता और नैतिक मर्यादा की क्षीणता की पराकाष्ठा तो उस समय दीखती है जबकि चौराहे पर खड़ा करके चन्दना का मूल्य लगाया जाता है। वेश्यायें और कामुक पुरुष कितना वीभत्स हासपरिहास करते हैं। महान् असह्य था वह दृश्य! एक सभ्य सेठ उस

सुसंस्कृत ललना की यह दुर्दशा न देख सके। उन्होंने उसकी रक्षा की। अर्थ सम्पन्नता और विलास गलबहियां डालकर चलते हैं। अर्थ सम्पन्न पुरुष विलासी न बने तो देवता है और विलासिता का व्यतिक्रम न करे—संयमसे भोग भोगे तो मनुष्य है। किन्तु जहाँ विलासिता ही जीवन का अन्तिम ध्येय बना हो, वहाँ मानवता नहीं ठहर सकती! भ० महावीर के जन्म से पहले भारत की यही दशा थी। एक बौद्ध ग्रन्थ बताता है कि राजगृह के राज कोषाध्यक्षकी कन्या एक डाकू पर मोहित हो गई। स्पष्ट शब्दों में उसने अपनी प्रेमवार्ता माता-पिता से कही। माता-पिता ने लाख समझाया, परन्तु प्रेम तो अंधा होता है। हठात् डाकू के साथ उसका व्याह कर दिया गया। थोड़े ही दिनों में कन्या ने अपनी गलती पहचानी। उसने जाना कि उसका पति रूप का गाहक नहीं है—वह धन का लोभी है। फलतः दाम्पत्य जीवन नष्ट हुआ। दोनों एक दूसरे के प्राणों के ग्राहक बने। स्त्री की मायाचारी सफल हुई। डाकू अकाल काल कवलित हुआ। परन्तु हत्यारी कामुक कन्या को कौन स्थान देता? वह संसार से भयभीत हुई भागी और एक साध्वी बन गई। धर्म-संघ ही उस जैसी पतिता के लिये शरणभूत था। ऐसे उदाहरण और भी मिलते हैं, परन्तु च्यवन किये हुये को च्यवन करना व्यर्थ है। तब तो वनवासीवानप्रस्थी भी पत्नी के बिना योग साधना नहीं कर सकते थे। सचमुच तब शीलधर्म की मनमानी छीछालेदर हो रही थी। विवाह सम्बंधों पर प्रतिबंध आजकल जैसा जटिल नहीं था। जाति व्यवस्था भी

आजकल जैसी जटिल और संकीर्ण नहीं थी। मुख्यतः चार जातियाँ थीं। उनमें प्रधान पद क्षत्रियों को प्राप्त था। ब्राह्मणों का आदर उनके जैसा नहीं था। वैश्य अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुये थे। देश की समृद्धिशालीनता अधिकांशतः उनकी ऋणी थी। शूद्र अनादर के पात्र थे। ब्राह्मणों की हेयदशा का कारण उनका क्रियाकांड और जातिमद था। क्षत्रिय-धर्म मार्ग में उनसे बढ़े चढ़े थे। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म इन्हीं में से हुआ था। उनके उपदेश ने लोगों को सचेत कर दिया था। वह क्रियाकाण्ड को निस्सार जानते और नये २ मत चलाते थे। क्षत्रिय और ब्राह्मण गुरुओं में प्रायः संघर्ष होता था।

धार्मिक स्थिति—इस संघर्ष में धर्म की बुरी दशा थी। धार्मिक अराजकता चहुँओर फैली हुई थी। एक नहीं बल्कि अनेक—संभवतः तीनसौ त्रेसठ मतमतान्तर प्रचलित थे। लोग हैरान थे—अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए ज्ञान ज्योति पाने के लिए लालायित थे। दो विभिन्न विचार धारायें बह रही थीं (१) श्रमण परम्परा और (२) ब्राह्मण परम्परा। श्रमण परम्परा को राज्याश्रय मिला था। अधिकांश क्षत्रिय इन श्रमणों को अपनाते थे। आजीवक, अचेलक (प्राचीन जैन) बौद्ध आदि संप्रदाय इनमें मुख्य थे। जैन श्रमण परम्परा क्षीणधारा में चली आ रही थी। श्रमणगण अन्तिम तीर्थङ्कर की प्रतीक्षा में थे। इस लिये विशेष प्रख्यात धर्म प्रवर्तक अपने को तीर्थङ्कर घोषित करने का मोह संवरण नहीं कर सके थे। किन्तु काठ की हंडिया एक दफा ही चढ़ती है। आखिर उनका पतन

अवश्यम्भावी था। बौद्धों ने सामान्यतः इन सब का और विशेषतः जैनों का उल्लेख 'तीर्थक' (तित्थिय) नाम से किया है। इनमे (१) पूर्ण काश्यप, (२) मस्करि गोशालिपुत्र (मङ्खलि गोशाल), (३) संजय वैरत्थिपुत्र, (४) अजित केशकम्बलि, (५) और पकुड़ कात्यायन एवं (६) शाक्यपुत्र गौतमबुद्ध प्रमुख मत प्रवर्तक थे। यद्यपि इनके सिद्धान्त प्रायः लचर थे, परन्तु उस क्रांतिमय काल में जो भी व्यक्ति ब्राह्मणवाद के विरुद्ध खड़ा होता था, लोग उसी को अपना लेते थे। पूर्ण काश्यप एक दिगम्बर साधु था। दिगम्बर वह इस लिए रहता था कि नग्न भेष में उसकी मान्यता अधिक होगी।[१] उसका मत था कि "मनुष्य जो कार्य स्वयं करता है अथवा दूसरे से करवाता है, वह उसकी आत्मा नहीं करती है और न करवाती है। (एवम् अकार्य अप्पा)"[२] वह अक्रियावादी था। सम्भवतः काश्यप ने भ० पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित निश्चय धर्म का अवलम्बन लिया। उसने व्यवहार को उठाकर ताक में रख दिया! निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा न कर्त्ता है, न भोक्ता है, वह शुद्ध बुद्ध है। परन्तु संसार में वह शरीर बन्धन में है; इस लिए निश्चय एकान्त उपादेय नहीं है।

मङ्खलि गोशाल भी पूर्ण काश्यप की तरह दिगम्बर भेष में रहता था। श्री देवसेनाचार्य ने लिखा है कि पूर्ण और

---

१. इंडियन ऐंटीक्वेरी, भा० ६ पृ० १६२

२. सूत्रकृताङ्ग १। १। १३ व हिग्बी, पृ० ३१

मस्करि, दोनो ही श्री पार्श्वनाथ जी की शिष्य परम्परा के मुनि थे, जो भृष्ट हो गये थे।१ श्वेताम्बरीय शास्त्रों मे मङ्खलि पुत्र गोशाल को स्वय भ० महावीर का शिष्य उनकी छद्मस्थ अवस्था का वतलाया है।२ उस साधना काल मे तीर्थङ्कर भगवान् मौन से रहे थे।३ वह गोशाल को शिष्यत्व कैसे देते, जब कि वे स्वयं गुरुपद को प्राप्त नहीं हुये थे। किन्तु इसमे शक नहीं कि पूर्ण काश्यप और मस्करि गोशाल प्राचीन जैन धर्म, भ० महावीर से पहले के जैन धर्म से सम्बन्धित अवश्य थे। ४ इन दोनों मतप्रवर्तकों का आपस मे गहन सम्बन्ध था और गोशाल ने जैनियों के 'पूर्वगत' ग्रन्थों के आधार से अपने मत के सिद्धान्तों को नियत किया था। जब भ० महावीर सर्वज्ञ तीर्थङ्कर हो गये और उनके गणधर नवदीक्षित ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम हुए, तब गोशाल यह सहन न कर

---

१ "मसयरि-पूरण रिसिणो उप्पणो पासणाह तित्थम्मि।
सिरि वीर समवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण ॥ १७६ ॥

× × × ×

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
दवो अत्थि कोई सुण्ण झाएह इच्छाए ॥ १७६ ॥" भावसंग्रह

२. भगवती सूत्र १५.

३. स्वयं श्वेताम्बरीय मान्यता है कि छद्मस्थ दशा में तीर्थङ्कर मौन से रहते हैं—उपदेश नहीं देते। देखो आचाराङ्ग सूत्र (SBE) पृष्ठ ८०—८७।

४. हमारा "संक्षिप्त जैन इतिहास" भाग २ खंड १ पृ० ६२–७२ देखो।

सके। वह पुराने दिगम्बर मुनि थे। जैनियों के पुरातन ग्यारह अङ्ग और कुछ पूर्वगत शास्त्रो को जानते थे; फिर भी उन्हें गणधर का पद नहीं मिला। वह रुष्ट हुए श्रावस्ती आये और अपने को तीर्थङ्कर बतला कर लोगों को उपदेश देने लगे कि "ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। ज्ञानी और अज्ञानी ससार मे नियत काल तक परिभ्रमण करते हुए समान रीति से दुख का अन्त करते है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। इस लिये स्वेच्छा पूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिए।" १ लोगों ने गोशाल की यह नई बात ध्यान से सुनी और उसके अनुयायी भी हो गये, किन्तु तीर्थङ्कर महावीर रूपी ज्ञान सूर्योदय होते ही, वह हतप्रभ हो गया। गोशाल को अपनी करनी पर पश्चाताप हुआ और वह बुद्धि भृष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके आजीवक मत की गणना अज्ञानमत मे की गई है।२

संजय वैरत्थिपुत्र प्रसिद्ध बौद्ध गुरु मोग्गलान (मौद्गलायन) और सारिपुत्त का गुरू था।३ मोग्गलान और सारिपुत्त उपरान्त बौद्धधर्म मे दीक्षित हुये थे। मोद्गलन अथवा मौद्गलायन के विषय मे श्री अमितगति आचार्य ने लिखा है कि "श्री पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने वीरनाथ से रुष्ट होकर बुद्ध दर्शन को प्रगति दी और शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध को परमात्मा कहा।"४ अत मौद्गलायन

१. 'दर्शनसार'—'गोम्मटसार जीवकाण्ड'—व हिग्लो० पृ० ३१ देखो
२. संजैई०, भा० २ खड १ पृ० ७२
३. महावग्ग १। २३ २४ ४. धर्म परीक्षा श्लो० ६/७

प्राचीन दिगम्बर मुनि थे—इनके गुरु संजय भी दिगम्बर मुनि प्रतीत होते हैं। जैन शास्त्रों में संजय नामक मुनि का उल्लेख मिलता है, जिन्हें जिनमार्ग में शङ्कायें थीं।[१] संजय की शिक्षा जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त का विकृत-सा रूप दिखती है। संभव है, वह स्वयं जैन मुनि रहा हो और स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी शैली से करता रहा हो! उपरान्त भ० महावीर के दर्शन से उसकी शङ्का हल हो गई तब वह उनकी शरण में आया हो। अन्यत्र कहीं उसका पता नहीं चलता।

चौथे मत प्रवर्तक अजितकेशकम्बलि वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे। वह पुनर्जन्म सिद्धान्त को नहीं मानते थे। जीव और शरीर को एक बतलाते थे। ('तं जीवोतं शरीरम्')[२] प्राणि हिंसा करना उनके निकट कोई दुष्कर्म न था।[३] चार्वाकमत की सृष्टि अजित के मतानुकूल हुई हो तो आश्चर्य ही क्या? संभव है, अजित ने भ० पार्श्वनाथ के व्यवहार धर्म को ठीक नहीं समझा और वह पथभ्रष्ट हुआ!

पकुडकात्यायन पांचवें मत प्रवर्तक थे। उनका मत था कि 'असत् का सद्भाव संभव नहीं है और सत् का नाश अशक्य है।' (सत्तो नत्थि विनसो, असत्तो नत्थि संभवो) सात शाश्वत तत्व हैं। (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु,

१. ममबु०, पृ० २२-२३ देखो।
२. हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स, पृ० ३९
३. जैन सूत्र (SBE) भा० २ भूमिका पृ० २३
४. पूर्व प्रमाण, पृष्ठ २१

(५) सुख, (६) दुख, (७) और आत्मा। इन सातों के सम्मेलन और विछोह से जीवन व्यवहार है। सम्मिलन सुख से और विछोह दुख से होता है। इस लिए किसी व्यक्ति को किसी अन्य से कोई हानि नहीं पहुँच सकती! वह शीत जल में जीव मानता था।

इस प्रकार यह श्रमण लोग भ० पार्श्वनाथ के मतानुकूल चली आई हुई प्राचीन जैन श्रमण परम्परा से प्रभावित हुए अपने मनोनुकूल सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से एक क्रान्ति उपस्थित हुई थी, जिसके प्रभाव से यह मतप्रवर्तक अपने को अछूता नहीं रख सके थे। एक ही मत में हिंसक और अहिंसक अनुयायी मिलते थे। आजीविकों में ऐसे दो पक्ष मौजूद थे १। पूर्ण कश्यप जीव हिंसा में पुण्य-पाप नहीं मानता था। पकुड़ का भी यही हाल था। अजित यद्यपि यज्ञ-याज्ञ वैदिक क्रियाओं का विरोधी था, परन्तु हिंसा को उचित मानता था। इन लोगों का नैतिक बल इतना शक्तिशाली नहीं था कि जनता को मांस-मदिरा की लिप्सा से बचा लेता। म० गौतम बुद्ध भी सर्वथा मांस भोजन का निषेध नहीं कर सके थे! ऐसे तापस भी मौजूद थे; जो वर्ष भर के लिये एक हाथी को मार कर रख लेते थे२। जैनधर्म

---

१ 'लोम हस जातक' में आजीविकों का भोजन मछली-गोमयादि लिखा है (महा विकट भोजवो अहोसि मच्छगोमयादीनि परिभुञ्जि) परन्तु 'महासीहनाद सुत्त' में उनको वनस्पति भोजी लिखा हैं।

२—सूत्र कृताङ्ग २।४।४२ (SBE) भा० पृ०४१८।

की अहिंसा का क्षीण प्रभाव उन्हे नियमित जीवो की हिंसा करने की सीमित पाप-मर्यादा में ले आया था, परन्तु इन्द्रिय-लिप्सा पर विजय पाना सुगम नहीं है।

दूसरी ओर ब्राह्मण-परम्परा वैदिक मान्यताओं की रक्षा के लिये उद्योगशील थी। उनमे भी दो धारायें चल रही थीं। 'प्रश्नोपनिषद्' के अधिष्ठाता पिप्पलाद, 'मुण्डकोपनिषद्' के रचयिता भारद्वाज, 'कठोपनिषद' के प्रचारक नचिकेतस् प्रभृति ऋषियों ने वैदिक क्रियाकांड मे यद्यपि ऐसा सुधार किया था जो ज्ञानयज्ञ, अहिंसा और सैद्धान्तिक प्रौढ़ता का पोषक था,[१] परन्तु पुरातन ब्राह्मण-परम्परा हिंसा-पूर्ण यज्ञ-याज्ञ आदि करने में ही मग्न थी! वर्णाश्रम धर्म का मनमाना अर्थ करके ब्राह्मण ब्राह्मणेतर वर्णों पर घोर अत्याचार कर रहे थे। शूद्र और स्त्रियाँ तो मनुष्य ही नहीं समझे जाते थे। जैन एवं बौद्ध ग्रन्थो मे ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जिनमे जात्याभिमान के घातक परिणाम चित्रित हैं। "चित्तसभूत जातक" से स्पष्ट है कि चांडालो को रास्ता निकलना भी दुश्वार था। एक दफा ब्राह्मण और वैश्य स्त्रियों को दो चाडाल रास्ता जाते मिले। स्त्रियों ने इसे अपशकुन माना—अपनी आंखों को जल से धोकर शुद्ध किया और उन चांडालों को खूब पिटवा कर उनकी दुर्गति की। जैन ग्रन्थों में अभयकुमार के पूर्वभव वर्णन में जाति मद की भयंकरता और साथ ही निस्सारता चित्रित की गई है[२]। शूद्रों

---

१. हमारा "भगधान पार्श्वनाथ" पृष्ठ २८८-२०२।
२. हमारा 'भगवान् पार्श्वनाथ' पृष्ठ ६९-७२

को वेद मंत्र सुनने का अधिकार नहीं था—स्त्रियां वेद पाठ नहीं कर सकतीं थीं। वह मात्र भोग-विलास की वस्तु समझीं जातीं थीं। आजीविक साधु व्यभिचार करना बरा नहीं समझते थे[1] और ब्राह्मण ऋषिगण अपनी वासना पूर्ति के लिये कई पत्निया रखते थे[2]। ऐसे वासनामय काल और क्षेत्र मे भला अहिंसा और शील धर्म की पूछ कहां हो सकती थी?

पशु यज्ञ की पराकाष्ठा वासना तृप्ति का साधन बना हुआ था। निर्दोष, दीन, असहाय पशुओं के रक्त से यज्ञ की वेदी लाल २ हो रही थी। पशु की वलि देकर यह लोग समझते थे कि देवता प्रसन्न हो गये है और वे यजमान की मनोकामना पूर्ण करेंगे; परन्तु ऐसा होता कहीं नहीं था। हा, पुरोहित समुदाय को दान दक्षिणा इसमे खूब मिलती थी। इस भयानक हिंसा प्रवृत्ति ने उस समय सज्जनों के दिलों को दहला दिया था। आखिर भ० महावीर ने उन मूक, निरपराध पशुओं के दुःख पाशों को काट कर उनको जीवन दान दिया था। यज्ञों से हिंसा के विदा होने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है![3] करोड़ों

---

१. वारुआ, आजीविक्स, भा० १

२. सुत्तनिपात—तेविज्जसुत्त

३. लोकमान्य स्व० बालगंगाधर तिलक ने यह बात निम्नलिखित शब्दों में स्वीकारी थी:—

"अहिंसा परमो धर्मः—इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्वकाल में यज्ञ के लिए असंख्य पशु हिंसा होती थी; इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों से

निरपराध पशु जीवों को अभयदान देकर उन्होंने निर्भय बनाया और लोक का महती उपकार किया !

निस्सन्देह तब वैदिक क्रियाकांड के बहु प्रचार ने धर्मतत्व की आत्मा को शुष्क बना दिया था। धर्म—हंस उड़ गया था, पाखंडकलेवर की ठठरी रह गई थी। उस भयंकर ठठरी को छाती से चिपटाये रहने का अज्ञान-मोह मानव समाज को बेहद सता रहा था। ढोंग और पाखंड छाया हुआ था। अनात्मवाद और कर्मकाण्ड का सार्वभौमिक राज्य था। मानव बाह्य आडम्बर के जाल में फंसे हुये मछली की तरह तड़फड़ा रहे थे। बचना चाहते थे उसकी वेदना से, परन्तु अज्ञान अंधकार में मार्ग नहीं सूझता था। उनकी अन्तरात्मा प्रकाश के लिए चिल्ला रही थी। यज्ञों में होती पशु हिंसा ने अधिकांश मानवों के हृदय निर्दयी और कठोर बना दिये थे। उनके हृदय से जीवन के महत्व और प्रतिष्ठा का भाव उठ-सा गया था। आध्यात्मिक जीवन के गौरव को भूल गये थे। जड़ पदार्थों की महिमा उनके दिलों में समा गई थी। अध्यात्म-उत्कर्ष में उनकी रुचि नहीं थी, बाह्य बातों में ही वे जीवन की श्रेष्ठता मानते थे। अर्थ सम्पन्न युवक और युवतिया वासनामय आमोद-प्रमोद ही में जीवन-उद्देश्य की इतिश्री मान बैठे थे। लूट-मार और आपसी लड़ाई-झगड़े बढ़े हुए थे। ऐसे लोगों को झूठा विश्वास करा दिया गया था कि यज्ञ करने से बुरे कर्मों का फल नष्ट हो जाता

मिलते हैं।' ' परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मणधर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म के ही हिस्से में है।"

है। फिर भला वे पाप से क्यों डरते ? और क्यों पाप से कलुषित आत्मा की कालिमा को नष्ट करने के लिए पश्चाताप, आलोचना और प्रायश्चित की प्रचण्ड अग्नि उद्दीपित करते ? वह तो मानते थे कि केवल यज्ञ के मांस-दुर्गन्धाभिसिक्त धूम से ही आत्मा उज्ज्वल हो जायगी। किन्तु फल इससे नितान्त विपरीत होता था। उस पर यज्ञ हर कोई नहीं कर पाता था। धनवान पुरुष ही यज्ञ करके यश पाता था। बिचारे गरीब ईर्ष्याग्नि मे झुलसते थे। गर्ज यह कि विचार प्रवाह वैदिक कर्मकाड के विरुद्ध बह रहा था—लोग आत्मशान्ति पाने के लिए नये-नये उपाय टटोल रहे थे !

कुछ लोग हठयोग की साधना में आत्मशान्ति के स्वप्न देखने लगे। भ० पार्श्वनाथ के नाना राजा महीपाल इस हठयोग के उपासक थे। उल्टे सिर लटक कर—पंचाग्नि तप कर—और अन्य प्रकार से कायक्लेश करके यह लोग हठयोग साधते थे। उन्हें शुरू से ही यह लालसा होती थी कि उन्हें ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त होंगी—उनका जीवन चमत्कार पूर्ण होगा और उनकी आत्मा शरीर वन्धन से मुक्त हो जायगी। किन्तु लोगों को हठयोग मे भी शान्ति नहीं मिली। अतएव वे लोग असंतुष्ट हुये मनमाने मन्तव्यों को मानकर मनस्तुष्टि करने मे सलग्न थे। ये लोग प्रचलित मत-मतान्तरों के विरुद्ध लोगों के हृदयों मे चिनगारियां लगा रहे थे।[1] नये विचार और नये

---

१. श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी लिखा है कि ब्राह्मणवाद के अत्याचार ने एक क्रान्ति उपस्थित की थी।

"The oppression of Brahmanism made the people sigh for a revolution and the work of the philosophers opened the path

सिद्धान्त जनता के सामने आ रहे थे। जनता एक मार्गदर्शक की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रतीक्षा विफल न गई। भगवान महावीर का शुभागमन हुआ।

उस क्रान्ति काल मे यहा की राजनीति भी अछूती न रही। महाभारत युद्ध के उपरान्त भारतीय राजनीति छिन्न-भिन्न हो रही थी। यहा राष्ट्रीय एकीकरण और संगठन का अभाव था। सब अपना अपना राग और अपनी अपनी ढपली बजा रहे थे। किन्तु भ० पार्श्वनाथ के निकटवर्ती काल मे, कहते हैं कि सम्राट् ब्रह्मदत्त ने भारत में एक सार्वभौम सत्ता स्थापित करने का उद्योग किया था—इसी कारण वह अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् कहा गया है, परन्तु अपने उद्देश्य मे वह सफल हुआ नहीं प्रतीत होता है। उसका अधार्मिक जीवन सभवतः उसमें बाधक रहा। साराशत. यहा उस समय एक नहीं अनेक राजा थे, और सब अपने २ राज्य में पूर्ण स्वाधीन थे। अलबत्ता यहाँ की जनता अपने नागरिक स्वत्वों के संरक्षण में सजग थी। कदाचित राजा अन्यायी और अत्याचारी होता तो उसे पदच्युत भी किया जाता था। यदि कभी एक नये राजा को चुनने की आवश्यकता होती तो प्रमुख नागरिकों की सम्मतिपूर्वक मंत्रिमडल योग्य व्यक्ति को राजपद प्रदान करता था। पड़ौस के आततायी राजाओं के आक्रमणों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए किन्हीं क्षत्रिय कुलों ने प्रजासत्तात्मक ढंग के राजसंघ स्थापित किये थे। यह 'गणराज्य' कहलाते थे। क्षत्रिय कुलों के चुने हुये प्रतिनिधि उनमें सम्मिलित होते थे और जनता

का सच्चा हित साधते थे। उनके संघ को राजत्व प्राप्त होता था। इन गणराज्यो में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय थे:—

(१) लिच्छवि अथवा वज्जिय गणराज्य—इस राज संघ मे आठ क्षत्रिय कुलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, जो 'राजा' कहलाते थे। वे आठ क्षत्रियकुल (१) वृजि, (२) लिच्छवि, (३) ज्ञात्रिक, (४) विदेही, (५) उग्र, (६) भोग, (७) इक्ष्वाकु, और (८) कौरव नामक थे। इनमे लिच्छवि क्षत्रिय प्रमुख थे। उनकी राजधानी वैशाली उस समय का एक प्रधान नगर था। उसके देवमंदिर और राजमहल अनूठी कारीगरी के बने हुए थे। लिच्छवि क्षत्रिय परिश्रमी, धीर-वीर, समृद्धिशाली और शिक्षा सम्पन्न होने के साथ ही धार्मिक रुचि और भाव को रखने वाले थे। वे बड़े स्वातन्त्र्यप्रिय और स्वाभिमानी थे। किसी की आधीनता स्वीकार करना उनके लिए सुगम नहीं था। उस समय के क्षत्रियों मे उनकी विशेष प्रतिष्ठा और मान्यता थी। प्राचीन काल से वे जैन धर्म के उपासक थे। उनमे राजा चेटक प्रमुख थे। संभवत वे ही उस समय वज्जिय राजसंघ के प्रधान राजा थे। जैनशास्त्रों में उन्हें इक्ष्वाकुवंशी वशिष्ट गोत्री क्षत्रिय लिखा है। 'उत्तर पुराण' (पृ० ६४६) मे इन्हें सोमवंशी लिखा है, जो इक्ष्वाकुवंश का एक भेद है। चेटक की रानी का नाम भद्रा अथवा सुभद्रा था। वह एक पतिव्रता रमणी थी। दोनों ही पति-पत्नी जिनेन्द्र भगवान के अनन्य भक्त थे। उनकी सन्तान भी उन्हीं के अनुरूप अर्हन्तभक्ति--परायण थी। चेटक स्वय पराक्रमी, वीर योद्धा थे। उनके पुत्र भी वैसे ही थे। सिंह

अथवा सिंहभद्र नामक उनके पुत्र वज्जिय राजसंघ की सेना के सेनापति थे। उनके नौ भाई (१) धन (२) दन्तभद्र (३) उपेन्द्र, (४) सुदत्त, (५) सुकुंभोज, (६) अकंपन (७) सुपतंग, (८) प्रभंजन और (९) प्रभास नामक थे। सिंहभद्र की सात बहनें थीं; जिनमें सबसे बड़ी त्रिशला प्रियकारिणी भगवान् महावीर की माता थीं। अवशेष मृगावती, सुप्रभा प्रभावती, चेलनी, ज्येष्ठा और चंदना नामक थीं। मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक को व्याहीं थीं। वत्सराज उदयन् उन्हीं के पुत्र थे। सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के राजा दशरथ के साथ हुआ था। प्रभावती राजकुमारी सिंधु-सौवीर अथवा कच्छदेश के राजा उदयन के राजमहलों की राजरानी थीं। चेलनी मगध के सम्राट् श्रेणिक की पटरानी हुई थीं। ज्येष्ठा और चदना आजन्म ब्रह्मचारिणी रही थीं।

लिच्छवि क्षत्रियों की संधि नौ मल्लकि और अठारह काशी कौशल के गण राजाओं से हुई थी। उनकी शक्ति संगठित और बल अतुल था। मगध सम्राट ने कई दफा उनपर आक्रमण किया, परन्तु वह सफल मनोरथ नहीं हुए।

[२] शाक्य गणराज्य में म० गौतमबुद्ध का जन्म हुआ था। कपिलवस्तु उसकी राजधानी थी। शुद्धोदन उसके प्रमुख राजा थे।

(३) मल्ल गणराज्य—में मल्लवंशीय क्षत्रियों का बाहुल्य था। उसमें नौ क्षत्रिय राजा मिलकर राज प्रबन्ध करते थे।

उसके दो भाग थे। एक भाग की राजधानी कुशीनारा थी, जिससे भ० बुद्ध का विशेप सम्पर्क था। दूसरे भाग की राजधानी पावा थी। वहाँ के प्रमुख राजा हस्तिपाल थे। भ० महावीर ने यहीं से मोक्षपद पाया था।

(४) कोलिय—गणराज्य की राजधानी रामगाम थी। उस मे कोलिय क्षत्रियों की प्रधानता थी।

इनके अतिरिक्त भग्ग, मोरीय, बुलि आदि गणराज्य भी थे। इनके मुकाबिले में दूसरी ओर एकाधिपतित्व के अधिकारी राजा लोग थे। उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय थे:—

(१) मगध—के सम्राट श्रेणिक बिम्बसार थे। उनकी राजधानी राजगृह थी। वर्तमान के बिहार प्रान्त का अधिकांश भाग उसमें सम्मिलित था। मगध ही उपरान्त भारत का शासन-केन्द्र बना था।

(२) उत्तरीय कौशल—का राज्य मगध से उत्तर पश्चिम की ओर था, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

(३) कौशल से दक्षिण की ओर वत्स राज्य था। उसकी राजधानी कौशाम्बी यमुना किनारे थी। यहाँ के राजा उदयन प्रसिद्ध थे।

(४) वत्सदेश से दक्षिण—पश्चिम की ओर अवन्ती का राज्य था। उज्जयनी उसकी राजधानी थी। यहाँ के चन्द्रप्रद्योत राजा विख्यात थे।

(५) कलिङ्ग—राज्य वर्तमान का ओड़ीसा प्रान्त है। यहाँ के राजा जितशत्रु भ० महावीर के फूफा थे।

(६) अङ्ग—की राजधानी चम्पा थी। वह आधुनिक भागलपुर जिला के अनुरूप था। यहाँ पहले दधिवाहन राजा का राज्य था। उपरान्त मगधाधिप कुणिक यहाँ के राजा हुये थे।

इस प्रकार इन सब ही राज्यों की संख्या सोलह थी। इनमें पारस्परिक स्पर्द्धा थी और प्रत्येक अपने स्वार्थ के लिये दूसरे से मोर्चा लेने के लिये हर समय तैयार रहता था। भयंकर युद्धों में व्यर्थ ही नरसंहार होता था। राष्ट्रीय भावनाओं के लिये कहीं कोई स्थान नहीं था। किन्तु भ० महावीर के अहिंसा और वीतरागता के सन्देश ने राजत्व की काया-पलट दी। भ० महावीर के अनन्य भक्त मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने राष्ट्रीय एकीकरण का महत्व समझा और वह मगध साम्राज्य को पुष्ट करके उस दिशा में अग्रशील हुये। उनका रोपा हुआ राष्ट्रीय एकीकरण का बिरवा नन्द राजाओं द्वारा सींचा जाकर मौर्य सम्राटों द्वारा खूब ही पल्लवित और विकसित किया गया।

इस प्रकार थी उस समय भारत की चतुर्मुखी परिस्थिति जिस समय भ० महावीर का शुभागमन हुआ था।

ज्ञातृक-क्षत्रिय और कुण्डग्राम

"शोभै दक्षिण दिश गुणमाल, महाविदेह देशरसाल।
ताके मध्य नाभिवत् जान, कुण्डलपुर नगरी सुख खान॥"

ज्ञातृक अथवा ज्ञातृ क्षत्रियों का नाम भगवान महावीर के कारण अमर है। यही वह महत्वशाली क्षत्रिय राजवंश था, जिसने भारत को ही नहीं दुनिया को एक महान् सुधारक और अद्वितीय विचारक महापुरुष भेट किया। किन्हीं दिगम्बर जैन शास्त्रों में ज्ञातृक क्षत्रियों को हरिवंश से समद्भूत लिखा है[1]। वह अपभ्रंश प्राकृत भाषा मे 'नाथवंश' के नाम से उल्लेखित हुआ है[2] और श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थों मे उसका प्राकृतरूप 'णाय' और 'णात' मिलता है[3]। बौद्धग्रन्थों मे भ० महावीर के पितृकुल की अपेक्षा ही उन्हे 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र) कहा गया है।[4] मनु ने झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, खस, द्रविड़ आदि क्षत्रियों के साथ नाट अथवा नात (ज्ञातृ) क्षत्रियों को व्रात्य लिखा है।[4] वह ठीक है, क्योंकि ज्ञातृ क्षत्रिय प्राचीन

---

१. वृहद् जैन शब्दार्णव, भा० १ पृ० ७

२. षट् खंडागम सूत्र-धवलाटीका (कारंजा) भा० १ पृ० ११२, तिलोय-पण्णत्ति, धनंजयनाममाला श्लोक ११६

३. मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, ४ मनु० १०।२२

जैनधर्म के उपासक थे। 'व्रात्य' शब्द जैनियों का ही द्योतक अनुमान किया गया है[१]। निस्सन्देह ज्ञातृक क्षत्रिय अपने समय के विशेष सम्माननीय और प्रतिष्ठित राजकुल के रत्न थे। जैन ग्रन्थों में नाथ वंश की गणना प्रारम्भिक मूल राजवंशों में की गई है।[२]

उन ज्ञातृक क्षत्रियों का निवासस्थान मुख्यतः वैशाली, कुण्डग्राम, वणियगाम और कोल्लग नामक स्थानों में था।[३] वैशाली उस समय का महान् नगर था।[४] चीनी यात्री ह्युन्त्सांग ने उसे कई मीलों की परिधिमें फैला हुआ पाया था। उसके बाग-बगीचों, तालाबों, चैत्यों और राज प्रासादों का वर्णन भी उसने खूब लिखा था।[५] आजकल मुज्जफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक ग्राम प्राचीन वैशाली है![६]

वैशाली के ही पास कुण्डग्राम और वणियग्राम थे। यदि उन्हें वैशाली का ही भाग कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। यही कारण है कि यद्यपि भ० महावीर कुण्डग्राम में जन्मे थे, परन्तु

---

१. हमारे 'भगवान् पार्श्वनाथ' की प्रस्तावना (पृ० ३२ में) देखो।

२. षट्खण्डागमसूत्र-धवलटीका, भा० १ पृष्ठ ११२

"धारम्मनो णाह-वंसो दु।"

३. हार्नले सा०, 'उवासगदसाओ', पृ० २ फुटनोट २

४. लाहकी क्षत्रिय क्लैन्स इन एन्शियेंट इंडिया, पृष्ठ ४० व ५२

५. ह्युएन्त्सांग का भारत भ्रमण, पृष्ठ ३६०-३६५

६ कनिंघम, ऐन्शियेंट जोगरफी आफ इण्डिया, पृ० ५०७ व ७१७

वह 'वैशालिय' नाम से उल्लेखित हुये है ।१ । श्वेताम्बरीय 'कल्प-सूत्र' से प्रगट है कि वैशाली के निकट ही वाणियगाम था२ । जब भ० महावीर एकदफा वैशाली से विहार करके वणियगाम गये, तो बीच में गंडक नदी को पार करके वह झट से वहां पहुंच गये३ । कुण्डगाम उसी के पास था । आजकल वह 'वसुकुंड' नाम से प्रसिद्ध है ।४

इसी कुण्डगाम के निकट कोल्लग-सन्निवेश था । यह स्थान ज्ञातृ-क्षत्रियों का मुख्य केन्द्र था । आजकल के कतिपय विद्वान् कोल्लग को ही भगवान महावीर का जन्म नगर अनुमान करते है; किन्तु यह अनुमान दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों ही जैन सम्प्रदायों की मान्यता के विरुद्ध है । जैन मान्यता स्पष्ट कहती है कि भ० महावीर का जन्म स्थान कुण्डग्राम है । उसी का अपर नाम कुण्डलपुर भी है । किन्तु वैशाली, कुण्डगाम, कोल्लग आदि स्थान पास-पास थे । इसलिये यह नितान्त प्राकृत और स्वाभाविक है कि भ० महावीर के बाल जीवन और कौमार

---

१ 'अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए त्ति वेमि'—

सूत्र कृताङ्ग २।३

श्रवण वेलगोल शिलालेख नं० १ से भी भगवान का सम्बन्ध वैशाली (विशाला) से प्रगट होता है; यथा:—"तदनु श्री विशालयम् (नायाम्) जयत्यद्य जगद्धितम् तस्य शासनमव्याजं प्रवादि मत—शासनम् ।"

२. 'वेसालिंणयरिं वाणियगामं च णीसाए दुवालस अंतरावा-वासावास उवागए ।'—कल्पसूत्र

३. 'ततः प्रतस्थे भगवान ग्रामं वाणिजकं प्रति । मार्गे गण्डकिकां नाम नदी नावोत्ततार च ॥१३६ ।४।१०॥ —त्रिषष्टशलाका०

४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १५७

क्रीड़ाओं, का लीलाक्षेत्र यह सब ही स्थान रहे। उनमें ही विचर कर भगवान ने कौमार जीवन विताया था।

निस्सन्देह भगवान् महावीर की जन्मभूमि विदेह और जन्म नगर कुण्डग्राम अथवा कुण्डलपुर पुण्य क्षेत्र थे।[1] उनका महती रूप और अपूर्व सौभाग्य अन्य क्षेत्रों के लिए ईर्ष्या की वस्तु रहा है। कुण्डग्राम देवेन्द्र की अमरावती से बातें करता था। देवेन्द्र ने तीर्थङ्कर महाप्रभू का पतितपावन जन्म वहा होता जानकर उसकी अद्भुत शोभा और रचना रची थी। कुण्डलपुर अनन्त अनावृत नीलाकाश के मनोरम स्वरूप की बराबरी करता था—वह भी आकाश की तरह सब ही तरह की वस्तुओं से भरपूर और अमर था। आकाश की शोभा सूर्य-चन्द्र-कलाधर और बुध-नक्षत्र जहा एक ओर बढाते हैं, वहाँ कुण्डग्राम को शोभनीक बनाने वाले भास्वान् तेजस्वी कलाधर-कलाकार और बुध-विद्वान् उस नगर में मौजूद थे। आकाश वृष-नक्षत्र युक्त है, तो नगर भी धर्म से पूर्ण था, आकाश तारागणों की झिलमिल ज्योति से सुहाता है, तो कुण्ड-ग्राम भी सोने-चादी और रत्नो की मोहक प्रभा से दमदमाता था। उसके परकोट के किनारों पर अरुण-मणिया और हरित-पन्ना जड़े हुये थे, जिनकी प्रभा जल से पूर्ण खाई को दिन मे

---

१ जिनेन्द्र की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवल ज्ञान भूमि और निर्वाण भूमि पूज्य स्थान हैं उनकी पूजा करना 'क्षेत्र पूजा' कहलाता है'—

'जिण जम्मणिक्खवण-णाणुप्पत्तिमोक्ख संपत्ति।
णिसिहीसु खेत पूजा, पुव्वविहाणेण कायव्वा॥४५२॥

—वसुनंदि श्रावकाचार पृ० ७८

ही संध्याकालीन श्री शोभा से युक्त बना रही थी।१ उसके सुन्दर और उत्तंग राजमहल आकाश से बाते करते थे। भ० महावीर के पितृगृह का वर्णन यही बताता है। उसके विषय मे श्री गुणभद्राचार्य जी ने जो उद्‌गार प्रगट किये है, वह हिन्दी पद्य मे इस प्रकार हैं —२

"सप्तखनो प्रासाद उत्तङ्ग, श्वेत कनकमय तसु असु अङ्ग।
ऊपर मंदिर शोभै सार, नाम 'सुनंदावर्त्त' विचार॥"

राजमहल नयनाभिराम और विलासपूर्ण तो था ही, किन्तु उसके शीर्षभाग मे जिनेन्द्र का चैत्यालय इस बात का प्रमाण था कि वहा के निवासी और खासकर भ० महावीर के पितृगण धर्मतत्व को भूले न थे। वे धर्म को ही आगे रखकर अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि करते थे।

इस नगर मे ज्ञातृ क्षत्रिय प्रभु-शक्ति-युक्त थे। वे महान् और लोकमान्य थे। वे प्रायः सब ही तेईसवें तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ के धर्म-शासन के उपासक थे। उपरान्त जब भ०

---

१ कवि आशगकृत, 'महावीर चरित्र' पृ० २३९–२४०

२. कवि खुशालचन्द कृत 'उत्तर पुराण' का हिन्दी पद्यानुवाद देखो। बौद्धग्रन्थ 'महावग्ग' में लिखा है कि 'एक बार बुद्ध कोटिगाम मे ठहरे थे, जहा नाथ वंश के लोग रहते थे। बुद्ध जिस भवन में ठहरे थे उसका नाम जिन्जकावसथ' (Nathik-Brick-Hall) था। वहां से वह वैशाली गये।' सर रमेशचन्द्र दत्त इस पर अपने 'प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास' में लिखते हैं कि "यह कोटिगाम वही है जो कि जैनियों का कुण्डग्राम है और बौद्ध ग्रंथों में जिन नात क्षत्रियों का वर्णन है, वे ज्ञातृक क्षत्रिय हैं।"

आजकल जैनी राजगृह के पास प्राचीन नालन्दा के एक भाग को गलती से कुण्डलपुर मानते हैं।

महावीर जी का धर्म संघ स्थापित हुआ, तब वे उनके भक्त हो गये थे[१]। जैन धर्म भक्त होने के कारण वे धर्मात्मा और दयावान वीर नर थे। वे पाप कर्मों से दूर रहते थे और पाप से भयभीत थे। यद्यपि वे हिंसाजन्य दुष्कर्म नहीं करते थे—मांस मदिरा के त्यागी थे और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते थे, परन्तु अपने राष्ट्र और धर्म की रक्षा के लिये हर समय तैयार रहते थे। ज्ञातृ क्षत्रिय वज्जिय गणराज्य में सम्मिलित थे। जब मगध सम्राट् ने उनकी स्वाधीनता अपहरण करनी चाही तो वे अन्य क्षत्रियों के साथ कंधा भिड़ा कर बहादुरी से लड़े थे।[२]

उनके धर्मपरायण जीवन ने उनकी ऐहिक दशा भी खूब समृद्धिशाली बना दी थी। वे सुखी थे और भरे पूरे थे। उनका देश आनन्द भोग मे निमग्न था। आस पास के प्रतिष्ठित राज-कुलों से उनका सम्बन्ध था। निस्सन्देह ज्ञातृ-क्षत्रिय आदर्श श्रावक थे। उनके ही समुन्नत क्षत्रिय कुल मे भ० महावीर का कल्याणकारी जन्म हुआ था।

---

१. हमारा 'सं० जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृ० ८५
२. हमारा "सं० जैन इतिहास" भा० २ खंड १ पृ० ४६-४८

भगवान् का शुभागमन

"दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः
प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं
भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥"

'दिशायें निर्मल हो गईं । सुन्दर वायु वहने लगा । अग्नि दक्षिणायण (दक्षिणाग्नि) होकर हवि (हवन द्रव्य) ग्रहण करने लगी । उस समय सब बातें शुभ की सूचना देने लगीं । बात यह है कि महापुरुषों का जन्म लोक के कल्याण और अभ्युदय के लिये हुआ करता है ।' उनकी जीती-जागती मूर्ति जंगम प्रतिमा तत्कालीन लोक का उपकार करती है, परन्तु उपरान्त काल के मनुष्यों के लिये भी उनका अनुपम चरित्र उतना ही कल्याणकारी होता है । महापुरुष लोक-नेत्र होते है । सूर्योदय से जैसे रजनी का तम दूर होता है, वैसे ही महापरुष के ज्ञान प्रकाश से अज्ञानांधकार का परदा लोगों के नेत्रों के आगे से हट जाता है ! जीवन-साफल्य और अभ्युदय के लिये इससे सरल और सुगम उपाय हो ही क्या सकता है ? उपदेश नहीं, आदर्श उदाहरण ही कार्यकारी है । कथनी नहीं करनी ही आत्मोद्धारक है । इसलिये ही कवि ठीक कहता है:—

"हमे महत पुरुषों के जीवन, ये ही बात सिखाते हैं ।
जो करते है सतत परिश्रम, वे पवित्र बन जाते हैं ॥"

महापुरुषों का माहात्म्य ही यह है । उस पर भ० महावीर एक तीर्थङ्कर थे । जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट् शासनचक्र का आदर्श अपने व्यक्तित्व से मूर्तिमान् बनाते हैं, नारायण और बलभद्र राजत्व अथवा राजनीति का आदर्श थापते हैं और

कामदेव सौन्दर्य और भोग शक्ति के आगार होते हुये भी शीलधर्म की मर्यादा उपस्थित करते हैं, उसी प्रकार एक तीर्थंकर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म-तीर्थ को जन्म देते हैं। धर्मतीर्थ की यह विशेषता है कि राजत्व और नीति एवं अर्थ और भोग-उसी को आगे रखकर चलते है। जैसे अग्निवाहन (रेलगाड़ी) में एंजिन आगे होता है और उसी से वह चालन शक्ति उत्पन्न होती है, जो उसे निश्चित स्थान पर पहुँचा देती है, ठीक वैसे ही जीवनरूपी वाहन को उद्देशित सुखधाम पर पहुँचाने के लिये धर्म-यंत्र आवश्यक है। तीर्थंकर धर्म-तत्व का निरूपण करते हैं, इसलिये वह महापुरुषों मे भी महान् हैं—अनुपम हैं। अत सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महावीर का विशाल चरित्र भला क्यों न चित्त में शान्ति और ज्ञान को प्रकट करने का कारण बनेगा ?

तब संसार अज्ञान-अधकार मे डूबा हुआ था—वह धर्म ज्ञान रूपी प्रकाश पाने के लिये तड़फड़ा रहा था। ऐसे समय में ज्ञात्रिक क्षत्रिय कुल मे धर्म-चक्रवर्ती का जन्म होना किसे न प्रिय होता? उस बाल-सूर्य का अभ्युदय पहले से ही सुखद लालिमा को प्रकट कर रहा था। ठीक ही है, 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात!' अभी भगवान् का जन्म नहीं हुआ था, किन्तु उनका पुण्य-प्रभाव पहले से ही प्रगट होने लगा। देवेन्द्र ने देखा कि पुष्पोत्तर विमान का देव भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगर कुण्डलपुर मे जन्म लेगा। उनका ज्ञान सामान्य मतिज्ञान न था—वह अवधि ज्ञान (Clairvoyance) के धारी थे। उन्होंने ज्ञाननेत्र से भविष्य देख लिया। देवेन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि वह कुण्डलपुर की शोभा बढ़ा दे—उसे ऋद्धि-समृद्धि युक्त कर दे। कुबेर ने पंद्रह महीने पहले से कुण्डलपुर

जाकर रत्नवृष्टि की। कुण्डलपुर की जनता के भाग्य खुल गये।[१]

कुण्डग्राम के ज्ञातृक क्षत्रियों के प्रमुख उस समय राजा सिद्धार्थ थे। राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती के वह धर्मात्मा पुत्र थे। उन्हे श्रेयांस और यशांस भी कहते थे। वह काश्यपवंश के चमकते हुये रत्न थे। उनका विवाह वैशाली के प्रसिद्ध क्षत्रिय-वंश लिच्छवि के प्रधान राजा चेटक की पुत्री त्रिशला प्रियकारिणी से हुआ था। त्रिशला रानी विदेहदत्ता भी कहलातीं थी। वह विदुषी महिला-रत्न थीं। वह महाभाग-प्राचीदिश से भी सौभाग्यशालिनी थीं, क्योंकि उनकी कोख से ज्ञान-प्रकाश की मूर्ति-रूप बाल-सूर्य का जन्म हुआ था।[२] योग्य माँ ही योग्य पुत्र जनती है।

राजा सिद्धार्थ ज्ञातृ क्षत्रियों के प्रमुख नेता थे। इसलिये ही वह क्षत्रिय सिद्धार्थ कहे गये हैं। वह शस्त्र-शास्त्र में पारगामी और विद्यारसिक थे। 'महावीर चरित्र' (पृष्ठ २४२) मे लिखा है कि "विद्याओं के फल से समस्त लोक को संयोजित करने वाले उस निर्मल राजा को पाकर राज विद्याये प्रकाशित होने

---

१. अधुना कुछ लोग देवयोनि के अस्तित्व में शङ्का करते हैं, परन्तु पुरातन भारतीय आर्य मर्यादा में उनका अस्तित्व हमेशा माना गया है। ऋक्संहिता (१०।२०।१२२), शतपथ (११।१।१५) और ऐतरेय ब्राह्मण (२।२) में इन्द्र का उल्लेख है। बौद्ध शास्त्र भी देवयोनि बताते हैं। (लाहाकृत हेवेन एण्ड हेल देखो) सम्राट् अशोक के रूपनाथ वाले लघु शिलालेख में देवताओं का उल्लेख है। (इंऐ० सन् १९१२ पृ० १७०) विदेशी धर्म भी जैसे पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम भी देवताओं को किसी न किसी रूप में मानते हैं। आज कल सर आर्थर डायल, डॉ० ऋषि आदि प्रेतविद्या विशारद भी देवयोनि का अस्तित्व प्रमाणित करते हैं। अतएव उनके अस्तित्व

लगीं थीं।' उन्होंने नायखण्ड-उद्यान में एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। यह भी सम्भव है कि वहाँ पर एक चैत्यालय पहले से विद्यमान रहा हो।¹ उस चैत्यालय के आस-पास एक मनोरम उद्यान भी था। राजा सिद्धार्थ और अन्य ज्ञातृ क्षत्रिय वहाँ आकर धर्म सेवन किया करते थे। सारांशतः महावीर एक बुद्धिमान, धर्मज्ञ और प्रभावशाली राजा के पुत्र थे।

जब वह रानी त्रिशला के गर्भ में थे, तब ही से उनका प्रभाव प्रगट होने लगा था। जैन शास्त्रों में लिखा है कि उस समय उनकी सेवा में इन्द्र की आज्ञानुसार ५६ दिक्कुमारियाँ तल्लीन थीं। वे राजमाता के मन को प्रफुल्लित करने के लिए रसभरी काव्य और ज्ञान गोष्ठियाँ किया करतीं थीं। माता त्रिशला उनके प्रश्नों का जो उत्तर देतीं उसको सुनकर वह चकित हो जातीं थीं। उन उत्तरों से त्रिशलादेवी की विद्वत्ता तो टपकती ही थी, परन्तु साथ ही गर्भस्थ बालक की दिव्यप्रतिभा

में शङ्का करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष अनेक घटनायें ऐसी देखने को मिलती हैं जिनसे अदृष्ट देवयोनि का अस्तित्व मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

इस अवस्था में इन्द्र की आज्ञा से कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ के महल में नियत समय पर रत्नवृष्टि होना स्वाभाविक है। महा-पुरुषों का जन्म त्राणदाता होता ही है। इन्द्र ने कृतज्ञता ज्ञापन के लिए ऐसा करके ठीक ही किया। (विशेष के लिए हमारी पुस्तक 'श्री ऋषभदेव की उत्पत्ति असंभव नहीं है!' देखो) २ संजै इ०, भा० २ खंड १ पृ० ४८-४९

१. श्वेताम्बरीय शास्त्रों जैसे विपाकसूत्र आदि में इस उद्यान का नाम 'दुइपलास चैत्य उद्यान' अथवा 'नायषण्डवन उद्यान' लिखा है और इसमें एक चैत्य (मंदिर) होने का भी ज़िक्र है।

भी झलकती थी। देवियाँ पूंछतीं, संसार मे सत्पुरुष कौन है? रानी उत्तर देतीं कि जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों को सिद्ध करके निर्वाण पाता है वह सत्पुरुष है। जो व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों को सिद्ध नहीं करता वह कायर है। देवियां पूंछतीं कि कौनसा मनुष्य सिंह के समान उन्नत है और कौनसा नीच है? माता कहतीं कि जो मनुष्य इन्द्रियों के साथ २ कामरूपी दुर्धर हाथी को मार भगाते है वे सिंह समान है। और जो सम्यक् रत्नत्रय धर्म को पाकर उसे छोड़ देते है वे नीच हैं। विद्वान् वह है जो शास्त्रों को जान कर पाप, मोह और बुरे काम नहीं करते, विषयों में आशक्त नहीं होते! कितने उच्च और सुलझे हुये विचार थे ये! ऐसी रमणी-रत्न की कोख से भला क्यों न नरसिंह महावीर का जन्म होता?

त्रिशलादेवी एक दिन सानन्द शयन कर रहीं थी। अभी प्रातःकाल होने में देरी थी। उन्हें सोलह शुभ सूचक स्वप्न दिखाई दिये थे। तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतार की सूचना देने के लिये ही मानो प्रत्येक तीर्थंकर की माता वे शुभ स्वप्न देखती है। रानी त्रिशला उन अनूठे सोलह स्वप्नों को देखकर चकित हो गईं। वे उठीं। शौचादि से निवृत्त होकर महाराज सिद्धार्थ के निकट राज दरबार मे गईं। राजा ने उन्हे अर्द्धासन पर बैठाया। रानी ने उनसे स्वप्नों का हाल कहा। राजा ने स्वप्न शास्त्र के अनुसार उनका निम्न प्रकार स्पष्टीकरण किया।

वह बोले, प्रियतमे, जो तुमने (१) पहले एक उन्नत चार दांतो वाला हाथी देखा है, उससे यह प्रगट होता है कि गर्भस्थ बालक तीर्थङ्कर के रूप मे जन्मेगा। (२) पालतू भाग्यशाली सफेद बैल देखने का भाव यह है कि वह बालक एक बड़ा धर्मप्रचारक होगा। (३) सुन्दर सिंह को आकाश से मुखकी ओर

उछलता हुआ देखने का फल यह है कि तुम्हारी कोख से अतुल वीर्य का धारक पराक्रमी पुत्र जन्मेगा। (४) श्री अथवा लक्ष्मीदेवी का देखना यह बताता है कि बालक जन्म सिद्ध राज्याधिकारी होगा। (५) दो सुन्दर मन्दार पुष्प की मालायें यही संकेत करती हैं कि गर्भस्थ बालक सुगन्धमय शरीर का धारक यशस्वी होगा। (६) चन्द्र के देखने से प्रगट है कि वह मोहतम का भेदने वाला होगा। (७) सूर्य का दर्शन यह बताता है कि वह भव्यरूपी कमलों के प्रतिबोध का कर्त्ता और अज्ञानान्धकार का मेटने वाला होगा। (८) मीनयुगल देखने से प्रगट है कि अनन्त सुख प्राप्त करेगा। (९) दो घंटों के देखने से मंगलमय शरीरका धारक उत्कृष्ट ध्यानी होगा। (१०) सरोवर का देखने का फल यह है कि वह जीवों की तृष्णा का दूर करेगा। (११) समुद्र देखना यह निर्देश करता है कि वह पूर्ण ज्ञान का धारक होगा। (१२) सिंहासन देखने से निश्चय जानो कि वह अन्तमें परमोत्कृष्ट पद को प्राप्त करेगा। (१३) विमान देखने का फल यह है कि वह स्वर्ग से उतर कर आवेगा। (१४) नागभवन देखने का अभिप्राय यह है कि वह यहाँ पर मुख्य तीर्थ को प्रवृत्त करेगा। (१५) रत्न राशिका देखना यह सूचित करता है कि वह अनन्त-गुणों का धारक होगा। (१६) निर्धूम अग्नि का देखना बताता है कि वह समस्त कर्मों का क्षय करेगा। इस प्रकार प्रियतम के मुख से स्वप्नावली का फल सुनकर त्रिशलादेवी प्रसन्न हुईं। वह फल त्रिलोकाधिपति जिनदेव के अवतार को सूचित करने वाला अपूर्व रोमांचकारी था।

"कुछ दिनों के पश्चात् उच्चस्थान पर प्राप्त समस्त ग्रहों के लग्न के योग्य समय में रानी त्रिशला ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार को रात्रि के अन्त समय में जब चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर था, जिनेन्द्र भगवान् महावीर का प्रसव किया।

प्राणियों के हृदयों के साथ साथ समस्त दिशाये प्रसन्न हो गईं। आकाश ने विना धुले ही निर्मलता धारण करली। उस समय देवों की की हुई मत्त भ्रमरों से व्याप्त पुष्पों की वर्षा हुई और दुंदुभियों ने आकाश में गम्भीर शब्द किया।" १

भ० महावीर के जन्म समय चौथे काल दुःखमा सुखमामें ७५ वर्ष ३ महीने अवशेष रहे थे। प्रभू का जन्माभिषेकोत्सव स्वर्ग के देवेन्द्रो ने आकर मनाया था। स्वयं नृप सिद्धार्थ ने अपने महल मे दश दिन तक उत्सव मनाये थे। खूब दीपक जलाकर रोशनी की गई थी। दान-पुण्य आदि शुभ कर्म किये गये थे और वन्दीजनों को बन्धनमुक्त किया गया था। चहुँ ओर शान्ति और आनन्द की लहर दौड़ गई थी।

जैन शास्त्रों मे इन शुभ अवसरों का नामकरण 'गर्भ' और 'जन्म-कल्याणक' रूप मे हुआ है। उनमे लिखा है २ कि सौधर्म इन्द्र ने बालक प्रभू को सुमेरु पर्वत की रत्नमई पाण्डुक शिला पर ले जाकर क्षीरोदधि समुद्रके निर्मल जल से अभिषेक किया था। समस्त देव-देवाङ्गनाओं के साथ मनाया गया वह अभिषेक विशाल था। इन्द्र ने अभिषेक के उपरान्त बालक प्रभू को अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्र और अलङ्कार पहनाये—सुगन्धित माला पहिनाई, उन्हे नमस्कार किया। नम्रीभूत सुरेन्द्र ने 'वीर' यह नाम रखकर अप्सराओं के साथ समस्त रसों को दर्शाने वाला आनन्द नृत्य किया। देव-असुरों ने बालक-प्रभू के दर्शन करके अपने नेत्रयुगल सफल किये। विविध शुभ लक्षणों से लक्षित आखिर उनका शरीर था। उनके सौन्दर्य्य पर कौन न विमोहित होता? उनके अलौकिक ज्ञान और अतुल बल के आगे कौन न सिर नमाता?

---

१. मच० पृ० २४८ २. मच० पृ० २५३

ऐसे अत्यद्भुत श्री वीर भगवान को बाल्योचित मणिमय भूषणों से विभूषित कर देवगण इष्टसिद्धि के लिये भक्ति से उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे। "हे वीर! यदि संसार में आपके रुचिर वचन न होवें तो भव्यात्माओं को निश्चय से तत्वबोध किस तरह हो? पद्मा (कमल-श्री ज्ञान श्री) प्रातःकाल में सूर्य के तेज के बिना क्या अपने आपही विकसित हो जाती है? स्नेह रहित दशा को धारण करने वाले आप जगत के अद्वितीय दीपक हैं! कठिनता से रहित है अन्तरात्मा जिसकी ऐसे आप चिंतामणि रत्न हैं!"[1]

इस प्रकार जन्म कल्याणक मनाकर इन्द्र ने बालक वीर को उनके माता-पिता को सुपुर्द किया और वे स्वयं देवसमूह सहित अमरलोक को चले गये।

उधर राजा सिद्धार्थ ने[2] एक दिन अपने सब बन्धु बांधवों और इष्ट मित्रों को निमंत्रित करके वीर-बालक का नामकरण उत्सव मनाया। वे सब ही मङ्गल उपहार लेकर आये। उनके आदर-सत्कार में खूब आमोद प्रमोद हुआ। नृप सिद्धार्थ ने

---

१. हरि० सर्ग २

२. श्वेताम्बर जैनों की मान्यता है कि पहले तीर्थंकर महावीर का जीव ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवनन्दा के गर्भ में आया था, परन्तु इन्द्र की आज्ञा से नैगमेशदेव ने उसे क्षत्रियाणी त्रिशला की कोख में पहुँचा दिया था, क्योंकि तीर्थंकर हमेशा क्षत्रिय होते हैं। श्वेताम्बरों की इस मान्यता के विषय में श्री चन्द्रराज भंडारी (श्वेताम्बर जैनी) के निम्न-वाक्य दृष्टव्य हैं—"इसमें सन्देह नहीं कि, उपरोक्त प्रमाणों में से बहुत से प्रमाण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे तो प्रायः यही ज़ाहिर होता है कि 'गर्भहरण' की घटना कवि की कल्पना ही है।"—इत्यादि भगवान् महावीर पृ० ९५।

प्रतिदान द्वारा उन सबको संतुष्ट किया। वे बोले, "यह शिशु महाभाग है। यह जिस दिन से रानी त्रिशला के गर्भ में आया है, उस दिन से ही हमारे घर में, नगर मे और राज्य में धन-धान्यादिक की वृद्धि हुई है। अतः इसका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा जाय।" उपस्थित बान्धवों ने इसका अनुमोदन किया। बालक वीर वर्द्धमान नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक दिन बालक वीर-वर्द्धमान रत्न जटित झूले में झूल रहे थे। आकाशमार्ग से ज्ञानपुञ्ज मुनि-युगल वहां आ उपस्थित हुये—वे चारण ऋद्धि के धारक थे—उनके नाम संजय और विजय थे। उन्हें जिन सिद्धान्त मे कुछ शङ्कायें थीं; परन्तु बालक-प्रभु के दिव्य-दर्शन करते ही उनका संशयार्थ दूर हो गया। उन्होंने भगवान का नाम 'सन्मति' रक्खा। इस प्रकार भगवान चारु चन्द्र की तरह बढ़ने लगे।
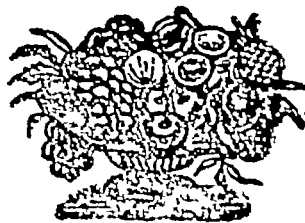
युवावस्था और गृहस्थ जीवन ।

'निशि का दीपक चन्द्रमा, दिन का दीपक भान।
कुलका दीपक पुत्र है, तिहुं जग दीपक ज्ञान ॥'

—द्यानत

दिन बीतते देर नहीं लगती। दोइज का चन्द्रमा आँख-मिचौनी खेलता हुआ चमकता है, परन्तु वही प्रति दिन एक-एक कला बढ़ता हुआ पूर्णिमा को सबका मन मोहता है। जैनियों के समस्त तीर्थंकर संसार मे चलते-फिरते मनुष्य थे। वह कोई देव अथवा मनुष्योपरि व्यक्ति नहीं थे। यदि वह मनुष्य न होते तो नरलोक के लिये उनका महत्व कुछ न रहता। देव भी अमरपुरी का सुख-वैभव विसार कर उत्तम मनुष्य कुल पाने के लिये तरसते हैं। केवल इसलिये ही कि मनुष्य जन्म में ही संसारी जीव के लिये यह सम्भव है कि वह 'त्रिलोक-दीपक-ज्ञान' को प्राप्त करके त्रिलोक्य पूज्य शाश्वत परमपद को प्राप्त करे। महानता कौन नहीं चाहता? महत्वाकांक्षा किसे नहीं है? किन्तु उसकी प्रौढ़ता और सुलभता नर जन्ममें ही है। नरदेह में ही वह विवेकभाव और त्यागशक्ति व्यक्त की जा सकती है, जो नर को नारायण बना देती है। आधुनिक तत्ववेत्ता कार्लाइल (Carlyle) ने लिखा है कि 'मनुष्य दैवी जन्म धारक है। वह संयोगों और आवश्यकताओं का गुलाम नहीं है, बल्कि उनका विजयी जेता है। देखो, वह अपनी स्वाधीनता को और अपने (आत्मिक) व्यक्तित्व को किस रीति से दुनिया में प्रकट कर सकता है?'

युवक महावीर ने इस सत्य को अपने जीवन में मूर्तिमान बनाने का शुभ-संकल्प किया था। एक जैनी को यह दृढ़

विश्वास होता है कि वह अनन्तशक्ति का धारक है—अनन्त सुख और शांति का अधिकारी है। परिस्थितियों का वह स्वयं निर्माता है। वह चाहे तो शुभसंकल्प और सम्यक् श्रद्धा द्वारा अपने को परमोत्कृष्ट-पद पर पहुँचा ले। और यदि वह बहक-कर इन्द्रियभोग में अंधा हो जाय, तो अपने को पतित बना ले। राजकुमार महावीर श्रावक थे। वह शुभ-संकल्प और सम्यक् श्रद्धा को लेकर जीवन पथ में अग्रसर हुये थे। उनका जीवन तीन भागों मे बंटा हुआ मिलता है। उनके जीवन का पहला भाग हमे महावीर के आदर्श गृहस्थ जीवन का दर्शन कराता है। उसका दूसरा भाग उन्हें ज्ञानी-ध्यानी महावीर व्यक्त करता है। यह उनकी साधना का समय था। अंतिम भाग मे वह त्रिलोकी पूज्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थङ्कर होकर चमकते हैं। जीवन के उद्देश्य को उन्होंने सफल बनाया—वह कृतकृत्य हुये, तरणतारण बन गये। वह ज्ञातृकुल नन्दन से त्रिलोकवन्दनीय महत् पुरुष हुये।

भगवान् महावीर के नाम उनके जीवन के त्रि-विधि-पट को पर्याप्त प्रगट करते हैं। गृहस्थ जीवन में—कौमारावस्थामे वह 'वीर वर्द्धमान' रहते हैं। देवेन्द्र ने उन्हें 'वीर' कहकर पुकारा और राजा सिद्धार्थ ने उन्हें 'वर्द्धमान' कहा १। कवियों ने 'नाथकुलनन्दन' रूपमे उनका स्मरण किया। और क्षत्रियों ने उन्हें 'ज्ञातपुत्र' कहकर पुकारा २। आखिर उनका पितृकुल 'ज्ञातृ' ही था। परन्तु अपनी माता त्रिशला विदेहदत्ता की अपेक्षा वह 'विदेह' अथवा 'विदेहदिन्न' भी कहलाये ३। 'वैशालिक'

---

१. मच० पृष्ठ, २५३ व २५५ म०पु० पृष्ठ ६१-६२ व संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ५०-६२

२. 'णाए णायपुत्ते णायकुल निव्वत्ते'—आचाराङ्ग

३. आचाराङ्ग सूत्र २४।१७

(वेसालिय) कहकर भी लोगों ने उनका उल्लेख किया, क्योंकि उनकी माता विशाला (वैसाली) की राजकुमारी थीं—उनका कुल विशाल था और वचन भी विशाल था १। देवों ने उनकी निर्भीकता और साहस को लक्ष्य करके 'अतिवीर' उनका नाम रक्खा था। चारण मुनियों ने उनके बाल्यरूप को संशयहर जानकर 'सन्मति' कहकर सम्बोधा था २।

जब महावीर गृह त्याग कर वनवासी योगी हुये और योग-निष्ठामें लीन रहकर ज्ञान-ध्यान और तपस्याका श्रम वहन करने लगे तब वह 'श्रमण महावीर' कहलाये ३। अचेलकत्व की कठिन परीषह उन्होंने सहन की थी—नग्नत्व निस्सन्देह पुरुषके काम विजेता होने का प्रमाण है। बौद्धों ने योगी महावीर का उल्लेख 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) नाम से किया है ४। वह ज्ञातृवंशके राजर्षि थे। 'निर्ग्रन्थ' वह इसलिये कहलाते थे, क्योंकि वह बन्धन-मुक्त थे—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की गांठों मे वंधे हुये नहीं थे ५।

---

१. 'विशाला जननीयस्य, विशाल कुलमेव च।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः॥'
सूत्र कृतांग टीका २।३

२. मप्र० पृष्ठ

३. (He is called) Samana because he sustains dreadful dangers and fears, the noble nakedness and the miseries of the world.—Jain Sutras (S B.E.) Pt. I P. 193.

४. 'तेन खोपन समयेन निगंठो नाटपुत्तो पावायन् अधुना कालङ्कतो होति'
—दीघनिकाय (P. T. S., III, 117-118).

५. मजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ५३

जब साधु महावीर अर्हतपद को प्राप्त हुये और सर्वज्ञ परमात्मा हो गये. तब वह तीर्थङ्कर भगवान् महावीर वर्द्धमान नाम से प्रसिद्ध हुये। वह महती-सभा (समवशरण) में धर्म कहते थे; इसलिये वह 'महतिवीर' थे। वह तीर्थकरों मे सर्व अन्तिम थे, इसलिये उन्हे 'चरम तीर्थङ्कर' अथवा 'अन्त्यकाश्यप' कहा है। वह 'काश्यप, नामसे अपने गोत्र की अपेक्षा प्रख्यात थे १। लोककल्याणके लिये उनका आदर्श जीवन था, इसलिये वह 'वसुधैक बाधव' कहे गये हैं २। महामान्य, माहण (ब्राह्मण) आदि अनेक नामों से उनका स्मरण भक्तजनों ने किया है३।

यद्यपि भ० महावीर के जीवन को हम तीन भागों में बंटा हुआ देखते है, परन्तु हमारे पास ऐसे प्रमाण नहीं हैं। जिनसे हम उनके क्रमिक विकास को स्पष्ट बता सके। महावीर ही क्या? प्रत्येक महापुरुषके जीवनके विषयमे यही देखा जाता है—उनके जीवनका बहुभाग अद्भुत बातों मे ही छिपा रहता है। फिर भी भ० महावीर के विषयमे जैनशास्त्रों के कथन से यह स्पष्ट है कि भगवान् एक समुन्नत समुदार, सुन्दर, सौम्य और सुधीर वीर राजकुमार थे। यद्यपि उनके दैनिक जीवन को जैन शास्त्र चित्रित नहीं करते, परन्तु उनमें नृपसिद्धार्थ का दैनिक जीवन लिखा मिलता है। पिता के चरित्र का प्रतिविम्ब पुत्रका

---

१. 'सन्मतिः महतिवीरः महावीरः अन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयः वर्धमानः यत्तीर्थमिह सांप्रतम् ॥११६॥'
'वीरः चरमतीर्थकृत्'—इति हेमचन्द्र. धनजयनाममाला
" समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।'
—दशवैकालिक ४

२. कनड़ी वर्द्धमानपुराण, जैग० २४।३२

३. जिनसहस्रनाम देखो

जीवन प्राय. होता ही है। उस से महावीर की दिनचर्य्या का अनुमान विज्ञ पाठक लगा सकते हैं।

'कल्पसूत्र' मे लिखा है कि "सूर्य्योदयके अनन्तर सिद्धार्थ राजा अवृनशाला अर्थात् व्यायामशाला मे जाते थे। वहाँ वे कई प्रकार के दण्ड वैठक, मुगदूर उठाना आदि व्यायाम करते थे। उसके अनन्तर वे मल्लयुद्ध करते थे। इसमे उनको वहुत परिश्रम हो जाता था। इसके पश्चात् शतपक तैल—जो सौ प्रकार के द्रव्यों से निकाला जाता था और सहस्रपक तैल जो एक हजार द्रव्यों से निकाला जाता था—से मालिश करवाते थे। यह मालिश रस रुधिर धातुओं को प्रीति करने वाला—दीपन करने वाला, वलकी वृद्धि करने वाला और सव इन्द्रियों को आल्हाद देने वाला होता था। व्यायाम के पश्चात् वह स्नान करते थे।"[1] उपरान्त वह देवोपासना में समय विताते थे। शुद्ध सात्विक भोजन करके राजकाज मे प्रवृत्त होते थे। इस वर्णन से स्पष्ट है कि भ० महावीर के पितृगृह का वायुमण्डल वहुत ही शुद्ध और पवित्र था। उसमे मानवी उन्नति के सवही साधन प्राप्त थे। उस पर भ० महावीर तो पूर्व जन्मसे ही अपार-पुण्य सचित करके आये थे। उनकी शारीरिक सम्पत्ति अतुल-और विपुल थी। उनका सौन्दर्य अनुपम था। उनकी वुद्धि का विकास अपूर्व था। वह समचतुरसंस्थान, वज्रवृषभनाराच सहनन वाले शरीर में मति-श्रुति अवधिज्ञान को धारण किये हुये संसार में अनूठे थे। वह महती प्रतिभा के धारी तेजस्वी नर-पुंगव थे। उनकी शिक्षा का सामान्य क्रम अनुमान करना एक विडम्बना है। उनका ज्ञान विशेप था। भला सामान्य पुरुप उन्हें क्या शिक्षा देता? वह सत्साहित्य और कला विज्ञान, शस्त्रास्त्र और राजनीति—सव ही विद्याओं में निपुण थे।

---

१. संमम० पृ० ११९-१२०

उन्होंने सहज में ही सब शास्त्र पढ़ लिये थे।

महावीरके समान पराक्रमी युवक मे विशेषत्व का केन्द्रित होना स्वाभाविक था। वे राज उद्यानों में राजकुमारों और देव-सहचरों के साथ अनूठी क्रीड़ाये किया करते थे। परन्तु उन क्रीड़ाओं से भी उनका परोपकार भाव अग्रस्थान रखता था। जैनशास्त्र कहते है कि युवक महावीर ने छोटी-सी आठ वर्ष की उम्र से ही जीवों पर दया करने, सच बोलने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य से रहने और अपनी आकांक्षाओं को सीमित रखने का दृढ़ सकल्प कर लिया था। दृढ़ चारित्र रूपी भव्य-भवन की नींव बाल्यकालके शुभ सस्कारों के आधार पर ही रक्खी जाती है। युवक महावीर भी संयमी और विवेकी अपनी युवावस्थामें मिलते है। वह लोकोपकार मे अपने तन-मनकी सुध भूल जाते है। एक दफा उन्होने सुना कि एक मदमत्त हाथी प्रजा को कष्ट दे रहा है--वह किसी तरह भी पकड़ने मे नहीं आता। राज-कुमार महावीर सुनते ही भागे गये और लोगों के देखते ही उन्होंने उस खूनी हाथी को निर्मद कर दिया। यह तो एक उदाहरण है—उनके जीवन में न जाने ऐसी कितनी घटनायें घटित हुई होंगी—उनका लेखा अब नहीं मिलता। किन्तु शास्त्रों के निम्नलिखित उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि उनकी महती परोपकार-वृत्ति की प्रसिद्धि नरलोक ही क्या, देवलोकतक फैल गई थी। एक दिन राजसभा मे बैठकर इन्द्रराजने राजकुमार महावीर वर्द्धमानकी उपकार भावना और निर्भीकचर्या की प्रशंसा की। देव समुदाय उसे सुनकर प्रसन्न हुआ। किन्तु एक देवके हृदय मे उसे सुनकर कौतुक उत्पन्न हुआ। वह झट से नरलोकमे अवतरा और कुण्डग्राम के उस उद्यान मे पहुँचा जिसमे राजकुमार महावीर वर्द्धमान अपने सखा-सहचरों के साथ आँख-मिचौनी खेल रहे थे। देव ने उनके बीचमे एक महाभयंकर काला नाग

प्रकट कर दिखाया। वह विषधर क्रुद्ध और क्षुभित हुआ अपने मुँह से विषभरी फुकार कर रहा था। बालक उसे देखते ही घबड़ाये और अपने २ प्राण लेकर भागने लगे। किन्तु राजकुमार महावीर ज़रा भी विचलित नहीं हुये। उन्होंने अपने सखाओं को विपत्तिमुक्त करना अपना कर्त्तव्य समझा—धैर्य से उन्होंने काम लिया। होशियारीसे उन्होंने उस साप को अपने वश कर लिया और उसके फण पर पैर रखकर मित्रों को अभय कर पास बुलाया। देव यह सब कुछ देखकर प्रभावित हुआ। वह कुमार के सम्मुख आकर नतमस्तक हुआ और अपनी धृष्टता के लिये क्षमा याचना करने लगा। कुमार महावीर उदार हृदय थे। उन्होंने देव से क्या कहा, यह तो मालूम नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि वह लोककल्याण के लिये अहर्निशि तन्मय रहते थे। देव ने 'अतिवीर' कहकर उन्हें नमस्कार किया और उनकी पवित्र-स्मृति लिये हुये वह अमरलोक को चला गया।१

राजकुमार महावीर क्रमश. यौवन लक्ष्मी को प्राप्त हुये। उनका नवीन कनेर के समान वर्णवाला सात हाथका मनोज्ञ शरीर, नि:स्वेदता आदि स्वाभाविक अतिशयों से युक्त सबका मन मोहता था।२ राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला अपने लाडले

---

१. उ०पु० पृ० ६०७-६०८ मथुरा कंकालीटीला से कुषाण कालीन एक ऐसा शिलापट उपलब्ध हुआ है, जिसमें देव-परीक्षा की इस घटना का चित्रण है।

२. जन्म से ही तीर्थंकर—नाम—कर्म प्रकृति के उदय से तीर्थङ्करों के यह दश अतिशय होते हैं, (१) मलमूत्र रहित शरीर, (२) पसीना न आना, (३) दूध के समान रक्त, (४) वज्रवृषभनाराच संहनन, (५) समचतुरस्र संस्थान, (६) अद्भुत रूप (७) अतिशय सुगन्धता, (८) एक हजार आठ लक्षणयुक्त शरीर (९) अनंतबल,

बेटे को देखकर फूले न समाते थे। महावीर की युवावस्था ने उन्हें सचेत किया—मां की ममता जागी। उन्होंने चाहा महावीर का विवाह हो जावे। राजा सिद्धार्थ ने उनके प्रस्ताव को सराहा। मंत्रियों न योग्य कुमारी से विवाह सम्बन्ध स्थिर करने के लिये राजदूत दौड़ाये। बडे-बड़े राजा-महाराजा अपनी २ राजकुमारियों का पाणिग्रहण संस्कार भ० महावीर से करने के लिये लालायित

---

(१०) और प्रिय हितकर वचन। इन अतिशयों में शङ्का करना व्यर्थ है, क्योंकि सामुद्रिक शास्त्रानुसार विशिष्ट शरीर होना सिद्ध है; जिसे आधुनिक विज्ञान भी अमान्य नहीं ठहराता। प्रत्यक्ष अनेक लक्षण अधुना लोकमान्य पुरुषों में मिलते हैं। मल-मूत्रादि के अभाव और दुग्धवत् रक्त के होने में भी कोई अचमा नहीं है; क्योंकि जिस तीर्थङ्कर नाम कर्म प्रकृति के उदया-नुसार शरीर-नाम-कर्म उनका निर्माण करता है, वह ही साधा-रण जीव-मनुष्य-पशु आदि के नाम कर्म से भिन्न होती है। शरीर निर्माण का कार्य नाम कर्म के ही आधीन है। तामसिक गुण की अधिकता से शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होता है; क्योंकि इस गुण को प्रधानता से ही मनुष्य को निद्रा आती है। आयु-र्वेदाचार्य सुश्रुत तमोगुण के आधिक्य से निद्रा का होना बताते हैं। (तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा प्रविशति देहिनाम्।) निद्रा जीवन की श्रेष्ठता को नष्ट करती है। किन्तु तीर्थङ्कर के तमोगुण का अत्यन्त अभाव होता है। इसीलिए उनको निद्रा नहीं आती और उनका स्वास्थ्य कभी नष्ट नहीं होता। आजकल भी कई सात्विक लोग ऐसे हैं जो निद्रा को जीत लेते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञा-निक एडीसन ८-८ दिन तक नहीं सोते। एक अन्य साहब महीने में कुछ घंटे ही सोते हैं। तीर्थङ्कर का शरीर ही साधारण मनुष्य के शरीर से भिन्न प्रकार का होता है—उनके मलमूत्रादि

हुये। कलिङ्ग देश के महाराज जितशत्रु अपने राजशिविर सहित कुण्डग्राम आये। उनकी यशोदा नामकी राजकुमारी अनुपम सुन्दरी थी। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला राजकुमारी यशोदा के रूपलावण्य और गुणों को देख कर उन्हें अपनी पुत्र वधू बनाने के लिये उत्कण्ठित हुये।[१] राजकुमार वर्द्धमान के सम्मुख

का अभाव अनहोनी बात नहीं है। आजकल भी ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें मलमूत्र की वाधा जल्दी नहीं सताती। अलीगढ़ जिले में एक मनुष्य लगातार बारह वर्ष तक पाखाने नहीं गया था और खाता-पीता रहा था। भस्मकव्याधि में नीहार होता ही नहीं। (बृहद् जैन शब्दार्णव १।१७१-७३) इसी लिए भ० महावीर का शरीर अनूठा था। सम्राट् खारवेल के शिलालेख में भी इसका उल्लेख निम्न प्रकार है:—

"... चेतिराजवसवधनेन पसथ सुभलखनेन चतुरंतलुठित गुनोपहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन। ... तदानि वधनान-मेसयो वेनाभि विजयो ततिये ... ... ।"

भावार्थ—"चेतिराज वंशवर्द्धन प्रशस्त शुभलक्षणों से सम्पन्न, चतुर्दिक्व्याप्त-गुणागरिमा-युक्त कलिंगाधिपति श्री खारवेल थे।" ..... जो अपने बाल्यकाल में राजकुमार वर्द्धमान के समान और अपनी विजयों में वेण के तुल्य थे।" सारांश यह कि भ० महावीर अपने अद्वितीय शरीरगठन और रूपराशि के लिए प्रसिद्ध थे।

१. 'हरिवंशपुराण' में कुमार महावीर की विवाह योजना का उल्लेख निम्न प्रकार है, जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने विवाह करना स्वीकार नहीं किया था —

"भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं, नृपेन्द्र सिद्धार्थ कनीयसीपतिं।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया, प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥६॥

उन्होंने विवाह का प्रस्ताव रखना उचित समझा। परन्तु महाराज सिद्धार्थ उनकी उदासीनवृत्ति जानते थे—उन्होंने रानी त्रिशला के सुपुर्द यह काम किया। रानी ने राजकुमार वर्द्धमान को बुला-

---

जिनेन्द्र वीरस्य समुद्भवोत्सवे, तदागतः कुण्डपुरं सुहृद्वृतः।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोऽयया खण्डलतुर्यल्वक्रमः ॥७॥
यशोदययां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम्।
अनेक कन्या परिवारयाऽऽरुहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा ॥८॥
स्मितेऽथ नाथे तपसि स्वयम्भुवि प्रजात कैवल्य विशाललोचने।"
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षिति क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययं ॥६॥

कुमार वर्द्धमान का मन तप-रमणी ने मोह लिया था। वह विवाह कैसे करते? किन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रों में लिखा है कि वर्द्धमान स्वामी का विवाह राजा समरवीर की कन्या यशोदा के साथ हुआ था, जिससे उनके एक पुत्री हुई थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायों का यह मतभेद अनूठा है, क्योंकि दिगम्बराम्नाय में कई एक तीर्थङ्करों के विवाह हुए वर्णित हैं। मालूम ऐसा होता है कि श्वेताम्बरियों ने सिद्धान्त भेद को प्रकट करने के लिये अन्तिम तीर्थङ्कर को विवाहित चित्रित किया है, क्योंकि दिगम्बर जैनी एक तीर्थङ्कर के पुत्री का होना स्वीकार नहीं करते। उस पर खास बात यह है कि स्वयं श्वेताम्बरी प्राचीन ग्रन्थों, जैसे 'कल्पसूत्र' और 'आचाराङ्गसूत्र' में भ० महावीर के विवाह का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बरीय 'आवश्यक निर्युक्ति' में स्पष्ट लिखा है कि भ० महावीर स्त्री पाणि-ग्रहण और राज्याभिषेक से रहित कुमारावस्था में ही दीक्षित हुये थे (नयइत्थिआभिसेआ कुमारविवासमि पव्वइया।) अतएव वल्लभीनगर में जिस समय श्वे० आगमग्रन्थ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा संशोधित और सस्कारित किये गये थे, उस समय प्राचीन आचार्यों के नामावली चूर्णि और टीकाओं में विवाह की बात बढ़ाई गई संभव

कर कहा कि "वत्स ! यह हमारा सौभाग्य है कि तुम हमारे यहाँ अवतरे हो—तुम तीर्थंङ्कर होकर इसी जन्ममें त्रिलोक्यपूज्य बनोगे ! तीनों लोकके प्राणी तुम्हारे दर्शन करने के लिये लाला-

---

दिखती हैं। उस समय गुजरात देश में बौद्धों की सख्या भी काफी थी। वल्लभीराजाओं का आश्रय पाकर श्वे० जैनाचार्य अपने धर्म का प्रसार कर रहे थे। बौद्धों को अपने धर्म में सुगमता से दीक्षित करने के लिए—उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उन्होंने अपने आगम-ग्रन्थों का संकलन बौद्धग्रन्थों के आधार से किया प्रतीत होता है और उनमें भ० महावीर के चरित्र को म० गौतम बुद्ध के चरित्र से बिल्कुल मिलता जुलता बना दिया गया है। बौद्ध यात्री हुनत्सांग ने अपने यात्रा विवरण (पृ० १४२) में स्पष्ट लिखा है कि श्वेतपटधारी जैनियों ने बौद्धग्रंथों से बहुत सी बातें लेकर अपने शास्त्र रचे हैं। हुनत्सांग का संकेत संभवतः श्वे० ग्रन्थों के इस सादृश्य को लक्ष्य करके ही है। अधुना पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि संभवत: श्वेताम्बरों ने श्री महावीर जी का जीवन वृतान्त म० गौतमबुद्ध के जीवन चरित्र के आधार से लिखा है। (बुल्हर, इंडियन सेक्ट आव दी जैन्स, पृ० ४५) "ललित विस्तार" और "निदानकथा" नामक बौद्धग्रंथों में जैसा चरित्र गौतमबुद्ध का दिया है, उससे श्वेताम्बरों द्वारा वर्णित भ० महावीर के चरित्र में कई बातों में सादृश्य है। (कैहिइं० १५६) उदाहरण रूप में देखिये यह सादृश्य जन्म से ही प्रारम्भ होता है। म० बुद्ध जानते थे कि वह स्वर्ग से चय कर अमुक रीति से जन्म धारण करेंगे। भ० महावीर के विषय में श्वेताम्बरीय शास्त्र कहते हैं कि उन्हें अपने आगमन का ज्ञान तीन प्रकार से था। युवावस्था के वर्णन में भी दोनों में सदृश वर्णन है। बौद्ध कहते हैं कि गौतम ने यशोदा को ब्याहा, श्वेताम्बर भी लिखते हैं कि महावीर ने यशोदा से विवाह किया था।

यित हैं! नन्दन! हम तुम्हें देखकर फूली अङ्ग नहीं समातीं, किन्तु हमारी एक साध है—पुत्रत्व की भावना हमे वाध्य कर रही है कि हम तुम्हे वधू सहित देखें। बोलो हमारी इच्छा पूरी करोगे!"

कुमार वर्द्धमान यह सुनकर मुस्करा दिये और बोले, "माँ यह तुम्हारी ममता का प्रदर्शनमात्र है। परन्तु माँ, तुमने दुनियां की ओर आँख पसार कर नहीं देखा—दुनियाँ कैसी दुखी है? शीलधर्म की कैसी छीछा लेदर हो रही है? वानप्रस्थी सन्यासी भी रमणी के मोहपाश से अपने को नहीं बचा पाये हैं—उनकी भी पत्नियाँ हैं! माँ, लोक कल्याण के लिये धर्म-तीर्थ की पुनर्स्थापना अत्यन्तावश्यक है। मैं विलम्ब कैसे करूँ?"

वह यह भी बताते हैं कि महावीर जी के माता-पिता ने उनको दीक्षा ग्रहण करने से रोका था; बुद्ध के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है। श्वेताम्बरों का मत है कि भ० महावीर की गृहस्थ अवस्था में ही उन के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था और उनके ज्येष्ट भ्राता नन्दिवर्द्धन राज्याधिकारी हुये थे। बौद्धग्रंथों में भी लिखा है कि सिद्धार्थ गौतम की माता जन्मतेही स्वर्गवासी हुई थीं और उनके नन्द नाम के भाई थे (साम्स०, पृ० १२६) म० बुद्ध 'सम्बोधि' प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी कवलाहार करते थे। (महावग्ग SBE पृ० ८२) भ० महावीर के विषय में भी श्वेताम्बरीय शास्त्र यही कहते हैं। म० बुद्ध के जीवन में उनके भिक्षुसंघ में मतभेद खड़ा हुआ था। (महावग्ग ८) श्वेताम्बर भी कहते हैं कि भ० महावीर के जमाई जामालि ने उनके विरुद्ध एक असफल विद्रोह किया था। इसी प्रकार के सादृश्य श्वे० मान्यता को शङ्कापूर्ण बना देते हैं। इस दशा में दिगम्बर जैनों की मान्यता समीचीन विदित होती है और यह ठीक है कि महावीर जी बाल ब्रह्मचारी थे।

रानी त्रिशला ने कहा, "बेटा ! यह ठीक कहते हो—मैं जानती हूं, तुम्हारा अवतार लोक कल्याण के लिये हुआ है। परन्तु अभी तो तुम्हारी युवावस्था है। यह गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने का अवसर है। राजकुमारी यशोदा से विवाह करके गृहस्थ धर्म का आदर्श स्थापित करो, यह भी एक कर्तव्य है। उपरान्त धर्मतीर्थ की स्थापना करना !"

महावीर तिलमिला उठे और दुःखी संसार का चित्र उनके नेत्रों के आगे उपस्थित हो गया। वह बोले, "माँ, क्या कहती हो। इस आयु-काय का क्या भरोसा ? संसार में फंसे रहना हो तो स्त्री-मोह में कोई पड़े ? माँ ! मुझसे यह नहीं होगा !"

माता त्रिशला यह सुनकर चुप हो रहीं। उनका हृदय पुत्रस्नेह से ओतप्रोत था—वह नहीं चाहतीं थीं कि उनके आग्रह से उनके सुकुमार परन्तु विवेकी पुत्र के मन को ठेस पहुँचे। वह कुमार महावीर की बातों पर विचार करने लगीं। उनके नेत्रों के आगे संसार-स्वरूप का करुण दृश्य खिच गया। उनके हृदय ने कहा, "कुमार ठीक कहते हैं। लोक अन्धा हो रहा है। उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये प्रकाश की जरूरत है। आयु सीमित है—काय क्षण भंगुर है। अच्छा है, जो भी स्वपर कल्याण बन पड़े।" राजकुमार वर्द्धमान महावीर के निश्चय की खबर चहुं ओर फैल गई। हताश होकर जितशत्रु राजा भी कलिङ्ग को लौट गये।

राजकुमार महावीर बाल ब्रह्मचारी रहे। कौमारावस्थामें उन्होंने राजसूत्रसंचालनमें नृप सिद्धार्थ का हाथ बंटाया। वह घर में वैसे ही रहे जैसे कमल जल से अलहदा रहता है।

वैराग्य और दीक्षाग्रहण

"जीवन का है लक्ष्य नहिं, भौतिक सुखका भोग।
विषय वासना तज करो, परम शान्ति उपभोग॥"

—'अज्ञात'

भगवान् महावीर ने अपने उत्तम जीवन का प्रारम्भिक भाग पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करके जीवन रहस्य के तत्वों की शोध और अनुभव करने में बिता दिया। लोकहित के कार्यों मे निरत रहकर उन्होंने 'सत्य' के प्रत्यक्ष दर्शन किये। जीवन के आदर्श का महत्व उन्होंने आंका—पार्थिवता में नहीं, आत्मिकता में उन्होंने सत्य को पाया। इसलिये आत्मा की उपासना करने के लिये वह लालायित हो उठे।

निस्सन्देह प्रत्येक महापुरुष के जीवन में एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह विषय-वासनाओं और भोगों से सर्वथा विरक्त होकर यथार्थ सत्य को प्राप्त करने के लिये व्यग्र हो उठता है—आत्मासंयम की उच्च भावनाओं मे रमण करना उसे प्यारा लगता है। है भी यह ठीक क्योंकि जीवन को आदर्श बनाने अथवा आत्मशुद्धि के लिये जीवित रहना ही जीवन का प्रधान उद्देश्य हो सकता है। धन-सम्पत्ति, राज, भोगविलास आदि वस्तुये तो वाह्य साधन हैं और अपूर्ण हैं, क्यों कि वे स्वयं नाशवान हैं। लॉर्ड अवेबरी ने उनके विषय मे ठीक कहा है कि "धन हमे सुखी नहीं बना सकता, ऐहिक सफलता हमे सुख तक नहीं पहुँचा सकती, मित्रगण हमे सुखी नहीं कर सकते और स्वास्थ्य एवं शक्ति भी हमको सुखी नहीं बना सकती! यद्यपि यह सब वस्तुयें सुखके लिये हैं, परन्तु इनसे वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। हॉ, प्रकृति सब कुछ कर सकती है। वह हमको सुस्वास्थ्य, धन, दीर्घ आयु आदि सब ही वस्तुयें प्रदान

कर सकती हैं। पर वह भी सच्चा सुख नहीं दे सकती हैं। सुख पाने के लिये तो हममे से प्रत्येक को स्वयं स्वावलम्वी होकर प्रयत्नशील होना चाहिये। इस वातको हमारी भाषा भलीभांति सिद्ध करती है। देखिये, जिसदिन हमें सुख मिलता है, उस दिन उसे व्यक्त करने के लिये हम क्या कहते है ? हम यही कहते हैं न कि 'हमने अपना खूब आनन्द भोगा।' ('We say, we have enjoyed ourselves') हमारी मातृभाषा का यह सम्वोधन विशेष अर्थको लिये हुये हैं। हमारा सुख हम पर ही निर्भर है।"

निस्सन्देह यह सुख हमारी आत्मा मे ही मौजूद है—हमें वाहर भटकने और नये २ मार्गों को ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है। पार्थिवता का मूल्य जीवन में कुछ नहीं है—आत्मिकता ही कीमती चीज़ है। 'कोहेनूर हीरा' अकेला ही वड़ा कीमती है—कहते हैं साढ़े पाच करोड़ रुपये उसका मूल्य है। किन्तु नेत्रहीन के लिये उसका मूल्य कुछ भी नहीं है। नेत्र ही नहीं तो जग ही नहीं, फिर भला कोहेनूर हीरे का मूल्य उसके निकट कानी कौड़ी भी न हो तो आश्चर्य ही क्या ? अब सोचिये, हीरा ज्यादा कीमती हुआ या नेत्र ? फिर जरा आगे विचारिये कि नेत्र से भी अधिक मूल्यमयी वह आत्मोपयोग है जो नेत्र-दर्शन के भाव को ग्रहण करता है। यदि शरीर में वह अमोल आत्मरत्न न हो तो नेत्र भी व्यर्थ हैं। अतएव लोक मे सर्वश्रेष्ठ मूल्य और महत्व का पदार्थ आत्म-रत्न ही है। तत्ववेत्ता लालन कहते हैं कि "आश्चर्य तो यह है कि इस ऐहिक कोहेनर में—वाह्य पदार्थों में मनुष्य मोह रहा है, परन्तु नेत्र रत्न की कीमत नहीं जानता है। कदाचित उसकी कीमत भी जान लेता है तो आत्मरत्न की कीमत नहीं जानता है और न उसकी दरकार करता है। किन्तु यदि वह अन्तर्दृष्टा वन जाय तो वह उस आत्मा के दर्शन करे

कि जिसकी कीमत अपरम्पार है !" इस सत्य को लक्ष्य करके ही जैन कवि कहते है कि:—

"जो जगके सुखमें सुख होवहि, तौ किम् कानन जावहिं राजा;
कोटि विलास तजहिं किहि कारण, छांड़हिं वे किम राज समाजा।
सूझ परै जबही उनको, निजका घर ध्यान सुधारहिं काजा;
रे मन ! तोहि न सूझ परै, जगके सुखचाह न लागत लाजा।"॥

युवक महावीर ने इस सत्य का मनन और अनुभव किया था। उन्होंने उसके अनुसार अपने जीवन प्रवाह को बदलना स्वीकार कर लिया। राजकीय ऐश्वर्य और विलासकी प्रचुर सामग्री उन्हे मोहित न रख सकी। तीस वर्ष की अवस्था मे उनके अन्तर्जगत् मे एक क्रान्ति उपस्थित हुई। वह विचारने लगे कि "मैं तीन ज्ञान नेत्र रखता हूँ, आत्मज्ञानी हूँ, फिर भी मैंने एक मूर्ख के समान अपने जीवन का इतना अमूल्य समय वृथाही गृहस्थाश्रममे रह कर खो दिया। अब अविलम्ब महा-संयम को धारण करना ही उपादेय है।" पूर्व जन्मान्तरों के दृश्य उनके आगे नाचने लगे, जिनसे उनका निश्चय दृढ़ हो गया।

निस्सन्देह लोकमे त्याग, संयम और सत्यानुष्ठानके विना सफलता प्राप्त नहीं होती है। सामान्य कार्यों की सफलता के लिये जब इन बातों की आवश्यकता है, तब परमसुख पाने के लिये—आत्मरत्न को प्रकाशित करने के लिये कितने न बड़े त्याग-वैराग्य और संयमानुष्ठान की आवश्यकता होगी ? इसी-लिये एक दिन राजकुमार महावीर महान् अनुष्ठान करने के लिये तुल पड़े। वह मंगसिर शुक्ला दशमी का शुभ दिन था। उस दिन दर्शकों की हर्ष ध्वनि मे सांसारिक सुखों को लात मार

करके परम १ सुख पाने के लिये उन्होंने दिगम्बरीय दीक्षा धारण करली ! ऊँचे ऊँचे विशाल मन्दिरों, राजभोगों, रसभरी रमणी के हासपरिहासों और स्वामीभक्त प्रजा के मोहपाशों को तोड़कर वे वनवासी वन गये। माता त्रिशला ने सुना तो वह पुत्र वियोग से विह्वल हो गई, परन्तु वह महावीर के अन्तरङ्ग को जानतीं थीं। वह यह भी जानतीं थीं कि महावीर का जन्म मेरे लिये ही नहीं और नहीं ही ज्ञातृ क्षत्रियों के लिये हुआ है, वल्कि वह लोक की विभूति है—लोककल्याण के कर्त्ता हैं—लोकोद्धार के लिये ही वे जन्मे हैं। एक सच्ची क्षत्रियाणी की तरह उन्होंने वीरभाव प्रदर्शित किया और वड़े गर्व से अपने लाडले पुत्र को दीक्षाग्रहण करने के लिये विदा किया।

दीक्षाग्रहण के इस अपूर्व अवसर पर युवक महावीर की

---

१. श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' में कथन है कि यद्यपि भ० महावीर दिगम्बर वेष में रहे थे, परन्तु इन्द्र का दिया हुआ 'देवदूष्य' वस्त्र धारण करते थे। दीक्षा के दूसरे वर्ष में उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया था और वे अचेलक (नग्न) हो गये थे। इस पर पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं कि "भगवान् के समयवर्ती आजीवक आदि सम्प्रदाय के साधु भी नग्न ही रहते थे। पीछे जब दिगम्बरी वृत्ति साधुओं के लिए कठिन प्रतीत होने लगी होगी और इसलिए देशकाला-नुसार उनके लिए वस्त्र रखने का विधान किया गया होगा, तब यह देवदूष्य की कल्पना की गई होगी। भगवान् रहते थे नग्न, पर लोगों को वस्त्र सहित ही दिखलाई देते थे, श्वेताम्बर सम्प्रदायके इस अतिशय का फलितार्थ यही है कि भगवान् नग्न रहते थे।" (जै० हि०भा० १३) बौद्ध और ब्राह्मण शास्त्रों से भी यही सिद्ध होता है।

अभिवन्दना करने और उनके अद्वितीय निश्चय को सराहने के लिये स्वर्गलोक के विरक्त परिणामी लौकान्तिक देव भी कुण्डलपुर आये थे, यह जैनशास्त्र बताते हैं। यह है भी स्वाभाविक— जिसे जो वस्तु प्यारी है और जिससे उसकी तृप्ति होती है, उसके निकट वह स्वतः ही पहुँच जाता है। लौकान्तिक देवगण विरागी आत्मानुभवी होते हैं। तीर्थङ्कर के महावैराग्य और श्रेष्ठ परिणाम विशुद्धि का रसास्वादन करने के लिये वे कुण्डलपुर में आये और नतमस्तक हो बोले कि "स्वामिन्! मोहरूपी कीचड़ में फंसे हुये भव्य जीवों को आपही हस्तावलम्बन देकर बाहर निकालेंगे, क्योंकि आप धर्मतीर्थ के प्रवर्ताने वाले हैं। इसलिये हे गुणसमुद्र! आपको नमस्कार है!" इस प्रकार स्तुति करके लौकान्तिकदेव देवालय को लौट गये।

उपरान्त देवों और मनुष्यों ने मिलकर भगवान् का तपकल्याणक महोत्सव मनाया। युवक महावीर ने उस समय अपनी सारी वस्तुये दान करदीं—अपनी विशाल सम्पत्ति याचकों मे बांट दी। बाद में, वह श्रेष्ठ रत्नमई 'चन्द्रप्रभा' नामक पालकी पर आरूढ़ हुये और भव्यजनों के तुमुल जयनाद के बीच वह कुण्डलपुर के बाहर निकले। नायखंडवन अथवा ज्ञातृखंडवन उद्यान मे वे पहुँचे और पालकी से उतर पड़े। वहाँ एक निर्मल स्फटिकमणि का शिलासन था, जिससे सटा हुआ अशोक वृक्ष लहलहा रहा था। राजकुमार महावीर ने सर्व वस्त्राभूषणों का त्याग कर के यथाजात शिशुवेष को धारण किया और वह उस अशोकवृक्ष के नीचे शिलासन पर उत्तर दिशा को मुख करके विराज गये। उन्होंने 'सिद्धपरमेष्ठियों' को नमस्कार किया और सर्व वाह्याभ्यन्तर परिग्रह-त्यागका व्रत धारण किया। उन्होंने अट्ठाईस मूलगुणों को पालन करने की महाप्रतिज्ञा की और

जैन श्रमण का दैनिक जीवन साधारण मनुष्य को बड़ा ही कठिनसाध्य और अव्यवहार्य जँचता है, परन्तु उस श्रमण को वही बड़ा प्यारा होता है। इस का कारण दोनों का दृष्टिभेद है। गृहस्थ की दृष्टि विकार और मोह से अनुरंजित होती है—वह योग-विराग की बातों को क्या समझे? उसकी तराजू ममता है —विकार है। इसीलिये वह योगी के जीवन को अव्यवहार्य मानता है। योगी अपने जीवन को ममता से परे उठा लेगया है। उसे मोह और विकार नहीं सताते-देह की ममता भी उसे नहीं होती। वह खुशी बखुशी साधु जीवन की कठिनाइयों को सहन करने मे रस लेता है। इसीलिये वह अन्त में आत्म विजयी वीर बनता है। जैनधर्म में इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को लक्ष्य करके ही साधु जीवन के लिये अट्ठाईस मूल गुण आवश्यक बताये गये हैं—उनको धारण किये बिना कोई भी मनुष्य साधु नहीं हो पाता। वे यह हैं.—

(१) अहिंसा महाव्रत—पूर्णत हिंसा का त्याग।
(२) सत्य „ — „ सत्य धर्म का पालन।
(३) अस्तेय „ — „ अस्तेय „ „ ।
(४) ब्रह्मचर्य „ — „ ब्रह्मचर्य „ „ ।
(५)) अपरिग्रह „ — „ अपरिग्रह „ „ ।
(६) ईर्यासमिति—प्रयोजनवश निर्जीव मार्ग से चार हाथ ज़मीन देखकर चलना।
(७) भाषा समिति— स्वपर कल्याणकारी हितमित वचन बोलना।
(८) एषणा समिति— समभाव से बिना निमंत्रण स्वीकार किये भिक्षा वेला पर शुद्ध आहार ग्रहण करना।
(९) आदान निक्षेपण समिति—ज्ञानोपकरणादि-पुस्तकादि को देखभाल कर धरना उठाना।

(१०) प्रतिष्ठापना समिति—एकान्त हरित व त्रसकाय रहित स्थान मे मल मूत्र क्षेपण करना।

(११-१५) पांचों इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना।

(१६) सामायिक—जीवन-मरण, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, भूख-प्यास आदि बाधाओं मे रागद्वेष रहित समभाव रखकर ध्यान करना।

(१७) चतुर्विंशतिस्तव—ऋषभादि तीर्थङ्करों की स्तुति करना।

(१८) वन्दना—देव, गुरु, शास्त्र को नमस्कार करना।

(१९) प्रतिक्रमण—दोष को शोधना और प्रगट करना।

(२०) प्रत्याख्यान—अयोग्य के त्यागका नियम लेना,व्रत पालना।

(२१) कायोत्सर्ग—एक नियत काल के लिये देह से ममत्व त्याग कर खड़े होना।

(२२) केशलोंच—नियत काल मे उपवास पूर्वक अपने हाथ से बालो का उखाड़ना।

(२३) अचेलक—वस्त्रादि से शरीर नहीं ढकना।

(२४) अस्नान—स्नान-अञ्जनादि का त्याग करना।

(२५) क्षितिशयन—शुद्ध एकान्त स्थान में एक करवट से लेटना।

(२६) अदन्तधावन –दतौन आदि नहीं करना।

(२७) स्थित भोजन—अपनी अंजुली मे समपाद खड़े होकर भोजन करना, और

(२८) एक भक्त – सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी समय छोड़कर एक बार भोजन करना।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूल गुणों को पालना एक साधु के लिये अनिवार्य है। साधु अध्यात्मवाद का साधक है-उसे साधना द्वारा अपने गुप्त आत्मवैभव को प्रकाशित करना है। हीरे की कीमत सान पर चढ़ जाने के बाद ही अंकती है-तभी उसमें चमक आती है। साधु भी साधना द्वारा चमकता है और लोक पूज्य

बनता है। योगिराट् महावीर से यह सत्य छिपा नहीं था। दीक्षा लेते ही उन्होंने ढाई दिन के लिये अनशन व्रत ग्रहण किया था-वह एक दम ध्यान में लीन हो गये थे। इस उपवास की परिसमाप्ति पर वह उठे थे और कूल्य पुर (कोल्लग सन्निवेश) मे पारणा के लिये पधारे थे[1]। वहांके ज्ञातृक कुलनायकने तीर्थङ्कर महावीर को विधि पूर्वक पड़गाहकर क्षीरादि उत्तम आहार प्रदान किया था। भगवान महावीर का यह पहला पारणा था।

कुंडलपुर से भगवान् महावीर दशपुर गये थे। कुलनायकनृप ने वहाँ भी जाकर भगवान को दूध और चांवल का मीठा आहार दिया था। वह भगवान के अनन्य भक्त थे। उनके राजसी जीवन की सुकुमारता से उन्हें परिचय होगा। वह नहीं चाहते थे कि युवक योगिराट् को किसी तरह का कष्ट हो। यही वह मोह है, जिससे युवक महावीर परे पहुँच चुके थे। तो भी परमोत्कृष्ट पात्र को दान देकर उस नृप ने महती पुण्य संचित किया। उसके घर पर देवों की दुंदुभि बजी और पंचाश्चर्य हुये।

उपरान्त भगवान् महावीर ने निर्जन और दुरूह वनों मे

---

१. दिगम्बर जैन शास्त्रों में कुलग्राम के राजा कुलनृप के यहां भगवान् का प्रथम पारणा हुआ लिखा है। (उ० पु० पृ० ६११) अर्थात् राजा और नगर का नाम एक ही है। 'नायखंडवन' जहाँ भगवान ने दीक्षा ली थी, कोल्लग सन्निवेश के अति निकट था और कोल्लग का अपर नाम 'नायकुल' ग्राम भी था। (सजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ४६) अतः दिगम्बर शास्त्रों का कुलग्राम यह कोल्लग अथवा 'नायकुल ग्राम' ही प्रतीत होता है, जहाँ ज्ञातृक वंश के क्षत्रिय रहते थे। दिगम्बराचार्य ने वहाँ के ज्ञातृकवंशी नायक का उल्लेख 'कुलनृप' रूप से ठीक ही किया है; क्योंकि वह भगवान् के कुल का ही राजा था।

विहार करके योग साधना की थी। वह तीन दिन से ज्यादा एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। हाँ, वर्षा ऋतु को विताने के लिये वह चार महीने एक स्थान पर ठहर कर अवश्य विताते थे। योगचर्या और तपस्या मे उन्होंने बारह वर्ष व्यतीत किये थे-बारह वर्ष तक वह छद्मस्थ रहे थे। इसलिये ही वह उपदेश नहीं देते थे-मौन रहते थे। इस बारह वर्ष की तपस्या में उन्होंने बारह चातुर्मास विभिन्न स्थानों पर रहकर व्यतीत किये थे। दिगम्बर जैन शास्त्रों में उनके नाम नहीं मिलते। हाँ, श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' मे लिखा है कि भगवान् महावीर ने पहला चातुर्मास अस्थिग्राम में व्यतीत किया था। उपरान्त उन्होंने क्रमश नालन्दा, चंपापुरी, पृष्ठचंपा, भद्दीया, आलभिका, राजगृह, लाढ, श्रावस्ती, विशाला और चम्पापुर में चातुर्मास माढ़े थे। अस्थिग्राम का अपर नाम वर्द्धमान भी कहा गया है और वह आज कल बंगाल प्रान्त में मिलता है। भ० वर्द्धमान के प्रथम वर्षा का स्थान अस्थिग्राम उनके संसर्ग में आकर के उनके नाम से ही प्रसिद्ध हो गया-यह सत्य घटना भ० महावीर के प्रभाव को स्वयं व्यक्त करती है। नालन्दा विहार प्रान्त मे एक मुख्य नगर था। आजकल जैनी जिस स्थान को कुंडलपुर (बड़ागाव) कहकर पूजते हैं वह मूलत नालन्दा ही है। पुरातत्व विभाग ने वहीं पास मे नालन्दा के खंडहरों को खोद निकाला है। भ० महावीर ने जब वहाँ पर अपना दूसरा चौमासा विताया था, तब वह एक बड़ा नगर था। नालन्दा से योगिराट् महावीर चम्पापुरी पहुँचे जो अङ्गदेश की राजधानी थी। वर्तमान भागलपुर से पूर्व की ओर २४ मील की दूरी पर पथर घाट के पास आज भी चम्पापुर नामक एक ग्राम बसा हुआ है। यहीं पर प्राचीन चम्पा ने युवक योगिराट् महावीर का स्वागत किया था। पृष्ठचम्पा और भद्दीया भी उसी के आस पास अनुमान की

जा सकती है। आलभिका आज कल ऐरवा कहा जाता है। जो इटावा से उत्तर पूर्व में सत्ताईस मील दूर अनुमान किया गया है। किन्तु राजगृह आज भी अपने प्राचीन नाम से प्रसिद्ध है और विहार प्रान्त का एक मुख्य तीर्थ है। वहां से भ० महावीर लाढ़देश को प्रस्थान कर गये थे और वहीं पर उन्होंने वह चौमासा विताया था। प्राचीन समय के आर्य देशों मे लाढ़ भी एक था, परन्तु जिस समय भ० महावीर वहां पहुँचे थे, उस समय वहाँ अनार्य लोग वसे हुए थे। भारत में उस समय आर्य और अनार्यों की भी एक विकट समस्या थी। इस कारण लाढ़ के अनार्यों ने भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त कठोर वर्ताव किया था। अपने शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ा था और जितने भी शारीरिक कष्ट वह पहुँचा सकते थे पहुँचाये थे, परन्तु भगवान् ने उनको समभाव से सहन किया था—वह योगपथ से जरा भी विचलित नहीं हुये थे—उन कष्टों से उनकी आत्मा का उत्कर्ष हुआ था। लाढ़देश की राजधानी कोटिवर्ष आज तक वंगाल के दीनाजपुर जिले का वाणगढ़ वताया जाता है। यही नहीं किन्तु लाढ़ देश में चौमासा माढ़कर भ० महावीर ने मौन अनुष्ठान द्वारा आर्य-अनार्य संघर्ष का अन्त किया था। योगिराट् महावीर के सम्मुख हिंसक उपायों को निरर्थक हुआ देख कर वे अनार्य अहिंसा के महत्व को अनायास समझ गये और अहिंसा के भक्त वने। उपरान्त वहाँ से भगवान् भ्रमण करते हुये अगला चातुर्मास विताने के लिये श्रावस्ती पहुँचे संयुक्तप्रान्त के गोरखपुर जिले का सहेठ महेठ ग्राम वह प्राचीन श्रावस्ती है, जो प्रभु महावीर की पादरज से पवित्र हो चुकी है। श्रावस्ती के पश्चात् भ० महावीर का चौमासा श्वेताम्बरीय मतानुसार उनके मातुलनगर विशाला में हुआ और वहाँ से वह अपना वारहवाँ चौमासा विताने फिर चम्पापुर में आ विराजे थे।

इस भ्रमण में भ० महावीर एक दफा कौशाम्बी भी पधारे थे। कौशाम्बी में मौन भाषा में, केवल अपने आदर्श कार्य द्वारा अपना पतित पावन रूप प्रकट किया था। उन्होंने वहाँ सती चन्दना का उद्धार किया था। चन्दना वैशाली के प्रमुख राजा चेटक की सर्वलघु पुत्री थी। सुन्दर सुकुमार उनका रूप था। राजोद्यान में वह एक दफा घूम रही थी। एक विद्याधर ने उन्हें देखा—चन्दना के रूप ने उसे काम पिचाश बना दिया। वह चन्दना को उठाकर ले भागा। पृथ्वी पर होती तो एक बात थी—विद्याधर चन्दना को लिए आकाश मे उड़ा जा रहा था। बेचारी क्या करती? हा, अपने धर्म पर दृढ़ थी वह। विद्याधर उसका कुछ विगाड़े कि इसके पहले ही उसकी विद्याधरी आ गई। वह डर गया। उसने चन्दना को बन में अकेला छोड़ दिया। भीरु पामर और करही क्या सकते हैं? शक्तिधर के सामने उनका दुस्साहस काफूर हो जाता है। शोकातुर चन्दना को उस समय एक भील ने सान्त्वना दी और उसे वह अपने सरदार के पास ले गया। बेचारी खाई से निकलकर खंदक मे पड़ी। वह दुष्ट भील चन्दना को बहु त्रास देने लगा परंतु चन्दना अपने शील धर्म पर अटल रही। भीलने निराश होकर चन्दना को एक व्यापारी के हाथ बेच दिया। व्यापारी चन्दना को कौशाम्बी में लाया और चौराहे पर खड़े होकर मोलतोल करने लगा! आह! कैसा वीभत्स होगा दृश्य वह? लोगों की मानवता उस समय पशुता मे पलटी हुई थी! परन्तु विचारी चन्दना क्या करती? कर्मविपाक समझ कर वह सब-कुछ सहन कर रही थी। वह जमाना ही ऐसा था! स्त्रियों का कोई मूल्य न था! किन्तु चन्दना को यह मालूम न था कि उसके दु:खों का अन्त निकट है। वह अपने दुखपाश ही नहीं काटेगी बल्कि स्त्री जगत के दुखों का अन्त करेगी। वृषभसेन सेठ ने उसे देखा।

उन्हे भास हुआ, वह मुसीवत में पड़ी हुई कोई सम्भ्रान्तकुल की ललना है। दयावान सेठ ने व्यापारी को मुंह माँगे दाम देकर चन्दना की रक्षा की। वह उसे अपने घर लाया और पुत्रीवत् उसका लालन-पालन करने लगा। चन्दना-सी सुन्दरी पर सेठ नैसर्गिक प्रेम करे, यह उसकी सेठानी को अखरा। उसके वासना मय हृदय ने उस पवित्र प्रेम मे दुर्गंधि को सूंघा। स्त्री का हृदय उसे कैसे बरदाश्त करता? सेठानी ने चन्दना को बन्धन में डाल दिया! दैव दुर्विपाक ने अपना प्रचण्ड रूप दिखाया। चन्दना चुप-सी उसे सहन करती थी। आखिर इस अति का भी अन्त हुआ! भगवान् महावीर कौशाम्बी की गलियों में पारणा के लिये ईर्यापथ से घूम रहे थे। वह बड़ी अटपटी 'आखड़ी' करके आये थे। उन्होंने नियम किया था कि मुंडसिर और बधन युक्त युवती सूप में रखकर यदि आहार देती मिलेगी तो वह उस रोज आहार लेंगे। भला यह कहाँ कैसे सुलभ होता? देहली पर खड़ी एक पैर आगे बढ़ाये हुये राजकुमारी दासी के रूप में पड़गावे उन तपोधन को, तो वह आहार ले! यह कठोर अभिग्रह किया था। योगिराट् महावीर ने कर्म शत्रु की शक्ति का अन्त करने के लिये! अन्तराय कर्म विचारा उनके तप-तेज के सामने क्या ठहरता? कुमारी चन्दना ने नैपथ्य में सुनी 'भ० महावीर की जय!' वह उत्सुकता की मूर्ति बनी द्वारपर आ खड़ी हुई-हाथ मे उसके सूप था, जिसमें पुराने कोदों के दाने रक्खे थे। दासी को खाने के लिये और मिलता भी क्या? देहली पर खड़ी हुई चन्दना ने भ० महावीर को भर नैन देख कर अपने भाग्य को सराहा और मस्तक नवाया! दूसरे क्षण उसने देखा, भगवान् उस की ओर आ रहे हैं। वह भी भक्ति विकल हो गई—भूल गई अपनी असमर्थता! अनायास ही उसने पड़गाह लिया भगवान् को। निरन्तराय आहार हुआ।

पुण्य प्रभाव से कोदों के दाने खीर हो गये ❀। देवोंने पंचाश्चर्य वर्षा कर हर्ष जताया। लोगों ने कहा, 'धन्य हैं पतित पावन भगवान् महावीर जिन्होंने पद दलित कुमारी का उद्धार किया! धन्य है, सेठ वृषभसेन जिन्होंने दासी चन्दना को आश्रय दिया।" ब्राह्मणों के प्रभुत्व में दबा हुआ समाज पराये घर में बलात्कार रक्खी गई कुमारी को कैसे आश्रय देता? परन्तु दयावान थे सेठ वृषभसेन! उन्होंने समाज की परवाह नहीं की—लोकमूढ़ता में वह नहीं बहे। चन्दना की उन्होंने रक्षा की और विश्वोद्धारक महावीर ने अपने मूक आदर्श कर्म द्वारा उन के सत्कर्म मे चार चाँद लगा दिये! धन्य थे पतितोद्धारक प्रभू! कौशाम्बी मे बड़े-बड़े सेठ साहूकार उनके आतिथ्य के लिये लालायित नेत्रो से देखते रहे; परन्तु भगवान् तो लोक कल्याण के लिये योगी हुये थे। उन्होंने अपने उदाहरण से लोक को यह पाठ पढाया कि वह पतित से घृणा न करे। जो अपनी कमजोरी से अथवा बलात् धर्मपद से च्युत हुआ है उसे पुनः उस पद पर स्थापित करना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। मानव मानव मे कोई अन्तर नहीं है। मानव को क्रीतदास बनाकर रखना मानवता नहीं है। सब ही मानव स्वाधीन हैं। कौशाम्बी भर मे भगवान् के इस आदर्श कार्य की धूम मच गई। रानी मृगावती ने भी वह सुना। वह महाभाग चन्दना को देखने आई, बन्धन में पड़ी दासी का यह सौभाग्य! वह लोक के लिये ईर्ष्या की वस्तु थी, क्योंकि लोक तो उसे दासीवत् ही जानता था। भ० महावीर को लोक का यह बुरा व्यवहार अखरा—यह

❀ 'सो वह तक्र कोदन्न चोद, तदुल खीर भयो अनुमोद।
माटी पात्र हेममय सोय, धरम तनैं फल कहा न होय।।३६१।'
—श्री वर्द्धमान पुराण,

तो मानव को दानव वनाने वाला था! वलात् किसीको जीवनभर के लिये दास वनाकर रखना मानवता नहीं, वल्कि क्रूर पाशविकता है। भ० महावीर ने मुँह से नहीं वल्कि अपने कर्म से चन्दना का उद्धार करके दास प्रथा का अन्त करने का आदर्श उपस्थित किया। जव रानी मृगावती ने उसे देखा तो वह अपनी आँखों पर विश्वास न कर सकी! वह तो उसकी छोटी वहन थी। उसकी प्रसन्नता का वारपार न था। वह चन्दना को राज महल ले गई। चन्दना ने अपने उद्धार पर संतोष की सास ली जरूर, परन्तु उसने नेत्र पसार कर देखा, दुनिया मे उस-सी दुखिया वहुत हैं। काश भ० महावीर सवका उद्धार करें। वह उस दिन की प्रतीक्षा में रही!

यह तो एक उदाहरण है। अपने भ्रमण में योगिराट् महावीर ने अपने मौन और शात रूप मे न जाने किन २ जीवों का उद्धार किया था। अस्थिग्राम मे जव उन्होंने पहला चौमासा माढ़ा तो वहाँ का क्रूर यक्ष उनके सहनशील शांत रूप से प्रभावित होकर अपनी क्रूरता खो वैठा! अस्थिग्राम निवासियों का संकट स्वयमेव दूर हो गया! अव यक्ष उन्हे नहीं सताता था। श्वेताम्वी नगरी के निकट एक दृष्टिविष सर्प को शान्त वनाकर उन्होंने लोगों को अभय वनाया था। जव वह एक दफा गंगानदी की रेती को पवित्र करते हुये जा रहे थे, तव उनके पद चिन्हों को पुष्प नामक एक ज्योतिषी ने देख कर समझा था कि कोई चक्रवर्ती वहाँ से गया है। वह आगे वढ़ा और देखा कि एक अशोक वृक्ष के नीचे प्रभू महावीर कायोत्सर्ग खड़े हुये हैं। उनके मस्तक पर मुकुट चिन्ह और भुजाओं में चक्र चिह्न उसने देखे। ज्योतिषी अवाक् रहा सोचने लगा कि 'यह आश्चर्य है—'चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त यह पुरुष भिक्षुक है! क्या सामुद्रिक शास्त्र झूठा है?' किन्तु श्वे-

ताम्बरीय जैन शास्त्र मे आगे लिखा है कि इन्द्र ने उस ज्योतिषी की द्विविधा दूर की और कहा—"शास्त्रमे शङ्का क्यों करते हो ? तुम तो अभी इन भिक्षुराट् के वाह्य लक्षणों को ही जानते हो— उनके अन्तर्लक्षणो से अपरिचित हो। इन प्रभू का मांस और रुधिर दूध के समान उज्ज्वल और सफेद है। इनके मुख कमल का श्वास कमल की खुशवू के समान सुगन्धित है। इनका शरीर निरोगी और मल-स्वेदादि रहित अपर्व है। ये तीनों लोक के स्वामी, धर्मचक्री विश्व के आश्रय दाता राजा सिद्धार्थ के पुत्र महावीर है। इन्द्र-नरेन्द्र सभी इनके सेवक हैं। इनके सम्मुख चक्रवर्ती किस गिनती मे हैं ? शास्त्र मे कहे लक्षण ठीक है। तुम शंका न करो !' ज्योतिषी प्रसन्न हुआ इन्द्र ने उसे इच्छित फल दिया।

निस्सन्देह यह भगवान् महावीर की योग साधना का प्रभाव था कि यद्यपि वह मौन रहते थे—किसी को उपदेश नहीं देते थे, फिर भी अपने व्यक्तित्व से लोक को प्रभावित करते थे—उसे अहिंसा और सत्य के दर्शन कराते थे। सत्य-निष्ठा और योगाचार्य का प्रभाव कार्यकारी होता ही है। भ० महावीर के छद्मस्थ जीवन मे हमें उसकी पूर्णता के दर्शन होते है। धन्य थे महावीर योगिराट्।

(११)

विविध-उपसर्ग-विजय !

निरपराध निर्वैर महामुनि तिनको दुष्ट लोग मिल मारैं;
कोई खैंच खम्भ से बांधें, कोई पावक में परजारैं ।
तहां कोप नहीं करैं, कदाचित पूर्व कर्म विचारैं,
समरथ होय सहें वध वन्धन, ते गुरु सदा सहाय हमारैं ॥

—कविवर भूधरदास जी,

प्रवृत्ति और निर्वृत्ति जीवनोत्कर्ष के दो मार्ग हैं । प्रवृत्ति से मनुष्य की ससार-स्थिति वढ़ती है—शुभाशुभ कर्मों का वन्ध उसमें होता है। किन्तु सावारण मनुष्य उसका सहारा लेकर निर्वृत्ति मार्ग को ओर वढ़ता है। निर्वृत्ति मे कर्मों की निर्जरा है—ससार की कमजोरियों को जीत कर उस पर विजय पाने का सुअवसर है। परन्तु यह मार्ग है प्रगटत कठिन और दुष्कर । साधारण मनुष्य वासना का त्यागी एक दम नहीं हो जाता—उसे अपनी प्रवृत्ति नीरस धर्ममयी वनानी पड़ती है, तभी वह निर्वृत्ति मार्ग का पर्यटक वनता है। पाठक पढ़ चुके हैं कि भ० महावोर ने अपने पहले कई भवों से प्रवृत्ति को सुधारना प्रारम्भ कर दिया था। अपनी कौमारावस्था में ही उन्होंने श्रावकों के व्रतों का अभ्यास किया था। वह साहसी वीर थे—भरी जवानी में मुनि हुये और निर्वृत्ति मार्ग में साधनायें करने लगे। वह जानते थे कि जव तक मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं होता—कृत कृत्य नहीं हो जाता तव तक न वह अपना भला कर पाता है और न दूसरों का। आत्मा जितने अंशों में अपने स्वभाव को प्राप्त करता है, उतना

ही वह पूर्णता की ओर बढ़ता है—वह परम पद के निकट पहुँचता है। तब वह उतना अधिक ही लोक हितकर जाता है। जो स्वयं मलिन है—जिसका अन्तःकरण स्वच्छ नहीं है, वह भला दूसरे को कैसे शुद्ध और पवित्र मन बना सकता है ? कोयले से दूसरा कोयला उज्वल नहीं हो जाता ! इसी लिये भ० महावीर साधना मे लीन होकर जीवन के सब ही पहलुओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर रहे थे। वह अपनी आत्मा को पूर्ण—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी देखना चाहते थे, क्योंकि उनके सम्मुख लोक कल्याण का महती 'मिशन' था। वह मूक भाषा मे निवृत्ति की उपासना कर रहे थे और सम-भावों से प्रकृति की रीतियों का—अच्छे बुरे व्यवहार का अनुभव कर रहें थे। जैन शास्त्रों में भ० महावीर की दृढ । और चारित्र निर्मलता की द्योतक कितनी ही घटनाओं का -उपसर्गों का वर्णन है। पाठक, उनमें से कुछ को आगे पढ़िये और देखिये, निवृत्ति मार्ग मे किस सहन शीलता और साहस से आगे कदम बढ़ाया जाता है !

एक समय विहार करते हुये भगवान् उज्जयनी नगरी मे पहुँचे और वहां के अतिमुक्तक नामक श्मशानभूमि मे रात्रि के समय प्रतिमायोग धारण करके खड़े हो गये। उस समय उज्जयनी पशु-बलि प्रथा का केन्द्र बन रही थी महाकाल की पूजा वहाँ होती थी। भव नामक रुद्र पुरुष वहाँ आया—भगवान् का शान्ति स्वरूप उसी तरह उसे असह्य हुआ जिस तरह अग्नि को जल ! पूर्व वैर के संस्कार उसके हृदय मे राख से ढके हुये अंगारे की तरह धधक रहे थे। वाह्य निमित्त की हवा लगते ही वह प्रज्वलित हो गये। रुद्र अनेक विद्याओं का जानकार था—उसने योगिराट् महावीर को कष्ट देने के लिए किसी विद्या को उठा न रक्खा। साधारण मनुष्य उसके क्रूर कोपके सामने टिक नहीं सकता

था, परन्तु धीरवीर महावीर ज्ञानी थे—उनका मोहनीय कर्म क्षीण हो रहा था—हृदय में उनके विवेक था—समतारस से वह ओत प्रोत था। उस उपसर्ग का—उन कठोर प्रहारों का उन पर कुछ भी असर न हुआ। मोहनीय कर्म की क्षीणता के कारण वेदनीय भी निस्तेज हो गया। साधारण मनुष्य की विमुग्ध दृष्टि उनमें अतुल आत्मवेदना का अनुभव करती परन्तु महावीर तो विजयी वीर की तरह योग मार्ग में आगे बढ़ रहे थे। शारीरिक कष्ट और प्रलोभन उनके निकट नगण्य थे। भव रुद्र ने उनकी निस्पृहता और समता देखी। वह अवाक हो रह गया। उसकी क्रूरता काफूर हो गई! वह भगवान् के चरणों में नतमस्तक हुआ और उनको 'अतिवीर' कहकर उसने जयघोष किया! अहिंसा का महत्व उसने हृदयंगम कर लिया। पशुओं को बलि चढ़ाने की क्रूरता और निस्सारता उसको जंच गई लोक ने भी तब अपनी गलती देखी!

निस्सन्देह भ० महावीर पर इस समय बड़े २ दैहिक उपसर्ग आये थे—वे उपसर्ग इतने भयङ्कर थे कि जिनका वर्णन पढ़ते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते और दिल काँपने लगता है। किन्तु भगवान के उत्कट आत्मबल के सामने वे उपसर्ग उसी तरह फीके पड़ गये थे, जिस तरह सूर्य का प्रकाश होने पर चन्द्र-बिम्ब फीका पड़ जाता है। भगवान के अनन्त तेज और प्रभा के सम्मुख वे उपसर्ग हीनप्रभ हो गये। उल्टे उनकी प्रतिक्रिया में भगवान् का आत्मतेज और अधिक प्रकाशमान् हुआ था।

दि० जैन शास्त्रों में उपर्युक्त उपसर्ग का ही उल्लेख है, परन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रों में और भी कई उपसर्गों का वर्णन मिलता है। भगवान् की योगविधायक निर्मलता और चारित्र-वर्द्धक दृढ़ता के दर्शन कराने के लिए, पाठक उनमें से कुछ का हाल आगे पढ़िये।

एक बार दीक्षा ग्रहण करके भ० महावीर कुमार ग्राम के निकट आये और नासाग्रदृष्टि लगा, हाथ लंबे कर दोनों पैरों के बीच मे चार अगुल की दूरी रखकर कायोत्सर्ग मुद्रा माढ़ करे ध्यान मे अचल हो गये। वहाँ पास ही में एक खेत था। किसान उसे जोत रहा था। शाम हुई तो उसे अपनी गाय—भैंसे दूहने के लिए घर जाना पडा। वह अपने बैलों को ध्यानमग्न प्रभू महावीर के पास छोड़ गया। किसान ने घर को पीठ फेरी, उधर बैलों को आजादी मिली। वे जंगल मे जिधर को मुंह उठा चले गये; क्योंकि प्रभू तो कायोत्सर्ग व्रत लिए खड़े थे—उनकी अन्तर्दृष्टि थी। वह बाहर की किसी वस्तु को कैसे देखते? आत्मस्वरूप-स्पन्दन की अन्तर्ध्वनि मे बाहर की आवाज कैसे सुनते? दुनिया के कारनामों से वह निर्लिप्त थे—वीतराग थे। किसान लौटा—उसने अपने बैल वहां नहीं पाये। उसने प्रभू से पूंछा, पर कोई उत्तर न पाया। वह जंगलों मे खोजने लगा। रातभर भटकता फिरा, पर उसे बैलों का पता न चला। थका-मांदा पौ फटती देखकर वह अपने खेत पर लौटा। वहां क्या देखता है कि भ० महावीर वैसे ही ध्यानलीन खड़े हैं और उनके चरणों मे बैल बैठे हुये हैं। बैलों के मिलने की प्रसन्नता उसके श्रम ने काफूर कर दी! आकुल व्याकुल वह बौखला गया—क्रोध को वह रोक न सका। उसने भ्रमवश समझा कि यह साधुवेषी पाखंडी है—इसने मुझसे छल किया है—इसे दम्भ का मजा चखाऊं! जो उसने सोचा वह कर दिखाया! प्रभू वीर पर उसने मनमाना उपसर्ग किया! इन्द्र ने यह अन्याय देखा; वह वहां आया और किसान से बोला, "रे मूर्ख! तू यह क्या कर रहा है? क्या तू जानता नहीं कि यह महात्मा राजर्षि वर्द्धमान हैं। ये अपना ही राज्य-ऐश्वर्य्य, धन-धान्य,—सब कुछ छोड़ चुके है। तब तेरे बैलों का यह

क्या करते ?" किसान इन्द्र की वात सुनकर सन्तुष्ट हुआ और पश्चाताप करता हुआ अपने घर गया । यह घटना प्रभू महावीर की एकान्त प्रियता और आत्मनिष्ठा को व्यक्त करती है। वह ऐसे एकान्त स्थानों मे जाकर ज्ञान-ध्यान का अभ्यास करते थे, जहा उन्हें कोई जानता भी न था और वहा अज्ञात कठिनाइयों को समभावों से सहन करते थे। वह यह ढिंढोरा नहीं पीटते थे कि मैं एक राजपुत्र हूं और अव धर्मचक्रवर्ती वनने जा रहा हूं। एकान्त मौन मे रमे रहकर ही उन्होंने उस महत पद को पाया था ।

पाठक, एक और कथानक पढ़िये और देखिये भगवान् की कामजयी शक्ति को । काम वासना का प्रकोप अति सूक्ष्म होता है—रतिभाव का आल्हाद मनुष्य हृदय में हर समय अर्द्ध जागृत अवस्था में छुपा रहता है—निमित्त मिलते ही वह भड़कता है, और वासना का शिकार वनता है। वड़े २ योगी कामशरों से विंध जाते हैं, परन्तु कामजेता महावीर इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुये थे। देवोत्तर मनोरम कानन में भगवान् ने एकदफा ध्यान माढ़ा था। वसन्त यौवन श्री पर था—नव विकसित पल्लव पराग से सुगधित समीरण वह रहा था। प्रकृति आनन्द रूप धारण किये हुये थी। परन्तु योगिराट् महावीर अपने आत्म-कानन की ही सैर कर रहे थे। उन्हें वाह्य जगत से प्रयोजन न था—उनका ध्येय था पूर्ण वनकर लोक का कल्याण करना ! उस ध्येय से अपनी दृष्टि वह कैसे हटाते ? देवाङ्गनाओं ने उनका सुकुमार सुन्दर रूप देखा—उन्हें आश्चर्य हुआ, साक्षात् कामदेव में रति का अभाव कैसा ? दूसरे क्षण उन्होंने निश्चय किया, 'परीक्षा लें ।' वे सव की सव वहा आई और गीत-नृत्य करने लगीं। वे अपने शृंगार से, हावभाव से और कोमल स्पर्श से उनको रोमाञ्चित करना चाहती थीं।

केवलज्ञानोत्पत्ति और धर्मचक्र-प्रवर्तन !

"श्रीमते केवलज्ञान साम्राज्य-पद-शालिने।
नमो वृताय भव्योघै धर्मतीर्थं प्रवर्तिने॥

—श्री सकल कीर्ति

बारह वर्ष की कठिन तपस्या और घोर योगचर्या के पश्चात् भगवान् महावीर वर्द्धमान को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जीवन्मुक्त परमात्मा हुये। अब तीर्थङ्कर प्रकृति का पूर्ण विकास उनके महान् व्यक्तित्व में हुआ लोक के लिए यह अवसर अपूर्व और महत्वशाली था। ज्ञान-सूर्य का उदय क्यों न लोक के लिये हितकर हो ? इसलिये आइये, पाठक, पहले ज्ञानसूर्य महावीर वर्द्धमान को नमस्कार कर लीजिये। काश विशुद्ध ध्यान और ज्ञान के दर्शन हमको और सबको हों !

दुनियां का अंधकार प्रकाश से दूर होता है। मनुष्य जीवन मे अज्ञान अन्धकार है—ज्ञान प्रकाश है। मानव-हृदय ज्ञानामृत का प्यासा है। वह जानता है कि दुनिया में इच्छित पदार्थ और सच्चा सुख यथार्थ ज्ञान से ही मिलता है—उस ज्ञान के अभाव में दुनिया उसी तरह तिमिराच्छन्न लोक में भटकती है जिस तरह नेत्रहीन पुरुष भटकता है। दुनिया में आज और इससे पहले महत्वाकांक्षा और धन पाने की तृष्णा के दुख, हिंसा का प्रकाण्ड ताण्डव और परावलम्बिता के भयंकर दृश्य दिखाई पड़े हैं, वे केवल एक अज्ञान के कारण ही। इस सद्-ज्ञान के अभाव में मनुष्य मनुष्य पर जुल्म ढाता है—प्राणी पर प्राणी के प्राणों को निर्दयता से मसल डालता है। भ०

महावीर ने जान लिया था कि अज्ञान ही मनुष्य जाति का परम शत्रु है। और इसीलिए वह उसको नष्ट करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगी बने थे।

बारह वर्ष की घोर तपस्या के पश्चात् भगवान् एक दिन विहार प्रान्त के जृम्भकग्राम के निकट आ निकले। वहां ऋजुकूला नदी बहती थी और मनोहर वनराशि अपूर्व लहलहाती थी। ऋतुराज ने प्रत्येक दिशा और क्षेत्र मे नवजीवन, नवजागृति और नवज्योति की आनन्द विभूतियाँ बिखेर दी थीं। वह वैशाख शुक्ला दशमी की पुण्यमई तिथि थी। भगवान् वहा षष्ठोपवास (वेला) माढ़कर एक सघन साल-वृक्ष के मूल मे मनोरम रत्नशिला पर विराजमान थे। उन्होंने अपूर्व ध्यान माढा था। वह ध्यान जिसमे निरन्तर अपूर्व-अपूर्व और प्रति क्षण शुद्धतर और शुक्लतर परिणाम होते जाते हैं। उन्होंने अठारह हजार शील-प्रतरों से वेष्टित वख्तर पहना, चौरासी लाख गुणों से भूषित महाव्रतादि भावनास्त्र संभाले, संवेग रूपी गजराज पर वह सवार हुये और चारित्र रूपी युद्ध भूमि मे जा डटे! रत्नत्रय धर्म रूपी महाबाणों को उन्होंने तप रूपी धनुष पर चढ़ाया! यह देख गुप्ति-समिति-रूप सेना हर्षोन्माद मे 'महावीर' का जयघोष करने लगी! इस प्रकार महावीर वर्द्धमान कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए उद्यमी हुये। उनका महान् पराक्रम था वह! धर्म ध्यान के अपायविचयादि स्तंभों का प्रयोग वह पहले ही कर चुके थे—मोह शत्रु क्षीण हो चला था। शुक्लध्यान रूपी चौधारे अजेय अस्त्र के समक्ष वह टिका नहीं। मोहनीय के भागते ही दर्शनावरण ज्ञानावरण, और अन्तराय कर्म भी अपने सुभटों को लेकर भाग खड़े हुये। भ० वर्द्धमान महावीर की महान् विजय हुई, उन्हें केवल ज्ञान-लक्ष्मी ने वरा—अनुपम, असीम और अनन्त थी वह। उसका

प्रकाश सहस्राधिक सूर्यप्रकाश को भी लज्जित करता था! लोक ने इस लोकोत्तर विजय पर आनन्दोत्सव मनाया! स्वर्ग के देवता और नरलोक के नरपति त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र महावीर के दर्शन करने को उमड़ आये। वह अवसर ही था अलौकिक! जृम्भक ग्राम का सौभाग्य चमक उठा!×

निस्सन्देह केवलज्ञान प्राप्त करना अथवा सर्वज्ञ होना मनुष्य जीवन में एक अनुपम और अद्वितीय घटना है। उस घटना के महत्व को सामान्य बुद्धि शायद न भी समझे, परंतु जो विवेकी हैं – तत्वदर्शी हैं, वे उसके मूल्य को ठीक आंकते हैं! दुनियाँ को वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा, मनुष्य ही नहीं, प्राणीजगत के त्रिकालवर्ती अनुभवों और जीवन की गति-विधियों का जानकार और सर्वोपरि मानवी ऐहिक और पारलौकिक जीवन को स्वर्ण जीवन में परिणत करा देने वाला पथप्रदर्शक मिलना महान् सौभाग्य का फल है। इसका अर्थ होता है, दुनिया में ज्ञान प्रकाश का साम्राज्य फैलना और सुख-

---

× दि॰ जैन शास्त्रों में जृम्भकग्राम मगधदेश के अन्तर्गत बताया है। उधर श्वेताम्बर जैन शास्त्र उसे लाढ़ देश में स्थिर करते हैं। लाढ देश का वह वज्रभूमि भाग जहाँ ऋजुकूला के तट पर भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, वर्तमान के बिहार-ओड़ीसा प्रान्त के अन्तर्गत है। वर्तमान खोज से वह स्थान सम्मेद शिखर से २५-३० मील दूर वर्तमान के झरिया नगर के निकट होना अनुमानित किया गया है। 'झरिया जृम्भक है और बाराकर नदी ऋजुकूला नदी है—' यह बात पुष्ट साक्षी से प्रमाणित होना चाहिये। झरिया के आसपास के पुरातत्व की खोज द्वारा केवलज्ञान स्थान निर्णीत होना चाहिये। मुस्लिमकाल में जैनी उस स्थान की यात्रा करते थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। अब उसका ठीक पता लगाना आवश्यक है।

शान्ति की विद्युत धारा का बह जाना ! जैन शास्त्र बताते हैं कि जब भ० महावीर केवलज्ञानी हुये तो सारे लोक में अपूर्व प्रकाश फैला था और सारे ही जीव सुखी हुये थे। उनके तैजस शरीर की वर्गणाओं से वह शान्त-शीतल और मधुर शक्तिधारा बही थी जो विद्युतधारा से भी सूक्ष्म और व्यापक थी ! और थी 'आत्माल्हाद की पूरक ! आखिर ज्ञात्रिक महावीर महान् उद्योग के पश्चात् ही तो तीर्थङ्कर पद के अधिकारी हुये थे— उनके रोम रोम से दर्शन-ज्ञान-सुख-शान्ति शक्ति की अचिन्त्य पुण्य वर्षा होती थी। वे थे उस समय अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान अनन्त सुख, और अनन्त वीर्य के जीवित प्रभा-पुञ्ज ! वे थे उस समय के मनुष्यों में सर्वोत्कृष्ट, प्रभावशाली, और सच्चे मोक्षमार्ग के उपदेष्टा ![1] लोक ने उनके नेतृत्व में आत्मस्वातंत्र्य पाने का सीधा और सच्चा रास्ता देखा था—' ऐहिक परिपूर्णता का यथार्थ दर्शन पाया था और सीखा था 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का सुवर्ण-सिद्धान्त ! बौद्धों के 'अङ्गुत्तर निकाय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनन्त थी। वह हमारे चलते, बैठते, सोते, जागते हर समय सर्वज्ञ थे।[2] 'मज्झिमनिकाय' में उल्लेख है[3] कि ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञ हैं- वह जानते हैं कि किस किस ने किस प्रकार का पाप किया है और किसने नहीं किया है। 'दीघनिकाय' में लिखा है कि भ० महावीर ज्ञातृपुत्र संघ के आचार्य, दर्शन शास्त्र के प्रणेता, गणाग्रणी वहु प्रख्यात, तत्ववेता रूप में प्रसिद्ध, जनता द्वारा

---

१. जैसू० २।२८७-९०

२. अंनि० १।२२०

३. मनि० २।२१४-२८

सम्मानित, अनुभवशील और वय-प्राप्त साधु थे।[१] 'संयुत्त-निकाय' ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख है कि जनता में उनकी विशेष मान्यता थी।[२] जैनियों के प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रकार तीर्थङ्कर महावीर का वर्णन मिलना, उनके महान् व्यक्तित्त्व के गौरव को ही प्रमाणित करता है। सर्वज्ञ होते ही जनता ने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि लोक का आश्रय और त्राण तीर्थङ्कर महावीर में केन्द्रीभूत है।

मनुष्य ही नहीं, देवों के हृदय भी प्रसन्न हो गये। भक्ति-प्रदर्शन के लिए वे जृम्भक ग्राम मे दौड़े आये। देवों और मनुष्यों ने खूब उत्सव मनाया। इन्द्र ने मानो त्याग धर्म का महत्व प्रगट करने के लिए ही तीर्थङ्कर के समोशरण (सभागृह) की रचना की। महावीर ने तो सारी विभूति और ऐश्वर्य त्याग दिया था—उनका ममत्व पार्थिव शरीर मे भी शेष नहीं रहा था—उनके आत्म तेज से वह भी प्रकाशमान् हुआ था, परन्तु इन्द्र ने दिव्य रचना रचकर यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि त्यागधर्म में ही समृद्धि है—महान् आत्मविजयी अपूर्व ऐहिक विभूति के होते हुये भी उससे निर्लिप्त रहता है। यदि सुख चाहते हो, ऐश्वर्यशाली बनना चाहते हो और चाहते हो विश्ववन्द्य होना तो त्यागधर्म को अपनाओ,—मोही मत बनो—ममता में मत बहो! भ० महावीर का यही तो आदर्श था—उनके समवशरण से वह स्पष्ट हो रहा था। साथ ही भगवान् के उदार साम्यवाद का तत्व भी उसकी रचना से व्यक्त हो रहा था। आइये, पाठक, जरा उसे भी देखिए।

धर्मचक्र प्रवर्तन से पहले ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समोशरण (सभागृह) की रचना की थी, जिसके चार द्वारों के

---

१. Dialsgues of the Buooha, to 66. २. संनि० १।६१
२. संनि० १।६८

आगे धर्मध्वजों से मंडित मानस्थम्भ और धर्मचक्र शोभायमान थे। उस समवशरण में प्राकार, चैत्यवृक्ष, ध्वजा, वनवेदी, स्तूप, तोरण आदि रत्नमई और जिन प्रतिमाओं से युक्त बने हुये थे। प्राणी उसमें पहुँचते ही आधि-व्याधि भूल जाता था। धर्ममय वातावरण में वह निराकुल हो जाता था। उस सभामण्डप में मनुष्य ही नहीं पशु तक पहुँच कर अपना आत्मकल्याण करते थे। समवशरण में वारह 'कोठे' रूप भिन्न भिन्न विभाग किये गये थे, जिनमें साधु, आर्यिका, देव-देवाङ्गना, सभी पुरुप-स्त्री और पशु-पक्षी बैठते थे। उसके ठीक मध्य भाग में एक गंधकुटी थी, जिसमें एक स्वर्ण-सिंहासन रक्खा हुआ था। परन्तु भगवान् इतने निर्लिप्त और निर्मोही थे कि उसका स्पर्श भी मानो उन्हे असह्य था—उनकी पुण्य प्रकृतियों से उनका शरीर इतना सूक्ष्म और सुन्दर हो गया था कि वह अधिक स्थूल पदार्थ का आश्रय न चाह कर आकाश में ही स्थिर था। सिंहासन पर स्वर्णकमल बना था, जिससे यही भासता था कि भगवान् कमलासन विराजित हैं। यहीं से भगवान् सर्वोपकारी उपदेश देते थे—वह इस प्रकार से ध्वनित होता था कि सब ही प्राणी-देव, मनुष्य और पशु-पक्षी उसे अपनी २ भाषा में समझ लेते थे[1]। यह उनके भाषण की विशेषता थी।

इस व्यवस्था में पाठक, देखिये भ० महावीर की विश्व के प्रति समदृष्टि! उन्होंने अपने उदाहरण से यह स्पष्ट कर दिया कि प्राणी मात्र एक समान हैं—उनमें एक ही जीवन-ज्योति एकसी ही आत्मा विद्यमान है। इसलिये उनको अपने ही समान

---

१. वर्तमान रेडियो—आविष्कार से इस प्रकार की ध्वनि होने में कुछ अनहोनी बात नहीं दिखती। शास्त्र कहते हैं कि मागधदेव के सुपुर्द यह व्यवस्था थी।

समझो और उनके जीवन को भी सुखी बनाओ। उन्होंने अपने निर्मल ज्ञान और अमित दया को मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रक्खा था। उनकी विशेषता यह थी कि जीव मात्र उनकी दृष्टि में एक समान थे! फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या? ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सब ही एक 'मनुष्य-कोठे' में समान भाव से पारस्परिक विद्वेष को भूल कर एक साथ बैठ कर भगवान् के हितोपदेश को सुनते थे। भगवान् के महान् व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव था कि मनुष्यों की तो बात क्या, हिंसक पशु भी अपनी हिंसकवृत्ति भूल गये थे—प्रतिद्वन्द्वी पशुगण जैसे सिंह और बकरी पास-पास बैठे हुये सुख-शान्ति भोग रहे थे। अमित अहिंसा दया वहाँ मूर्तिमान् हो नाच रही थी। विश्वप्रेम और विश्वसेवा धर्म की पुण्य-धारा वहाँ बह रही थी—समता, क्षमा और दया की सहस्र धाराओं में निमग्न सारे ही जीव आनन्द रेलियां मना रहे थे। यक्षों के कंधों पर रक्खे हुये रत्न-जटित 'धर्मचक्र' सहस्र रश्मियों से मानो "धर्मप्रकाश" ही फैला रहे थे और भगवान् की निकटता को पाकर 'अशोक' वृक्ष अपना शोक ही नहीं भूला था, बल्कि उसने सारे जगत् को अशोक बनाने की क्षमता पा ली थी। तीन छत्रों, चमरों और प्रभामण्डल से मण्डित प्रभु महावीर उस समय साक्षात् धर्मराजा बने हुये थे—धर्म चक्रवर्ती हुये थे वह।

इन्द्र ने भक्तिपूर्वक भ० महावीर को नमस्कार किया और उनके अनन्त गुणों की स्तुति उन गुणों को प्राप्त करने के लिये करने लगा। वह बोला, 'हे देव! आप विलक्षण लक्ष्मी से भूषित होने पर भी निर्ग्रन्थराज हैं। हे प्रभू! आज हमारा जीवन सफल हुआ है—आपके दर्शन पाकर हम कृतार्थ हुये हैं। हे दया सिन्धु! देखिये, दुनियाँ दुख दावानल में बुरी तरह जल रही है-अज्ञान का परदा उसकी आँखों पर पड़ा हुआ है।

नाथ ! उसे ज्ञान नेत्र दीजिये-धर्मामृत का पान कराके उसे सुखी बनाइये ।"

इन्द्र यह स्तुति करके देव कोठे मे बैठ गया और भव्य-चातकजन धर्मामृत वर्षा की प्रतीक्षा करने लगे। एक पहर बीता दो पहर बीते। प्रतीक्षा मे तीसरा पहर भी बीत गया, परन्तु प्रभू की वाणी नहीं खिरी। इन्द्र ने विचारा, 'यह क्या कारण है जो तीर्थंकर का धर्मोपदेश नहीं हो रहा है ? समवशरण मे अनेक निर्ग्रन्थ मुनिराज मौजूद थे--कतिपय अङ्ग ज्ञानी भी उनमे थे—क्या वह भगवान् की वाणी को स्मृति में धारण करने की क्षमता नहीं रखते थे ?—क्या कारण है ?" इन्द्र सोचने लगा। अपने विशेष ज्ञान से उस ने जाना कि भगवान् के प्रमुख गणधर ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम होंगे। वह इस समय मिथ्यादृष्टि हैं—पशु होमकर यज्ञ करने मे निरत हैं—उसे ही भगवान् के समागम में लाना चाहिये, जिससे लोक का उपकार हो। इन्द्र ने जो सोचा वही किया। इन्द्रभूति गौतम कैसे भगवान् के धर्म में दीक्षित हुये, यह आगे के परिच्छेद में प्रिय पाठक, पढ़िये ! हाँ, उनके निमित्त से भ० महावीर ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया—अपने पुनीत धर्मतीर्थ की स्थापना की ! ऐसे अनुपम धर्मतीर्थ की कि जो सर्वथा विलक्षण होते हुये भी लोकोपकारी था। स्वामी समन्तभद्रजी * कहते हैं कि "सर्वज्ञत्व, वीतरागत्वादिक बहु-गुणरूपी सम्पत्ति से न्यून, तथापि मधुर वचनों की रचना से युक्त मनोज्ञ, ऐसा पर का मत है, परन्तु आप का मत (धर्मो-पदेश) सम्यक् प्रकार से भव्य प्राणियों को कल्याण का कर्त्ता है और नैगमादि नयों व सप्तभंगों से युक्त समन्तभद्र है !"

---

* 'बहुगुण संपद सकलं परमतमपि मधुर वचन विन्यासकलम्
नय भक्त्यवतं सकलं तव देव ! मत समन्तभद्रं सकलं ॥"

इसी धर्मतत्व की वर्षा करके तीर्थंकर महावीर ने धर्मतीर्थ की पुनर्स्थापना की। सनातन जैनधर्म की क्षीण हुई प्रभा में उन्होंने चार चाँद लगा दिये। सनातन जैनधर्म फिर एक बार चमक उठा! प्रभु महावीर ने किसी नये मत की स्थापना नहीं की! अतः स्पष्ट है कि केवलज्ञान प्राप्ति के साथ ही भगवान् का धर्म-तीर्थ प्रवर्तन नहीं हुआ। भ० महावीर जृम्भक ग्राम से विहार करके राजगृह के पास रमणीक विपुलाचल पर्वत पर आकर विराजमान हुये। विपुलाचल पर्वत पर ही इन्द्रभूति गौतम उनकी शरण में आये और प्रमुख गणधर हुये थे। इन्द्र को इन्द्र-भूति समागम कराने में पूरे दो महीने व ६ दिन लग गये। तब कहीं श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को वीर भगवान् के तीर्थ की उत्पत्ति हुई—वीर शासन का धर्म साम्राज्य स्थापित हुआ २। पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनता को उत्थान और कल्याण का सौभाग्य मिला।

---

१. 'पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुम-समाइण्णे देव-दाणव वंदिदे ॥९२॥
महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स।'
—धवलटीका पृ० ६१

२. "वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥१॥ ६९॥"
—तिलोयपण्णत्ति

श्वेताम्बरीय मान्यता है कि भगवान् का पहला उपदेश व्यर्थ गया था, परन्तु यह बौद्धों की नकल ही है, क्योंकि वह भी बुद्ध के प्रथम उपदेश को महत्व नहीं मिला बताते। श्वेताम्बरों ने वीर जीवन को बुद्ध जीवन के रंग में रंग दिया है। श्वेताम्बरीय शास्त्र अपापा नाम की नगरी में वीर शासन की प्रवृत्ति हुई बताते हैं, परन्तु दिगम्बरों की मान्यता है कि विपुल पर्वत पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

श्री इन्द्रभूति गौतम समागम और धर्मोपदेश।

"त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगणितगणाःसत्पदार्थानवैव;
विश्वं पंचास्तिकाय व्रत समितिविदः सप्त तत्वानि धर्मः।
सिद्धे मार्गस्वरूपं विधिजनित फलं जीवषट्काय लेश्या;
एतान्यः श्रद्धधाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्यः॥"

मगध देश में गोर्वरग्राम ब्राह्मणों का एक प्रमुख स्थान था। वहाँ बड़े बड़े वेदपाठी विद्वान् और साथ ही धनाढ्य ब्राह्मण रहते थे। वह ब्राह्मण, जिन्हें अपनी जाति का बड़ा अभिमान था और जो वैदिक क्रियाकाण्ड करने मे दत्तचित्त रहते थे। 'धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को वह हिंसा नहीं समझते थे। निर-पराध मूक पशुओं के प्राणों का मोह उन्हें नहीं था-वह यज्ञवेदी को उनके लाल-लाल लहू से रक्तरंजित करते थे। ऐसे ब्राह्मणों का मुखिया वसुभूति नामक ब्राह्मण था—वह ग्रामपति और गौतम गोत्र का था। लोग उसे द्विजराज शांडिल्य भी कहते थे। वह बहुत ही प्रसिद्ध प्रतिष्ठित और धनाढ्य था। लक्ष्मी के साथ सरस्वती की भी उस पर कृपा थी—वह अच्छा विद्वान् था। उसकी दो पत्नियां थीं, (१) सुलक्षणा पृथ्वी और (२) केशरी! इन्द्रभूति और अग्निभूति नामक दो पुत्र-रत्न पृथ्वी की कोख से जन्मे थे और तीसरे पुत्र वायुभूति की माता केशरी थी। यह तीनों विप्र-पुत्र महा विद्वान् थे—व्याकरण, तर्क, छन्द, पुराण आदि शास्त्रों के वेत्ता थे। वेदों के पारङ्गत विद्वान् होने के कारण निरन्तर वैदिक क्रियाकाण्ड को करने मे मग्न रहते थे। अपनी विद्या का उन्हे बड़ा अभिमान था। इन्द्रभूति गौतम अपने दोनों भाइयों

और शिष्यों के साथ किसी धनाढ्य यजमान के यहाँ यज्ञ करा रहे थे, तब उन्होंने हजारों स्त्री-पुरुषों को जिनेन्द्र महावीर के दर्शन करने को जाते हुये देखा। पहले वह समझे कि वे असंख्य नर-नारी उनके यज्ञ को देखने के लिये आ रहे हैं, तो उन्हें आनन्द हुआ। किन्तु दूसरे क्षण जब उन्होंने देखा कि वे स्त्री-पुरुष उनके यज्ञ की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने किसी से पूछा तो मालूम हुआ कि लोग सर्वज्ञ प्रभू महावीर की वन्दना के लिये जा रहे हैं। वह मन ही मन कहने लगे कि 'मेरे सिवाय भी क्या दुनिया में कोई महापंडित है ? बड़ा आश्चर्य है कि जनसमुदाय इतनी जल्दी वैदिक क्रियाकाण्ड से विमुख हो गया और यज्ञमण्डल की ओर आकर्षित नहीं हो रहा है !' किन्तु उन्होंने यह न विचारा कि वैदिक क्रियाकाण्ड और रक्तमय यज्ञों से जनता का हृदय ऊब गया है। उसे पता है, अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के सर्वहितकर तीर्थ का सर्वोदय हो चुका है। परन्तु इन्द्रभूति तो विद्या के मद में चूर थे—वस्तुस्थिति वह क्या देखते ? उनके घमंडी हृदय को ठेस लगी-वह तिलमिला गये। उन्होंने समझा, रूढिवाद का विरोधी वह कोई पाखंडी है। उसके पाखंड का अन्त करना चाहिये।

इसी समय इन्द्र अपने कौशल को सफल होता जानकर इन्द्रभूति गौतम के निकट पहुँचा। इन्द्र जानता था कि यद्यपि इन्द्रभूति गौतम बड़ा घमंडी और मानी व्यक्ति है, परन्तु उसकी बुद्धि निर्मल और पवित्र है। वही भ० महावीर की निकटता में सच्चा लोकोपकारी बन जायगा। इसलिये एक कौतुक उसने

रचा। उसने अपना भेष बदला, एक वृद्ध विद्यार्थी के रूप में वह गौतम के पास पहुँचा और बोला कि "महाराज! मेरे पूज्य गुरु ने एक श्लोक मुझे बताया है, परन्तु उसका अर्थ बताने के पहले ही वे ध्यानलीन होगए है। अब इस श्लोक का अर्थ मुझे कोई नहीं बता सकता। मैंने आपकी विद्वत्ता की महिमा सुनी है—आप वेद-वेदांग-पारङ्गत विद्वान् है। क्या मैं आशा करूँ कि आप उस श्लोक का अर्थ बताकर मेरी अशान्ति को मिटायेंगे?" इन्द्रभूति उस श्लोक का अर्थ बताने के लिये इस शर्त पर राजी हो गये कि इन्द्र उनका शिष्य हो जायगा। शिष्य परिकर बढ़ाने का मोह वह शमन न कर सके। इन्द्र ने वह शर्त मान ली और पढ़कर एक वैसा ही श्लोक सुनाया जैसा कि इस परिच्छेद के प्रारम्भ मे दिया हुआ है। गौतम उस श्लोक को सुनकर असमजसमे पड़ गये। वह समझ न सके कि छै द्रव्य क्या हैं? पंचास्तिकाय से क्या मतलब है? तत्वों से क्या भाव है? और छै लेश्यायें कौन सी हैं? वह अन्यथा अर्थ बताने का भी साहस न कर सके। उन्होंने सोचा कि इससे क्या? इसके गुरु से ही वाद करके इस श्लोक का अर्थ प्रगट करना चाहिये। बस, वह झट उठे और अपने दोनों भाइयो और शिष्यों के साथ विद्यार्थी वेषधारी इन्द्रके साथ चल दिये।

उस समय भ० महावीर का समवशरण राजगृह के निकट विपुलाचल पर्वत पर आया हुआ था। इन्द्रभूति भाइयों और शिष्यों के अनुरोध से वहाँ तक चले आये! समवशरण के द्वार पर मानस्थम्भ को देखते ही उसका मान और गर्व मन्द पड़ गया। समवशरण मे प्रवेश करके ज्यों ही उन्होंने त्रिलोकवन्दनीय भ० महावीर की परम वीतराग-मुद्रा के दर्शन किये, त्यों ही उनका हृदय नम्रीभूत होगया। निर्ग्रन्थ योगिराट् की योगमय आत्मविभूति को देखकर वह प्रभावित हो गये। वह

भव्योत्तम महापुरुष थे। महती पुण्यफल उनके उदय में था। वीर प्रभु के सद्दर्शन से उन्हे सद्दृष्टि मिल गई उनका मिथ्यात्व काफूर हो गया। उन्होंने भ० को साष्टांग नमस्कार किया। यह दिव्य घटना ई० सन् से लगभग ५७५ वर्ष पहले की है। उस समय इन्द्रभूति की अवस्था पचास वर्ष की थी। भगवान् ने आते ही उनका नाम लेकर सम्बोधन किया और कहा, "इन्द्रभूति! तुम्हारे हृदय में यह शंका वर्त रही है कि जीव है या नहीं। वेदों में पूर्वापर विरोधी उल्लेखों को देखकर ही तुम संशय मे पड़े हुये हो! किन्तु निश्चय जानो कि जीव द्रव्य है— उसका सर्वथा अभाव न कभी हुआ, न है और न होगा।" भगवान् को इस तरह अपनी मनोगत सूक्ष्म शङ्का का उल्लेख करते हुये देखकर इन्द्रभूति का हृदय भक्तिभाव से गद्गद हो गया। उन्होंने अपने अग्निभूति और वायुभूति भाइयों और शिष्यों सहित जैनेन्द्री दीक्षा धारण करली! वे सब दिगम्बर जैन मुनि हो गये। भ० महावीर के सम्पर्क से उनका उद्धार हुआ। अनादि मिथ्यात्व का विनाश करके ही प्राणी अपना उद्धार और लोक का कल्याण कर सकता है। वह संसार में कैसी ही दुरवस्था में क्यों न पड़ा हो काल लब्धि को पाकर वह अपनी उन्नति करता ही है। इन्द्रभूति और उसके भाई धर्म के नाम पर अपार हिंसा कर रहे थे और जातिमद में वेसुध थे; परन्तु भ० महावीर ने उनमें योग्य पात्रता पाई और दीक्षा दी। उन्होंने वता दिया कि वीर सघ की अभिवृद्धि नये २ पुरुषों को जैनी वनाकर ही की जा सकती है!

भगवान् महावीर की स्तुति करके उन नवदीक्षित महाभागने शङ्का को दुहराया। वह वोले, "ज्ञानधन! देह के साथ देही का अन्त होते भासता है। किसी ने भी आज तक आँखों से उस

देही 'आत्मा' को नहीं देखा है। फिर यह कैसे मानें आत्मा है—जीव है !"

प्रभूवीर की दिव्यध्वनि में गौतम के इस प्रश्न का समाधान सुनने के लिये सभी मुमुक्षु आतुर थे। उन्होंने जो सुना उसका भाव था कि 'यद्यपि स्थूल नेत्र से आत्मा दिखाई नहीं देती, क्योंकि वह रूप-रस-गंध-वर्ण रहित है, परन्तु मानवी अनुभव उसका अस्तित्व प्रमाणित करता है। निःस्सन्देह गौतम, देह से वह विज्ञानमई चेतन भिन्न है—वह देह की, पंचभूतों की उपज नहीं है। कदाचित् उसे जल-पृथ्वी-वायु-अग्नि और आकाश से मिलकर बनता अनुमान करो तो जरा यह तो सोचो कि इन पदार्थों में कौनसा पदार्थ ऐसा है जिसमे चेतना—जानने देखने का गुण मौजूद है ? जब चेतना इनमें नहीं है, तो इनके मिश्रण में कहाँ से आयगी ? विश्व मे जो वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है उसका कभी अस्तित्व नहीं हो सकता।' श्रोतागण मंत्रमुग्ध की तरह भ० की इस सरल एवं स्पष्ट वाणी को सुनते रहे। उन्होंने जो आगे सुना उससे समझा कि शायद कोई यह शंका करे कि देह के साथ मृत्यु समय 'देही' (आत्मा) का नाश होता ही है, तो यह मिथ्या है। देह पुद्गल है और देही चेतन है। शव का अग्नि संस्कार होने पर भी पुद्गल पुद्गल ही रहता है और चेतन लोक मे दूसरा शरीर धारण कर लेता है। यदि यह न मानें तो भला सोचो हमारा व्यवहारिक अनुभव क्या हो ? पंचभूतों के अंशों का ही परिणाम यदि चैतन्य-भाव (दर्शन-ज्ञान) हो, तो वह अखंड कहाँ से होगा ? वह तो उतने ही अंशों मे बंटा होगा—तब हमें बाहरी जगत का अनुभव एकरूप नहीं—एक साथ ही अनेक-रूप होगा ! परन्तु मनुष्य का अनुभव ऐसा नहीं है—वह एक है और अखंड है। अतएव वह एक अखंड पदार्थ का ही अनुभव

है। वह अखंड पदार्थ ही आत्मा है। आत्मा जानता देखता है—शरीर जानता देखता नहीं है।

सबने कहा 'तथास्तु' और आगे सुना कि 'यह शङ्का करना भी व्यर्थ है कि आत्मा पहले नहीं था आगे नहीं होगा। यदि जीवात्मा अनादिकाल से लोक में भ्रमण न करता होता अथवा यूं कहिये कि वर्तमान जीवन के पहले उसका कोई जीवन नहीं था, तो जरा सोचो, पूर्व संस्कारों का सद्भाव मनुष्य जीवन में कैसे होता है? कैसे एक नवजात शिशु माता का स्तन पाते ही उसका दुग्ध पान करता है। यह सब कुछ जीवों के पूर्व सस्कारों का ही प्रभाव है कि जीव उनका अभ्यस्त हो जाता है—और विभाव को बनाता है। शिशु के मुँह में नारगी का मीठा रस निचोड़िये—वह उसके स्वाद और रूप को मनमें धारण कर लेता है। दूसरे दिन जब नारंगी को वह शिशु देखता है तो उसके मुँह में पानी भर आता है। अत यह स्पष्ट है कि मन, नेत्र, रसना आदि इन्द्रियों के द्वारा होने वाले अनुभव का ज्ञाता एक ही व्यक्ति है और वह अखड आत्मा है।'

इन्द्रभूति भगवान् के जीवतत्व ज्ञापक उपदेश को निर्निमेष सुन रहे थे। दिव्यध्वनि मे उन्होंने यह भी सुना कि 'पूर्वकाल में एक प्रदेशी नाम के राजा को भी आत्मा के अस्तित्व में शङ्का हुई थी, परन्तु उनकी शङ्का को तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की परम्परा के ऋषिजनों ने समाधान किया था। राजा प्रदेशी के प्रश्नोत्तर साधारण मानव हृदय का समाधान करते हैं—जरा देखो उस प्रश्नोत्तर को। राजा प्रदेशी पूछता है कि 'मेरे पिता निर्दयी थे और मर कर नर्क गये, जहाँ वह दुख भुगतते हैं फिर उन दुखों से बचने के लिये वह मुझे सम्बोधने क्यों नहीं आये?' ऋषि ने उत्तर दिया, 'राजा अपराधी को दंड देता है—उस दंड को

भोगते समय जैसे अपराधी अपने पुत्र-कलत्र के पास नहीं जा सकता उसी तरह नारकी जीव अपनी बुरी करनी का दण्ड भुगतता है और वहाँ से तब तक नहीं निकलता जब तक कि वह उसका पूरा फल नहीं भोग लेता। प्रदेशी बोला, 'अच्छा, यह तो माना किन्तु, मेरी धर्मात्मा दादी स्वर्ग में गई है, वह मुझे सम्बोधने क्यों नहीं आती ?' उसने उत्तर मे सुना कि 'जो मनुष्य देवदर्शन के लिये शुद्ध होकर मन्दिर मे गया है, वह अशुद्धि के भय से दूसरे काम के लिये बुलाये जाने पर भी नहीं जाता। देवपर्यायके जीव बहुत साफ सुथरे हैं। उन्हे मनुष्य की अशुचिता असह्य है। इसीलिये उपरोक्त भक्त पुजारी की तरह वह भी नहीं आते। किन्तु किन्हीं जीवों का पारस्परिक मोह प्रबल होता है और वे अपने इष्टमित्र का उपकार करना चाहते है तो कष्ट सहकर भी आते हैं। संसार मे ऐसे उदाहरण कभी कभी देखने को मिलते हैं। शास्त्रों मे लिखा है कि सीताजी का जीव अपने एक प्रिय बन्धु को सम्बोधने नर्क मे भी गया था।' प्रदेशीको इस उत्तर से संतोष हुआ जरूर, परन्तु शका न मिटी। उसने फिर पूछा, 'अच्छा, बताइये, एक बन्दी को प्राणदण्ड मिलता है -उसे सन्दूक मे बन्द कर दिया जाता है, परन्तु मरते हुए उसकी आत्मा नहीं दिखती। यदि आत्मा है तो वह अवश्य दीखती !' उसे उत्तर मिला—'राजन्। महल के भीतर सब किवाड़ों को बन्द करके जब संगीत की मधुर लहरी छेड़ी जाती है, तब उसे महल के बाहर निकलते हुये कोई नहीं देखता, परन्तु वह निकलकर श्रोताओं के कानों से टकराती और उन्हे आल्हादित करती है। सूक्ष्म शब्द तो पार्थिव है, फिर भी नेत्रों से नहीं दिखता। अब ज़रा सोचो, अरूपी आत्मा नेत्रों से कैसे दीखेगी ?' राजा चुप था, परन्तु उसका दिल अभी नहीं नमा था। उसने फिर पूछा, 'मनुष्य शरीर के टुकड़े २ करके उन्हे

एक ऐसे सन्दूक मे बन्द कर दिया, जिसमे कोई वस्तु भीतर प्रवेश नहीं कर सकती, तो बताइये उसमे सड़ कर कीड़े पड़ने पर जीव कहाँ से आजाता है ?' ऋषि इस सरल हृदयता पर मुस्कराया और बताया, "भूलते हो. राजन् जब आत्मा निकलते हुये नहीं दीखती तो प्रवेश करते हुए कैसे दिखाई देगी ? लोहपिंड में कोई द्वार नहीं होता—वह निरा ठोस है, परन्तु उसे ज़रा तपाओ और देखो अग्नि-कण उसमें प्रवेश कर गये हैं। अत. आत्मा के अस्तित्व में शङ्का करना व्यर्थ है।' इस प्रकार जीव तत्व के साथ ही अजीव (पुद्गल-Matter) तत्व की सिद्धि होती है !'

श्रोताओं ने उसे ठीक समझा और देखा कि आत्मा और पुद्गल मिश्ररूपमें दुनिया में फैले हुये हैं। मनुष्य-पशु पक्षी-वनस्पति-आदि नाना रूप मे वह ससार के सुख-दुख भुगतते हैं। इस संसृण का कारण क्या है और उससे मुक्ति कैसे हो ? कैसे लोक के प्राणी सुखी होवें ? यह प्रश्न उस समय की जनता के सम्मुख थे। इन्द्रभूति के निमित्तसे धर्म को प्रतिपादते हुये सर्वज्ञ प्रभू ने इसका समाधान निम्नलिखित शब्दों मे किया था—

"हे भव्य पुरुषो ! अनादिकाल से पुद्गल के बन्धन में पड़ा हुआ—शरीर में कैद हुआ जीव शुभाशुभ कर्म कर रहा है। जीव ने पूर्व जन्ममें कर्म किये हैं और इस जन्म में भी कर्म संचित कर रहा है। इन संचित कर्मों का शुभाशुभ फल वह स्वयं भुगतता है और सुखी-दुखी बनता है। यदि व्रतोपवास और तपस्या के द्वारा जीव इन कर्मों की निर्जरा कर डाले तो शरीर बन्धन से मुक्त हो जावे। मन, वचन, काय द्वारा यदि जीव संवर पाले तो पाप कर्म नहीं बंधते और तपस्या से सचित कर्मों का नाश होता है। इस प्रकार नये कर्मों के (आस्रव) रुक जाने से और पुराने कर्मों के क्षय (निर्जरा) हो जाने से संसार

भ्रमण का अन्त होता है। निस्सन्देह कर्मक्षय से ही दुःखक्षय होता है—दुःखक्षय से वेदनाक्षय होती है और वेदनाक्षय से सब दुखों की निर्जरा हो जाती है। जीव मुक्त होकर शुद्ध-बुद्ध परमात्म रूप को पालेता है!"

भ० महावीर के कार्य-कारण सिद्धान्त पर निर्धारित उपदेश ने इन्द्रभूति और अन्य श्रोताओं को वस्तुतत्व समझने की क्षमता प्रदान की। उन्होंने समझ लिया कि सात तत्व, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय, छः द्रव्य, चार कषाय, आठ कर्म आदि क्या हैं। तब उन्हें श्रद्धा होगई कि यह जीव पुद्गल से उसी तरह वेष्टित है—कर्म-कालिमा से उसी तरह कलङ्कित है जिस प्रकार मैल से मिला हुआ सोना खान से निकलता है। जिस प्रकार उस अशुद्ध सोने मे सोने के गुण पूर्णतः प्रगट नहीं होते उसी प्रकार संसारी जीव अपनी अशुद्धावस्था मे अपने स्वभावजन्य परमात्मगुणों को पूर्ण प्रगट नहीं कर पाता है। इस अशुद्धावस्था मे जीव (१) देव, (२) मनुष्य (३) नर्क और (४) तिर्यञ्च नामक गतियों मे भ्रमण करता है और राग द्वेष परणति के कारण दुख उठाता है। यदि जीव राग द्वेष को जीत ले तो वह अपने शुद्ध-रूप को उसी तरह प्राप्त कर सकता है जिस तरह सोने को तपाने से उसके गुण चमकने लगते है। क्रोध मान, माया, लोभ—चार ऐसे कषाय हैं जिनके वश मे होकर जीव अपनी मन-वच-कायिक क्रियाओं के द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों के ऊपर उत्तरोत्तर मैल चढ़ाता है। यह मैल कर्म का है, जो लोक मे भरा हुआ एक सूक्ष्म पुद्गल है। तेल से भरे हुये शरीर पर जिस तरह रजकण आकर स्वतः चिपट जाते हैं उसी तरह कर्मरज सकषाय जीव से आकर काल विशेष के लिये बंध जाता है और उसे वेदित करता है। यह कर्मरज आठ प्रकृतियों मे मुख्यतः बंट जाता है, जैसे पेट में पहुँच कर भोजन रक्त-मज्जा-वीर्यादि

रूप में बंट जाता है। वह आठ प्रकृतियाँ हैं : (१) दर्शनावर्णी (२) ज्ञानावर्णी (३) मोहनीय (४) अंतराय (५) वेदनीय (६) नाम (७) गोत्र और (८) आयु। जीव के संसारी जीवन मे यही मुख्य प्रेरक कारण हैं। इन्द्रभूति गौतम ने इन कर्मों का भी सूक्ष्म वर्णन वीर वाणी मे सुना और सुनते ही उसके मस्तिष्क के कपाट खुल गये।

उन्होंने आगे सुना कि जब तक जीव इन कर्मों के नाच नाचता है—मोह मे पड़कर बाहरी पर पदार्थों को अपनाने में रस लेता है, तब तक वह बहिरात्मा कहलाता है—उसकी बाहरी दृष्टि है। काल लब्धि पर जब वह बाहरी जगत से दृष्टि फेर कर अपने भीतर दृष्टि लगाता है और जान लेता है कि मैं बाह्यजगत से भिन्न चेतन रूप हूँ—यह शरीर भी मुझसे भिन्न है—मैं स्वभावतः शुद्ध-निर्मल-परमसुखी आत्मा हूँ, तब वह इस भेद विज्ञान को पाकर अन्तरात्मा हो जाता है। वह जान लेता है कि जिस तरह एक पक्षी मट्टी से लदे हुये अपने पंखों को सुखा और झाड़कर स्वस्थ होता और उड़ने की शक्ति पाता है, उसी तरह जीव भी निर्मोही होकर कर्म-रूपी मैल को सुखा और झाड़ डालता है और सुखी होता है। वह चलने में सावधानी रखता है—खड़े होने में सावधान रहता है और लेटता—बैठता भी सावधानी से है। शुद्ध भोजन भी सावधानी से करता है और बोलता भी सावधानी से है। परिणामत वह दुष्कर्मों का बन्ध नहीं करता; बल्कि संचित कर्मों की निर्जरा करने के लिये उद्योगी होता है। निर्जन स्थान मे वह ज्ञान-ध्यान और योगाभ्यास में लीन रहता है। तपाग्नि को सुलगा कर वह कर्मों की निर्जरा कर डालता है—कर्मों से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है। अब वह किसी के बन्धन में नहीं रहता—किसी का गुलाम नहीं होता! इन्द्रभूति प्राणीमात्र के लिये सुलभ इस आत्मस्वातन्त्र्य के संदेश

को सुनकर गद्गद् होगये। अन्य श्रोताओं ने भी अपने भाग्य को सराहा।

इस धर्मोपदेश मे वैज्ञानिकरूपेण उन्होंने सात तत्वों की सिद्धि होते देखी। भगवान् ने वह सात तत्व बताये (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष। स्वभाव से दर्शन-ज्ञान गुण युक्त जीव है। अजीव (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश (५) और काल है। इनमे से पहले चार जीव के साथ 'पंचास्तिकाय' कहलाते हैं; क्योंकि यह ऐसे द्रव्य हैं जिनकी एक काय है। काल द्रव्य भी अजीव है, परन्तु वह एक शरीर-वाला नहीं है। वह रत्नोंकी ढेर की तरह लोक मे भरा हुआ है। पूरण (Birth) गलन (Decay) की शक्ति वाला अचेतन पुद्गल है। धर्मद्रव्य एक सूक्ष्म पुद्गल 'ईथर' के सदृश है, जो जीवादि पदार्थों को चलने में सहकारी है और अधर्म द्रव्य पदार्थों की स्थिति मे सहायक है; जैसे वृक्ष पथिक को ठहरने में कारण है। आकाश भी अजीव है परन्तु उसका गुण पदार्थों को स्थान देना है। लोकमे यही छै द्रव्यें मिलती हैं; जो मुख्यत. जीव-अजीव रूप मे हैं। जीव मे कर्म आता है, यह पहले लिखा गया है। इस 'आयाति' का ही नाम 'आस्रव' तत्व है। कर्म आकर जीव से बंधता है, यह 'बन्धतत्व' है। यहाँ तक बन्धन का वर्णन है। आगे के तत्व जीव को बन्धन मुक्त बनाते हैं। किसी तालाब को गंदे पानी से साफ करने के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसमें गंदा पानी आने का मार्ग रोक दिया जावे—इसी तरह कर्मों की आयाति रोकना भी आवश्यक है—यह 'संवर' तत्व है। जब नया गंदा पानी नहीं आयगा, तब सिर्फ संचित जल निकालना ही शेष रहता है। यही बात जीव के लिये है। उसे भी संचित कर्मों को निकालना ही शेष रहता है—यही 'निर्जरा' तत्व है। जब सब कर्म झड़

गए तव जीव मुक्त हो जाता है—यही 'मोक्ष' तत्व है। कार्य-कारण—सिद्धान्त पर निर्भर यह वैज्ञानिक प्रणाली है और इसमें सात तत्व स्वतः सिद्ध हैं। इन्हीं सात तत्वों में (१) पुण्य और (२) पाप को मिला देने से 'नौ पदार्थ' हो जाते हैं।

जो भावक्रिया आत्मा को कर्म से लेपती है, उसे लेश्या कहते हैं। वह जीवों के भावों का नाप है। हृदय में कितना कषाय है? इसे लेश्या बता देती है। गर्ज यह कि जिनेन्द्र महावीर की वाणी को सुनकर इन्द्रभूति उस श्लोक का अर्थ तब ठीक २ समझने लगे थे, जिसको इन्द्र ने उनसे पूछा था। वह भगवान् के अनन्य भक्त और प्रमुख गणधर हुये। यह उदाहरण मानो यही बताता है कि जिनेन्द्र महावीर के शासन में रूढ़ि के लिये—स्थिति पालकता के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रगतिशील होकर सत्यान्वेषण करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। कोई जैनी जन्म लेने से ही धर्मपात्र नहीं बनता—अजैनी भी यदि पात्र हो तो उसे जैनधर्म की दीक्षा देना चाहिए—उसे जैनी बनाना चाहिये। 'सर्व सुखाय-सर्व-हिताय' यह प्रगति श्लाघ्य है। निस्सन्देह धन्य है वह श्रावणी प्रतिपदा जिस दिन समुदार वीर शासन का प्रवर्तन हुआ। इसी दिन महावीर के उपदेश से पीड़ित-पतित और मार्गच्युत जनता को विशेष रूप से यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार होगा। साथ ही शेष जगत ने समझा, उत्थान का मार्ग यही है—जन्म सुलभ आत्मस्वातन्त्र्य पाने का द्वार यही है। यह पवित्र दिवस क्रूर बलिदानों के सातिशय रोकका दिवस है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयता पूर्वक छुरी के घाट उतारे जाते थे अथवा होम के बहाने जलती आग में फेंक दिये जाते थे।' यज्ञयाग के प्रमुख नेता इन्द्रभूति गौतम को अहिंसा का पुजारी बनाकर प्रभु महावीर की दिव्यवाणी ने रक्तमयी यज्ञों का अन्त ही कर दिया! जनता ने इसीदिन धर्म-अधर्म

और हिंसा-अहिंसा का यथार्थ रूप समझा एवं उसे अत्याचारों की ठीक परिभाषा सूझ गई ! परिणामतः हर कोई भ० महावीर के संघमे सम्मिलित होने के लिये लालायित हो उठा । इन्द्रभूति का अनुकरण अनेकों ने किया !

इन्द्रभूति गौतमने मुनि दीक्षा के साथ ही पूर्वान्ह मे निर्मल परिणामो के द्वारा तत्काल बुद्धि, औषधि अक्षय, ऊर्ज्ज, रस, तप और विक्रिया रूपी सात लब्धियाँ पा लीं । उनका ज्ञान इतना निर्मल हुआ कि जिनेन्द्र की वाणी का अर्थ उन्होंने ठीक ठीक समझा और उसी समय द्वादशाङ्ग और उपाङ्ग सहित जिन मुखोद्भूत श्रुत की पद रचना की । इनकी कुल आयु ६२ वर्ष की थी; जिसमे लगभग ४५ वर्ष तक वह मुनिदशा मे रहे थे। वीरसंघ के प्रमुख गणाधीश के रूप मे उन्होंने जैनधर्म का विशेष प्रचार किया था। भ० महावीर के निर्वाण दिवस ही वह केवलज्ञानी और सघ नायक हुये थे । वीर निर्वाण से बारह वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५३३ के लगभग वह विपुलाचल पर्वत से मुक्त हुये थे। चीनी यात्री हुएनत्सांग ने इनका उल्लेख भगवान् महावीर के गणधर रूप मे किया है।

इन्द्रभूति के साथ उनके भाई अग्निभूति और वायुभूति भी जैनधर्म मे दीक्षित हुये थे। जिस समय वीरसंघ में मुनिसमुदाय विभिन्न गणोंमे व्यवस्थाकी सुविधा के लिये विभक्त किया गया, तब यह भी दो गणों के अधिनायक गणधर हुये । इन्होंने भगवान् के जीवनकाल मे ही निर्वाण-पद पाया था।

धर्म प्रचार और विहार

"गिरिभित्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः

—श्रवद्दानवतः

तव शमवादानवतो गत मूर्जितमपगत प्रमादानवतः ॥

—श्री वृहद्स्वयम्भूस्तोत्र"

स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने भ० महावीर के पुण्यमई विहार की विशिष्टता को उपर्युक्त श्लोक में अमर बना दिया है। वह कहते हैं कि, "हे वीर! जिधर आपका विशिष्ट विहार हुआ—आपके चरण-स्पर्श से जो पृथ्वी भाग सौभाग्यशाली बना, वहाँ दोषों का उपशम हुआ—शास्त्रज्ञान का विकास हुआ और हिंसा का सर्वथा नाश हुआ! इसी कारण आपका अहिंसाव्रत और अभयदान सहित उत्तम विहार उस तरह हुआ, जिस तरह सम्पूर्ण भद्र लक्षणों सहित झरते हुये मद वाले हाथी की गति होती है, जिसे पर्वतीयभित्तिका अवदान प्राप्त है।"

निस्सन्देह तीर्थङ्कर महावीर का विहार आकुलता और भय क्षोभ की जननी हिंसा का नाशक और सुखवर्द्धिनी अहिंसा का पोषक था। अहिंसक राज्य मे ही प्राणीमात्र अभय रह सकता है—सुख की नींद सोता है। भ० महावीर के विहार मे अमित अभयदान स्वयमेव बँटता था। अहिंसक वातावरण में वैर और विरोध के लिये स्थान नहीं रहता-सभी प्राणी अभय होते हैं। इस प्रकार भगवान का यह शेष जीवन विहार और धर्म प्रचार में व्यतीत हुआ। लोक कल्याण के अपूर्व ध्येय का उन्होंने मूर्तिमान कर दिखाया। वह इच्छा के प्रेरे हुये नहीं चलते थे, क्योंकि इच्छा को उन्होंने जीत लिया था। और न दूसरों की इच्छापूर्ति के लिये उनका विहार होता था। किसी की स्तुति और निन्दा से

उन्हे प्रयोजन ही न था। बात तो यह थी कि जिस क्षेत्र का सौभाग्य होता था—जिसमे धर्मामृत वर्षा के प्यासे चातकों की छटपटाहट वह पुण्याकर्षण उत्पन्न करती थी जो सहज सुलभ नहीं, उधर ही भगवान् का विहार स्वयमेव हो जाता था। प्रत्येक नगर और ग्राम के लोग उनके शुभागमन की प्रतीक्षा आतुर हुये करते थे। समस्त आर्यावर्त को उनके धर्मामृत पान करने और दर्शन से पवित्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु आपका सर्वाधिक विहार विहार प्रान्त मे हुआ—वह भाग पहले मगध, अङ्ग आदि देशों मे विभक्त था, परन्तु भगवान् महावीर के पवित्र विहार के उपलक्षमे वह 'विहार' कहलाया। भगवान की निर्वाणभूमि भी इसी प्रान्त मे है। उनके नाम-वाले जैसे वीरभूमि, वर्द्धमान, सिंहभूमि आदि नगरादि भी यहाँ मिलते है। निस्सन्देह जनसमुदाय भ० महावीर के प्रति अपनी भक्ति और कृतज्ञताज्ञापन के भाव को मूर्तिमान बनाने के लिये लालायित थे। आखिर, अधर्म और अज्ञान के घोर अंधकार में ज्ञानसूर्य का प्रकाश भगवान् ही ने तो फैलाया था!

श्रीमद्भगवत् जिनसेनाचार्यजी ने अपने 'हरिवंशपुराण' (पृष्ठ १८) में भगवान् के विहार के विषय मे लिखा है कि "जिस प्रकार भव्यवत्सल भगवान् ऋषभदेव ने पहिले अनेक देशों मे विहार कर उन्हे धर्मात्मा बनाया था, उसी प्रकार भ०महावीर ने भी मध्यके-काशी, कौशल, कौशल्य, कुसंध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त पंचाल, भद्रकार, पाटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन एव वृकार्थक नाम के देशों में, समुद्र तट के-कलिङ्ग, कुरुजागल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सूरभीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और क्राथतोय देशों मे, एवं उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि देशों मे विहार कर उन्हे धर्म की ओर ऋजु किया था।" भगवान् महावीर का

यह विहार समवशरण विभूति सहित होता था, जिसके कारण धर्म की विशेष प्रभावना होती थी। श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' में भगवान् के इस धर्म प्रचार का उल्लेख भी उनके चातुर्मासों के रूप में किया है; यद्यपि एक केवली तीर्थङ्कर के लिये चातुर्मास का नियम लागू नहीं है—उनका जीवन इतना पवित्र और निर्मोही हो जाता है कि सूक्ष्मतम बंध भी नाम मात्र को नहीं होता -उनके ईर्यापथ आस्रव होता है। निष्काम लोकोपकार क्रिया में जो कर्मवर्गणायें आती हैं वह कषाय के अभाव में निकली चली जाती हैं। इसलिये ही वर्षा का नियम तीर्थङ्कर के लिये आवश्यक नहीं है। 'कल्पसूत्र' के इस वर्णन से यही समझना चाहिये कि सर्वज्ञ होने पर भगवान् की इतनी वर्षायें उल्लिखित क्षेत्रों के आस पास विहार करने में बीतीं थीं। 'कल्पसूत्रानुसार' भगवान् ने इन तीस वर्षोंकी वर्षायें क्रमशः वैशाली, वणियग्राम, राजगृह नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, अलाभिका, प्रणतिभूमि, श्रावस्ती और पावा में धर्मपीयूष-वर्षा में बिताई थीं। वह राजगृह में सब से अधिक बार आये। मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के निमित्तसे वहाँ खूब धर्म वर्षा हुई। राजगृह ने विपुलाचल पर्वत पर ही कई राजाओं, राजकुमारों और राजकुमारियों एवं श्रेष्ठी पुत्र-पुत्रियों और साधारण भव्य पुरुषों ने वीर संघ में मुनि अथवा श्रावक के व्रतों को धारण करके लोकोद्धार के मार्ग में अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था। राजगृह से भगवान् वैशाली और वणियग्राम की ओर विहार कर गये प्रतीत होते हैं। वैशाली के राजा चेटक ने मुनिव्रत धारण किये थे और उनके पुत्र सेनापति सिंहभद्र आदि भगवान् के उपासक हुये थे। उपरान्त वह सारे देश में विचरे थे। अभाग्यवश उनके विहार का क्रमबद्ध वर्णन कहीं सुरक्षित नहीं मिलता। श्वेताम्बरीय 'भगवती सूत्र' में

उल्लेख है कि भगवान् महावीर नालन्दा, राजगृह, पणियभूमि, सिद्धार्थग्राम, कूर्मग्राम आदि स्थानों मे भी पधारे थे। 'उपासक दशासूत्र' में लिखा है कि वणिजग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलभी, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, राजगृह और श्रावस्ती भगवान् के पदार्पण से पवित्र हुये थे। वणिजग्राम मे श्रावक आनन्द और उनकी भार्या शिवनन्दा उनके अनन्य उपासक थे। चम्पा मे श्रावक कामदेव और श्राविका भद्रा, वाराणसी मे श्रावक चूलनि प्रिय एवं सूरदेव और श्राविका श्यामा तथा धन्या, आलभी में श्रावक चुल्लसतक अपनी भार्या बहुला सहित; कम्पिल्यपुर मे कुंद कोलित और पुष्पा दम्पति; पोलासपुर में सर्दल पुत्र और अग्नि-मित्रा; राजगृह मे श्रावक महासतक और विजय एवं श्रावस्ती मे नन्दिनिप्रिय एव सलातिप्रिय तथा उनकी पत्नियाँ अश्विनी और फाल्गुणी भगवान् के अनन्य उपासक और भक्त हुए थे। जैनव्रतों को पालकर और विशेष उत्सव मनाकर उन्होंने धर्म की प्रभावना की थी। यह सब विशेष धनाढ्य गृहपति थे। गृहपति आनन्द की सम्पत्ति के विपय मे लिखा है कि चार करोड़ स्वर्ण-मान उनका सुरक्षित था और चार करोड़ स्वर्णमान व्याज पर लगा हुआ था। इस धन के अतिरिक्त अचल सम्पत्ति भी उनकी चार करोड स्वर्ण मान की थी और उनका पशुधन भी अत्यधिक था। पशुधन चार समूहों-गो समूह आदि मे विभक्त था, जिसके प्रत्येक समूह मे दस हजार गौयें आदि पशु थे। उनका आदर बड़े २ राजा महाराजा और सेठ-साहूकार करते थे। गर्ज यह कि भगवान् के यह गृहस्थ-भक्त सम्पत्तिशाली लोकमान्य व्यक्ति थे। पर खूबी यह थी कि भ० की शिक्षा ने उन्हे धन और बल पाकर भी मदमत्त नहीं बनाया था—वह कषायों और वासनाओं के आधीन नहीं थे; बल्कि नियमित धार्मिक जीवन बिताते थे। उनके अपने 'प्रोषधभवन'

एकान्तवास के लिये बने हुये थे जहाँ वह पर्व दिवसों में उपवास धारण करके धर्मध्यान में समय बिताते थे और लोक का उपकार करते थे।[१]

इस प्रकार भव्य जीवों को धर्म-सम्बोधन देते हुये भगवान् मगध से विहार करके दूर-दूर देशों तक गये थे। जब वह हिमालय की तलहटी में विहार करते हुये श्रावस्ती नगरी में पहुँचे थे, तब आजीविकों का वहां प्राबल्य था। लोग अज्ञानवाद में बहे जा रहे थे—भाग्य भरोसे रहने के कारण साहस को खो बैठे थे। भ० महावीर के दिव्योपदेश से उन्होंने अपने अज्ञान को धो डाला और वे धर्म पुरुषार्थी बन गये। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित (अग्निदत्त) ने भक्ति पूर्वक भगवान् का अभिवन्दन किया। उनकी रानी मल्लिका ने एक सभागृह बनवाया, जिसमें ब्राह्मण, जैनी आदि परस्पर तत्वचर्चा किया करते थे।[२] श्रावस्ती से भगवान् कौशल के वैपश्री आदि नगरों में धर्मवर्षा करते हुये विचरे थे।

मिथिला नगरी भी भगवान् के शुभागमन से कृतार्थ हुई थी। वह विदेह देश की राजधानी थी।[३] पोलाशपुर में भगवान् का स्वागत राजा विजयसेन ने बड़े आदर से किया था। राजकुमार ऐमत्त भगवान् के चरणों में मुनि हुआ था। अंगदेश के मानवों को गर्व था कि प्रभु महावीर के समान महान् जगतगुरु और मार्गदर्शक द्वारा उनकी मातृभूमि पवित्र हुई है। अङ्ग-

---

१. लाहा, महावीर पृष्ठ ३८–३६

२. सजैइ०, भा० २ खड १ पृष्ठ ६३–६४

३. नेपाल की सरहद पर जनकपुर नामक ग्राम मिथिला अनुमान की जाती है। मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिलों की संयुक्त सीमा से वह उत्तर में है।

अधिनायक कुणिक ने चम्पा मे भगवान् का स्वागत किया था और वह कौशाम्बी तक उनके साथ गया था। चम्पा मे ही राजा दधिवाहन, जो विमलवाहन मुनिराज के निकट पहले ही मुनि हो गये थे, भ० महावीर के संघ मे सम्मिलित हुए थे।१

जब भ० महावीर का समवशरण कौशाम्बी नगरी मे पहुँचा, तो वहाँ के नृपति शतानीक भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर मुनि हो गये थे। उदयन् राजा हुआ था। बनारस मे तीर्थंकर महावीर की विनयभक्ति वहाँ के राजा जितशत्रु ने विशेष रूप मे की थी। वहाँ के चूलस्तीपिया और सूरदेव नामक गृहस्थों ने अपनी पत्नियों सहित श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। राजपुत्री मुण्डिका भी आर्यिका वृषभश्री के उद्योग से जैनी हुई थी।

एकदा भगवान् का समोशरण कलिङ्ग देश मे भी सुशोभित हुआ था। कलिङ्ग के राजा जितशत्रु भ० महावीर के पिता सिद्धार्थ के बहनोई थे। उन्होंने भगवान् के शुभागमन पर विशेष आनन्द मनाया था। अन्त मे वह निर्ग्रन्थ मुनि हो गये थे। भगवान् का धर्म प्रवचन संभवत: कुमारोपर्वत पर हुआ था। इस ओर के पुण्ड्र, बङ्ग, ताम्रलिप्ति आदि देशों मे भी जिनेन्द्र वीर का विहार हुआ था और वहाँ के लोग अहिंसाधर्म के उपासक बने थे।२

सुदूर दक्षिण भारत मे भी भगवान् महावीर का सुखद विहार हुआ था। जब भगवान् हेमांग देश (मैसूरवर्ती देश) मे पहुँचे तब वहाँ प्रतापी जीवन्धर राजा राज्य करता था। राजपुर उस की राजधानी थी, जिसके पास 'सुरमलय' नामक उद्यान था।

---

१. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृष्ठ ६४-६५

२. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ६६

प्रभू महावीर का समोशरण इसी उद्यान में अवतरित हुआ था। राजा जीवन्धर ने भगवान् के दर्शन करके अपने भाग्य को सराहा और वह मुनि दीक्षा लेकर वीर संघ में सम्मिलित हो गया। विहार करते हुये जब वह राजगृह पहुँचे तब विपुलाचल पर्वत से उसी समय मुक्त हुये जिस समय महावीर स्वामी पावा से मोक्ष गये थे।[1]

उधर से उत्तरापथ की ओर आते हुये भगवान् का समोशरण पोदनपुर में भी अवतरित हुआ प्रतीत होता है। वहाँ का राजा विद्रदाज भगवान् का भक्त था।[1]

मालवा और राजपूताना की वीरभूमि भी भ० महावीर की पावन पदरज से पवित्र हो चुकी अनुमानित होती है। उज्जैन में भ० महावीर के भक्त राजा चन्द्रप्रद्योत थे, जिनने उपाध्याय कालसंदीव से म्लेच्छभाषा सीखी थी। कालसंदीव जैनमुनि हुये थे और अपने शिष्य स्वेतसंदीव सहित वीर संघ में सम्मिलित हुये थे। राजा प्रद्योतन भी मुनि हुये थे।[2]

उज्जैन के पास ही दशार्ण नामक देश था। उस समय वहाँ के राजा भगवान् महावीर के निकट सम्बन्धी थे। उन्होंने अवश्य ही अपने हितैषी-लोक हितैषी सर्वज्ञ प्रभू का स्वागत किया था। उस समय मेवाड़ प्रान्त में मध्यमिका नामक नगरी प्रख्यात थी। वहाँ के नागरिक भ० महावीर के अनन्य भक्त थे। वीर निर्वाण सं० ८४ में उन्होंने वहाँ भगवान् का स्मारक स्थापा था।[3]

सिन्धु सौवीर प्रदेश की राजधानी रोरुकनगर में भी भगवान् का समवशरण पहुँचा था। सिन्धु सौवीर के राजा उदयन ने भगवान् की विनय-भक्ति की और वह स्वयं मुनि दीक्षा लेकर वीरसंघ में सम्मिलित हो गये थे।[४]

---

१. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ६८-६६

२. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ६६-१०१

३-४. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ६६-१०१

पंजाव मे सम्भवतः गांधारदेश की राजधानी तक्षशिला भ० महावीर के शुभागमन से पवित्र हुई थी। वहाँ ही निकट में कोटेरा ग्राम के पास एक पहाड़ी पर भ० के शुभागमन को सूचित करने वाला ध्वंस मंदिर विद्यमान वताया गया है।१

उत्तर भारतीय सौरदेश की राजधानी मथुरा एक प्राचीन और प्रख्यात नगर है। भ० महावीर के शुभागमन से वह भी कृतार्थ हुआ था। उदितोदय वहाँ का राजा था। उसका राजसेठ जैनधर्म का दृढ़ उपासक था। उसने भगवान् के निकट व्रत धारण किये थे।२

पाञ्चाल देश की राजधानी काम्पिल्य (कम्पिला) मे भी भगवान् का समवशरण अवतरा था। यहां का जय नामक राजा निर्ग्रन्थ मुनि हो प्रत्येक बुद्ध हुआ था। श्रावक कुन्द कोलिय ने सपत्नी व्रत धारण किये थे।२

इस प्रकार प्रायः समग्र भारतवर्ष मे भ० महावीरका पवित्र विहार हुआ प्रतीत होता है। उस पर 'हरि वंशपुराण" मे जिन देशों को वीर विहार हुआ लिखा है, उनमें से कुछ भारत के वाहर प्रतीत होते है। प्राचीनकाल मे भारतकी सीमायें अफगानिस्तान से भी दूर तक फैली हुई थीं। अतः आश्चर्य ही क्या वहां, बल्कि उनसे भी दूर के देशों मे वीर-विहार हुआ हो ! आर्यखड में उनका समावेश है और तीर्थंकर आर्यखंड में विहार करते ही हैं ! यवन श्रुति, क्राथ तोय, सुरभीरु, तार्ण, कार्ण आदि देश भारत वाह्य प्रतीत होते हैं। अभय राजकुमार के मित्र आर्द्रक पारस्य (ईरान) के राज कुमार थे। वह भ० महावीर के भक्त हुये थे। लग भग पाचसौ यवन (योद्धा Greeks) भी भ० महावीर

---

१. संजै इ०, भा० २ खड १ पृ० ९९-१०१

२. संजै इ०, भा० २ खड १ पृ० ९६-९७

के भक्त हुए थे फणिक (Phoenccia) देश के वणिक भी जिनेन्द्र महावीर के भक्त थे। भगवान के समवशरण मे ही वहॉ के एक व्यापारी ने मुनिव्रत धारण किया था। भारत मे जब वह गगानदी पार कर रहे थे, तब आंधी-पानी के आने से नाव उलट गई, परन्तु इन धर्म-वीर ने डूबते २ कर्मों का नाश करके मोक्षपद पाया था।१

सारांशत भ० महावीर का अन्तिम जीवन निरन्तर लोक-कल्याण के लिये सम्यक्ज्ञान और अभय दान की पुनीत सुख-धारा वहा देने मे व्यतीत हुआ। एक हजार आठ आरों वाले चमचमाते रत्नमई धर्मचक्र के साथ ही इन्द्र भगवान् के अहिंसा धर्म का—गऊसिंह को प्रेमसूत्र मे गुम्फित करके समता और मैत्रीभाव सिरजाने वाला जिनेन्द्र-ध्वज (झंडा) लिये वीर-विहार में आगे २ चलता था। नर-सुरासुरों के अतिरिक्त मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका-रूपी चतुर्विधि संघ भी विहार मे साथ होता था। योगिराट् तीर्थंकर महावीर की पुण्यधारा चहुँ ओर महीमे सुख-शान्ति विस्तार देती थी। प्रकृति नव उल्लास में थिर-कने लगती थी। संसार के प्राणी स्वत समझ जाते थे, उनका त्राण कहॉ है ? उनको शरण कहॉ मिलेगी ? और वह भगवान् महावीर के चरणों में आकर नतमस्तक होते थे। अतः स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने यह ठीक ही कहा है कि प्रभू वीर! आपका अहिंसाव्रत और अभयदान सहित उत्तम विहार लोकोपकार के लिये ही हुआ।

चतुर्विध वीर-संघ और निर्ग्रन्थ-गुरु

'अथ भगवान्सम्प्रापद्दिव्यं वैभार पर्वतं रम्यं।
चातुर्वर्ण्य-सुसंघस्तत्राभूद् गौतमप्रभृतिं' ॥१३॥

—निर्वाणभक्ति

जिस समय भगवान् महावीर केवलज्ञानी होकर वैभार पर्वत पर पधारे और उनके उपदेश को सुनकर इन्द्रभूति, वायु-भूति और अग्निभूति नामक वैदिक-धर्मानुयायी ब्राह्मण जैनधर्म मे दीक्षित हो गये, उस समय संघ की व्यवस्था की जाना आवश्यक हुई। किन्तु भ० महावीर की उदासीन वृत्ति थी। उन्होंने इच्छा को जीत लिया था और उन्हे यह खयाल स्वप्न में भी नहीं हुआ था कि वे अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करें। वह तो उस आध्यात्मिक परिपूर्णता की परमोच्चदशा को प्राप्त हो चुके थे जिसमे मोह और लोभ नहीं, दर्शन और ज्ञान ही दैदीप्यमान होते है। और यह प्रकृत सुलभ है कि दर्शन और ज्ञान के जीवित प्रकाश पुञ्ज के सम्पर्क मे जो भी भाग्यशाली प्राणी आवें, वे स्वयमेव उनसे प्रभावित होवे—वस्तुत' उनकी आत्मा का हित सध जावे और वे भगवान् के भक्त बन जावे—उनके सम्पर्क को कल्याणकारी माने। भगवान् ने ससार के सम्मुख सुख प्राप्ति के मूल साधन स्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय का पिटारा रख दिया था। वह पिटारा चिन्तामणि रत्न की तरह ही मुमुक्षुओ को इच्छित फल को देने वाला था। उसमे यह विशेषता थी कि वह हमेशा रहने वाली चीज है—शाश्वत है! जो सुख चाहे वह उससे लाभ उठाये और

---

1. भ० महावीर के विहार विषयक देशोंके परिचय के लिये परिशिष्ट नं० २ देखो।

जो वहका ही रहे, वह भले ही भटकता फिरे। भ० महावीर को लोक की इस प्रवृत्ति में न हर्ष था और न विषाद ! वह जानते थे कि किसी उपदेश को बलात्कार किसी के गले में नहीं उतारा जा सकता और वैसे उपदेश को किसी के मत्थे मढ़ने से कोई लाभ नहीं। इसलिये उन्होंने प्रत्येक प्राणी को अपनी बुद्धि से—विवेक से काम लेने का अवसर दिया। बाज़ार में एक पैसे की मिट्टी की हंडिया को भी लोग जब ठोक बजा कर खरीदते हैं, तब अपने जीवन के सुधार और बिगाड़ वाले मसले को उन्हें क्यों आँख मींच कर ग्रहण करना चाहिये ? इस मन्तव्य की सिद्धि के लिये मुमुक्षु को अपनी सारी मानसिक शक्ति और विवेक को प्रयुक्त करना चाहिये—निर्मल हृदय से परीक्षा करके सत्य को ग्रहण करना चाहिये। इन्द्रभूति गौतम आदि अनेक मुमुक्षुओं ने तर्क और न्याय की कसौटी पर भ० महावीर के उपदिष्ट ज्ञान को कसा और जब उसे सौ टच सोना-समान निखिल सत्य पाया तब वह उनकी शरण में आये ! भ० महावीर की यही विशेषता रही कि उन्होंने किसी से अपना अनुयाई बनने के लिये नहीं कहा और न कोई प्रलोभन या भय दिखाया। उन्होंने वैज्ञानिक रीति से धर्म का स्वरूप प्रतिपादा—जो चाहे उससे काम ले। आखिर विश्व का उत्कृष्ट कल्याण करने के लिये ही उनके तीर्थंकर पद का निर्माण हुआ था। अतः वह यह इच्छा करते ही कैसे कि सारी दुनियाँ उनके झंडे के नीचे चली आय ? उन्होंने केवल मनुष्यों को धर्म की ओर ऋजु किया—वह वातावरण उत्पन्न किया जिससे मनुष्य हृदय में धर्म और सत्य के लिये रुचि उत्पन्न हो। उनकी इस सत्य-शैली का ही यह परिणाम था कि उनके शिष्यों और भक्तों की संख्या दिन-दूनी बढ़ी थी। शिष्यों की संख्या वृद्धि से ही यह आवश्यकता उत्पन्न हुई कि संघ की व्यवस्था की जावे !

यूँ तो जैनधर्म और जैनसंघ भ० महावीर से प्राचीन था—वह भ० महावीर के समय के पहले भी विद्यमान था, क्योंकि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने उसकी पुनर्स्थापना की थी। किन्तु भ० महावीर के समय तक लोक परिस्थिति इतनी बदल चुकी थी कि उस प्राचीन जैन संघ का पुनरुद्धार होना आवश्यक था। भ० महावीर के 'वीर-संघ' की चतुर्विध व्यवस्था ने उस आवश्यकता को पूर्ण किया। भगवान् की शरण में अनेक भव्य प्राणी आये थे। कोई मुनि हुआ था—किसी ने उदासीन उत्कृष्ट श्रावक के व्रत धारण किये थे और वह भगवान् के साथ रहने लगा था। जो पुरुष घर का मोह नहीं छोड़ सके थे, वह मात्र भगवान् के भक्त बन गये थे—ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती घर में रहकर ही धर्म प्रभावना कर रहे थे। उन्हे स्व-पर कल्याण करने में रस आता था। पुरुष ही नहीं, भ० महावीर के सघ में स्त्रियों को भी अपने भाग्य निर्माण का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ था। अनेक रमणियों ने महाव्रत धारण किये थे—वे आर्यिका बनीं थीं और कई एक क्षुल्लिका होकर रहीं थीं। जिन्हे गृहस्थी से ममता वाकी थी, वे भगवान् का नाम और काम जपती हुई घर में ही रहीं थीं।

इस प्रकार भ० महावीर के भक्त दो तरह के थे:—(१) गृहत्यागी और (२) गृहवासी! गृहवासी भक्त केवल व्रती और अव्रती श्रावक और श्राविकायें थीं; परन्तु गृहत्यागी भक्त जो निरन्तर भगवान् के साथ २ विहार करते थे, मुनि और आर्यिका भी थे। अतः 'वीर संघ' चतुर्विध रूप अर्थात् (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक, (४) और श्राविका रूप था। कतिपय श्वेताम्बरीय शास्त्रों में मुनि और आर्यिकाओं से ही युक्त वीर संघ वताया है—श्रावक श्राविकाओं को वह घर मे रहने वाले धर्माराधक (गिहिणो गिहिमज्झ वसन्ता--उपासकदशासूत्र २।११६) वताते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है—स्वयं श्वेताम्बरीय

'कल्पसूत्र' (JS. Pt. I) में वीरसंघ के चारों अंगों का उल्लेख है। श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र भी भ० महावीर का संघ चतुर्विध-रूप ही बताते हैं! (निषसाद यथास्थान संघस्तत्र चतुर्विधः।—परि० पर्व १) उधर बौद्ध ग्रंथों में भी भगवान् के संघ मे निर्ग्रन्थ मुनियों के अतिरिक्त श्वेतवस्त्रधारी एकशाटक गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावकों और क्षुल्लिकाओं के अस्तित्व सूचक उल्लेख मिलते हैं॥। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघनिकाय' से यह भी स्पष्ट है कि, भ० महावीरजी का अपना संघ था, जो गणों में विभक्त था क्योंकि उसमे भगवान् को संघ और गण का आचार्य लिखा है। (निगन्ठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च ˙)।

श्री जिनसेनाचार्यजी के कथन से यह स्पष्ट है कि वीरसंघ में गणभेद विद्यमान था। उन्होंने लिखा है कि "भगवान् के इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकम्पन, अचल, मेदार्य और प्रभास ये ग्यारह गणधर थे। ये समस्त ही सात प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न और द्वादशांग के वेत्ता थे ॥४०-४३॥ तप्त, दीप्त आदि तपऋद्धि (१), चतुर्बुद्धि विक्रिया (२), अक्षीणर्द्धि (३), औषधि (४), लब्धि (५), रस (६) और बल ऋद्धि (२०) ये सात ऋद्धियां हैं ॥४७॥

॥ 'दीघनिकाय' (भा० ३ पृ० ११७-११८) में भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त निर्ग्रन्थ मुनियों के परस्पर विवाद करने का उल्लेख है, जिसे देखकर संघ के श्रावक दुखी हुये थे। गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावक 'एकशाटक' कहलाते थे। बुद्धघोष ने इन्हें एक वस्त्रधारी-लंगोटी या खंड चेलधारी कहा है। (मनोरथ पूरिणी ३) 'थेरीगाथा' में ऐसे उल्लेख हैं; जिनसे पता चलता है कि आर्यिकाओं के अतिरिक्त गृहत्यागी उत्कृष्ट श्राविका (क्षुल्लिका) भी वीरसंघ में थीं।

(भमबु०, पृ० २५८-२५९)

गौतम आदि पांच गणधरों के मिलकर सब शिष्य दश हजार छै सौ पचास और प्रत्येक के दो हजार एक सौ तीस २ थे। छठे और सातवें गणधरों के मिलकर सब शिष्य आठ सौ पचास और प्रत्येक के चार सौ पच्चीस २ थे। शेष चार गणधरों में प्रत्येक के छै सौ पच्चीस २ और सब मिलकर ढाई हजार थे। एवं सब मिलकर चौदह हजार थे ॥४५-४६॥"

इस वर्णन से प्रकट है कि पहले के पांच गणधर अलग-अलग एक २ गण की सारसम्भाल करते थे। परन्तु छठे और सातवें गणधर मिलकर एक गण की व्यवस्था रखते थे और अन्त के चार गणधरों का भी एक संयुक्त गण ढाई हजार मुनियों का था। कुल ग्यारह गणधर सात गणों की सार-संभाल करते थे। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०५ (२५४) में स्पष्टत. वीरसघ मे सात गणों का उल्लेख है[1]। इन गणों के मुनिगण महान् तपस्वी, महाविद्वान् और महिमा सम्पन्न लोकोद्धारक थे। उनमें तीन सौ मुनिगण तो अङ्ग-पूर्वगत ज्ञान के जानने वाले थे—जैन सिद्धान्त श्रुत के पारगामी थे। नौ सौ मुनिगण अनुत्तरवादी थे—उनके तर्क, न्याय और वक्तृत्व शक्ति के सामने कोई टिक नहीं सकता था! तेरह सौ मुनिगण अवधि-

---

१. "तस्माभवन् सदसि वीर जिनस्य सिद्धसप्तर्द्धयो गणधराः किल रुद्र सङ्ख्याः।
ये धारयन्ति शुभदर्शन बोधवृत्ते मिथ्यात्रयादपि गणान् विनिवर्त्य विश्वान् ॥२॥
पूर्वंशानिह वादिनोऽवधिजुषो धीपर्य्यय ज्ञानिनः—सेवे वैक्रिय-कांश्च शिक्षक-यतीन्कैवल्यभाजोऽप्यमून्।
इत्यग्न्यम्बुनिधित्रयोत्तर निशानाथास्तिकायैश्शतै—रुद्रोनैकशता-श्वैरपि-मितान्सप्तैव-नित्यं गणान् ॥६॥"—जै०शि०सं०, पृ० १९६

ज्ञान (Clairovoyance) के धारी थे—वे अपने विशेष ज्ञान से पूर्व जन्मों और दूरदेशों की बात बताते थे। पांच सौ मुनिगण धी पर्यायज्ञ—चार ज्ञान के धारी थे। नौ सौ साधुगण वैक्रियक ऋद्धि के धारी थे—वह मनचाहा रूप धारण करने को समर्थ थे। शताधिक योगीजन शिक्षक थे। वे शिष्यों को ज्ञान-दान देने वाले उपाध्याय थे। सात सौ मुनिराट् केवलज्ञानी थे—वह भी सामान्य रूप में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। साधारण मुनि ६६०० थे। *किन्तु श्वेताम्बरीय आम्नाय मे वीरसंघ नौ गणों में विभक्त निम्न प्रकार बताया है—

(१) प्रथम मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम, गौतम गोत्र के थे और उनके गण में ५०० श्रमण थे।

(२) दूसरे गणधर अग्निभूति भी गौतम गोत्र के थे। उनके गण में भी ५०० मुनि थे।

(३) तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति के भाई थे। इनके गण में भी ५०० मुनि थे।

(४) आर्य व्यक्त चौथे गणधर भारद्वाज गोत्र के थे, जिनके गण में भी ५०० श्रमण थे।

(५) अग्नि वैश्यायन गोत्र के पांचवें गणधर सुधर्माचार्य थे, जिनके आधीन भी ५०० श्रमण थे।

(६) मण्डिकपुत्र अथवा मण्डितपुत्र वशिष्ट गोत्र के थे और २५० श्रमणों के योगचार्य का नियन्त्रण करते थे।

(७) मौर्य्यपुत्र काश्यपगोत्री भी २५० मुनियों के गणधर थे।

(८) अकम्पित गौतमगोत्री और हरितायन गोत्र के अचल व्रत दोनों ही साथ २ तीन सौ श्रमणों का पथप्रदर्शन करते थे।

---

* हरि० पृ० २०

(६) मैत्रेय और प्रभास कौंडिन्य गोत्र के थे। दोनों के संयुक्त-गण में ३०० मुनि थे। (कल्पसूत्र J. S. I. 265)

अतः श्वेताम्बर मतानुसार महावीरजी के ग्यारह गणधर, नौ वृन्द (गण) और ४२०० श्रमण मुख्य थे। इनके सिवाय और बहुत से श्रमण और अर्जिकायें थीं, जिनकी संख्या क्रम से चौदह हजार और छत्तीस हजार थी। श्रावकों की संख्या १५०००० थी और श्राविकायें ३१८००० थीं।[1]

श्री गुणभद्राचार्य जी ने 'उत्तरपुराण' (पर्व ७४) मे वीर-संघ के मुनियों, आर्यिकाओं और अन्य भक्तों के विषय मे लिखा है कि "श्री वर्द्धमान के इन्द्रों के द्वारा पूज्य ऐसे ग्यारह गणधर हुए। इनके सिवाय तीन सौ ग्यारह अंग चौदह पूर्वों के जानकार थे। ९९०० वास्तविक संयम को धारण करने वाले शिक्षक मुनि थे, १३०० अवधिज्ञानी थे, ७०० केवलज्ञानी अरहंत परमेष्ठी थे। ९०० विक्रिया ऋद्धि को धारण करनेवाले मुनिराज थे और पाँच सौ पूज्य मनःपर्यय ज्ञानी थे। तथा चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मुनीश्वरों की संख्या १४००० थीं। इसी प्रकार ३६००० चन्दना आदि अर्जिकाएं थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं और असंख्यात देव-देवियाँ थीं।"[2] सौभाग्यशील अनेक तिर्यंच भी वीरसंघ में आत्मसुखाय उपस्थित रहते थे। आखिर भगवान् का समोशरण समस्त लोक भुवनाश्रय ही तो था!

चतुर्विध महावीर संघ का धार्मिक शासन गणधरों अथवा गणाचार्यों के आधीन था; तथापि आर्यिकासघ का नेतृत्व सती-साध्वी चन्दना को ही प्राप्त था। संघ की व्यवस्था के लिये

---

१. संभम०, पृ० १८१

२. उ०पु० पर्व ७४, श्लोक ३७३-३७९

समुदार नियम बने हुये थे, जिनका पालन यथोचित रीति से किया जाता था। कदाचित् कार्यवशात् कोई मार्गभ्रष्ट होता था, तो उसे संघ की समुपस्थिति में प्रायश्चित कर उसे पूर्वपद पर स्थापित कर देते थे। सात्यकि मुनि और ज्येष्टा आर्यिका के उदाहरण उल्लेखनीय हैं। वैसे सब ही मुनि-आर्यिका धर्म नियमोंका पालन बड़ी सतर्क दृष्टि और विवेकभाव से करते थे — हर कोई ज्ञान-ध्यान और तपश्चरण में लीन रहता था। भावों तक मे निर्मलता रखते थे। उन्होंने आखिर संसार त्याग भौतिक प्रयासों और प्रलोभनों को असार जान कर ही किया था— अपनी उगली हुई वस्तु को वह पुनः कैसे गृहण करते ? आशा-पिशाचिनी को उन्होंने नष्ट कर दिया था। वह कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिये हर समय आत्मस्वरूप के चिन्तवन मे लीन रहते थे। मुनि के अट्ठाईस मूल गुणों को पालते थे—हमेशा नग्न रहते थे और उद्यानों मे रह कर ही अपने ज्ञान-अनुभवो और सिद्धियों से लोक का 'उपकार करते थे और स्वयं अपनी आत्मा की उन्नति करते जाते थे। नगर-ग्रामों के बाहर मुनिजनों की ज्ञान गोष्ठियाँ होतीं थीं—उनमें केवल शुष्क तत्वज्ञान ही नहीं निरूपा जाता था, बल्कि लौकिक जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने के लिए भी चर्चा वार्ता हुआ करतीं थीं। बहुत से मुनि और आर्यिकाये वाद-प्रवाद-काल में निष्णात थे—वे नगरों मे जाकर अन्य मतावलम्बी दिग्गज आचार्यों से वाद करते थे। चूंकि श्रावक संघ उनका भक्त था—वह उनके ससर्ग में रहकर ज्ञानसंचय करता था। उपाध्याय मुनि और आर्यिकायें श्रावकों के बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्य पालन कराते हुये उन्हें योग्य शिक्षा और दीक्षा देते थे। इसलिये ऐसे २ श्रावक भी मौजूद थे, जो अच्छे २ विद्वानों से तात्विक चर्चा और वाद करते थे। गर्ज यह कि साधु-साध्वी निरन्तर ज्ञान का उद्योत करने और

अपना ज्ञान और तप-धन बढ़ाने में लीन रहते थे। वह बाह्य जगत से बिल्कुल निर्लिप्त थे—किसी का निमन्त्रण तक स्वीकार नहीं करते थे और न शरीर की स्थिरता के लिये किसी से भिक्षा मांगते थे। वह नियमित वेला पर नगर मे जाते थे और जो कोई विधिपूर्वक उनको आहार देता था, उसे लेते थे। वह आहार उनके लिये खास तौर पर नहीं बनाया जाता था—गृहस्थी मे जो नित्यप्रति आहार बनता हो उसीमे से अकस्मात पहुँच कर ले लेते थे। उनकी भ्रामरी वृत्ति थी। कहा भी है:—

"जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसम्।
ण य पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयम्॥
एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो।
विहगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणारया॥"

अर्थात्—जिस प्रकार द्रुमों—वृक्षों पर फूले हुये पुष्पों से भ्रमर रस संचय करता है और रस को पीते हुये पुष्पको ज़रा भी पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार समस्त मोह-ममता से मुक्त सच्चे साधुओं का व्यवहार है। जैसे भ्रमर पुष्पों के रस संचय करने से सन्तुष्ट होता है वैसे ही साधु भी विधिपूर्वक मिले हुये दान से सन्तुष्ट होते हैं।

साधु जीवन का शुद्ध-निर्वाह श्रावक-संघ पर ही अवलम्बित है। इसी कारण वीरसंघ मे श्रावक-श्राविकाओं को भी सम्मिलित किया गया था। बौद्धसंघ की तरह भ० महावीर ने गृहस्थ उपासकों को भुला नहीं दिया था। श्रावक संघके अग्रणी शंख या शतक नामक व्यक्ति थे और गृहस्थ उपासिकाओं मे सुलसा और रेवती प्रसिद्ध थीं। श्राविका जयन्ति भी विशेष भक्त और विदुषी महिला थी।[1] कहते हैं कि उसने भ० महावीर से खूब

---

1. यह नाम श्वेताम्बरीय शास्त्रानुसार हैं। देखो चंभमा, पृ० १७६

शङ्का-समाधान किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधु-साध्वी संघों से श्रावक-श्राविकाओं के संघों का निकट सम्बन्ध था। वे एक दूसरे के उपकारी थे। गृहस्थ-श्रावक जहाँ मुनि-आर्यिकाओं के शरीरों को स्थिर रखने में सहायक थे, वहाँ मुनि-आर्यिका श्रावक-श्राविकाओं को लौकिक और धार्मिक शिक्षा देकर उनकी आत्माओं का कल्याण करते थे। श्रावकों के जीवन धर्म की वासना में रंगे हुये थे और वे इतने ज्ञानवान थे कि स्वयं अपना आचार विचार शुद्ध रखते थे, किं वा कोई साधु सन्मार्ग से भटकता दिखता था तो उसे भी दृढ़ कर सुधार देते थे।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि साधुसंघ का एकाधिपत्य शासन नहीं था, बल्कि श्रावकों का भी नियंत्रण संघव्यवस्था में कार्यकारी था।

इस वैज्ञानिक व्यवस्था का ही यह सुफल है कि आज भी महावीर संघमें प्रायः वही व्यवस्था विद्यमान है। उस समय तो उसने बड़े २ राजाओं और पंडितों को भी नमा लिया था। सभी जाति और वर्ग के लोग जैनसंघमें सम्मिलित हुये थे। शतानीक, चेटक और उदयन सदृश राजा, अभयकुमार, वारिषेण आदि तुल्य राजकुमार और इन्द्रभूति गौतम आदि अनेक ब्राह्मण विद्वान् दि० मुनि हुये थे। चन्दना, ज्येष्ठा प्रभृति अनेक राज-कुमारियाँ अर्जिकायें हुई थीं। अर्जिकायें विदुषी और तपस्वी थीं। वे एक गाढ़े कपड़े की सफेद साड़ी पहनकर ही गरमी-सरदी के परीषह सहन करतीं थीं। मुनियों की तरह ही कठिन व्रत-संयम और आत्मसमाधि का अभ्यास करतीं थीं। अपने

---

१. कथा ग्रंथों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिनसे इस व्याख्या की पुष्टि होती है। उदाहरण स्वरूप श्रेणिक म० की कथा को लीजिये। उन्होंने एक मुनि को सम्बोधा ही था, जिसे उन्होंने एक धोबी से लड़ता हुआ देखा था।

बालों का उदासीनभाव से केश लोंच करतीं थीं—मुनि भी इस वीरचर्या के अभ्यस्त थे। शरीरमे उन्हे ममता नही थी—दुनिया ने देती ही क्या ? उसके संसर्ग से अलग रहकर जो महिलायें अपना कल्याण चाहतीं वे उनकी संगति से लाभ उठातीं थीं। विदुषी चन्दना के अतिरिक्त उनकी मामी यशस्वती भी विशेष प्रख्यात् साध्वी थीं। चन्दना की वहन ज्येष्ठा ने उन्हीं से दीक्षा ली थी। इन आर्यिकाओं का त्यागमई जीवन पूर्ण पवित्रताका आदर्श था—वे महान् पंडिता थीं। उस समय वे देश मे विहार करके धर्म प्रचार और ज्ञान प्रकाश फैलातीं थीं। पद दलित और निराश महिलाओं के लिये भी वीरसंघका द्वार खुला हुआ था—वह उनके लिये शरणागृह था। राजगृहके राजकोठारी की पुत्री भद्रा कुन्दल केसा एक डाकू के रूप पर ऐसी मोहित हुई कि उसी से उसने व्याह कर लिया। परन्तु उसने देखा डाकू उससे नहीं उसके गहनों से अधिक मोह करता है। वह जीवन से निराश हुई और जैनसंघमे आकर आर्यिका होगई। उसने केशलोंच किया और एक सफेद साडी पहन ली—संघमे रहकर उसकी कायापलट होगई—वह एक विदुषी तपस्वी वनी। देश मे विहार करके उसने लोगों को प्रभावित किया। श्रावस्ती मे प्रसिद्ध वौद्ध आचार्य सारीपुत्र से भी उसने वाद किया था।[1] वौद्धशास्त्र मे इस प्रकार एक जैन साध्वी का वर्णन आर्यिका संघ की उपयोगिता का ही प्रमाण है ! वीर संघमे जो दर्जा एक मुनि का था, आर्यिका का भी उपचार से उतना ही था—वह भी 'महाव्रती' कही गई है ![2] निःसन्देह भ० महावीर का उपदेश सब ही के

---

१. थेरीगाथा—भमवु० पृ० २५६–२६१

२. अष्टपाहुड पृ० ७२. वैसे आर्यिकायें पांचवे गुणस्थानवर्ती ही होती है।

लिये एक समान था—उनके निकट जाति और लिङ्ग नहीं—गुण मान्य थे !

अवशेष गणधरों में श्री सुधर्माचार्यजी पांचवें और विशेष प्रख्यात् थे। वीर-निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम के मुक्त हो जाने पर वही संघ के नेता हुये थे और केवलज्ञानी हो गये थे। उन्होंने वीर संघ का नेतृत्व बारह वर्षों तक किया था। वह भी जन्म-से ब्राह्मण थे। उनका गोत्र अग्निवैश्यायन था। वह 'लोहार्य' नामसे भी प्रसिद्ध थे। कोल्लगसन्निवेश में उनका जन्म धम्मिल पुरोहित और ब्राह्मणी भद्रिला के घर में हुआ था। उनकी आयु सौ वर्ष की थी। मुनि जीवन में उन्होंने सारे भारत में विहार किया था। पुंडवर्द्धन (बंगाल) में उनका विहार और धर्म-प्रचार विशेषरूप में हुआ था।[1]

शेष नौ गणधर भ० महावीर के जीवनकाल में ही मुक्त हो गये थे। चौथे गणधर अव्यक्त अथवा शुचिदत्त नामक थे। वह भी भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण थे और जैनधर्म में दीक्षित हुये थे। कुण्डग्राम के पास ही कोल्लगसन्निवेश के ब्राह्मण धनमित्र और ब्राह्मणी वारुणी उनके पिता-माता थे। वह अस्सी वर्ष की आयु में मुक्त हुये थे। छठे गणधर मंडिकपुत्र भी वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण थे। वह मौर्याख्य देश में धनदेव के घर विजयादेवी की कोख से जन्मे थे। सातवें गणधर मौर्यपुत्र काश्यप गोत्र के थे और मौर्याख्यदेश उनकी जन्म भूमि थी। इनके पिता पुरोहित मौर्यक नाम के थे। इनकी आयु ६५ वर्ष की थी। आठवें गणधर अकम्पित या अकम्पन भी गौतमगोत्री ब्राह्मण थे। मिथिलापुरवासी विप्रदेव इनके पिता और जयन्ती माता थीं। ७८ वर्ष की आयु में यह मुक्त हुये। नवें गणधर अचलवृत

१– संवे०, ना० २ खर १ पृ० १२०–१२१

अथवा धवल थे। वह भी हरितापन गोत्र के ब्राह्मण थे। उनका जन्म कौशलपुरी मे वसु ब्राह्मण के घर मे हुआ था। नन्दा उनकी माता थी। ७२ वर्ष की आयु मे वह मुक्त हुए। दसवे मैत्रेय और अन्तिम गणधर प्रभास भी कौन्डिन्य गोत्र के ब्राह्मण थे। मैत्रेय को मेतार्य अथवा मेदार्य भी कहते हैं। वह वत्सदेश में तुंगिकाख्य ग्राम के निवासी ब्राह्मण वल के गृह में उनकी स्त्री भद्रा की कोख से जन्मे थे।[1]

बौद्धशास्त्रों में भी कतिपय उन महानुभावों का उल्लेख है जो एक समय भ० महावीर के भक्त थे। 'मज्झिमनिकाय' में चूल सकलोदायी नामक निर्ग्रन्थ मुनि को पंचव्रतों का प्रतिपादन करते हुये लिखा है। उसी ग्रन्थ मे अन्यत्र दीघ तपस्सी नामक मुनि का उल्लेख है, जिन्होंने गौतमबुद्ध से तीन दंडों (मनदण्ड, वचन दण्ड और कायदण्ड) पर वार्तालाप किया था। इस घटना से उनका प्रभावशाली होना प्रकट है। सुणक्खत्त नामक एक लिच्छवि राजपुत्र भी प्रसिद्ध जैनमुनि थे। पहले वह बौद्ध थे, किन्तु बाद मे जैनमुनि हुये थे। जैनमुनि के कठिन जीवन से वह भयभीत हुये और फिर गौतमबुद्ध के पास पहुँचे; परन्तु उनकी आत्मतुष्टि नहीं हुई। इसलिये वह फिर पाटिकपुत्र नामक जैनमुनि के निकट जैनधर्म मे दीक्षित हुये थे।[2] इस उदाहरण से वीरसंघ मे व्यक्तिगत विचार स्वातन्त्र्य की महत्ता स्पष्ट होती है। परीक्षा प्रधानता ही उसमें मुख्य थी! श्रावस्ती के कुलपुत्र अर्जुन भी एक समय जैनमुनि थे। जैन मुनियों का प्रभाव बौद्ध भिक्षुओं पर पड़ा था—उनमे से कुछ तो जैन मुनियों की देखादेखी नग्न रहने लगे थे![3] आखिर उस समय

१. सजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० १२७-१२६
२. संजैइ०, भ० २ खंड १ पृष्ठ १६१
३. इं से जै०, पृ० ३६

नग्नता (दिगम्बर भेष) की मान्यता विशेष थी।[१]

बौद्ध लोग वैशाली के सेनापति सिंह को भ० महावीर का अनन्यभक्त प्रगट करते हैं। श्राविका नन्दोत्तरा को वह प्रसिद्ध वादी बताते हैं—वह क्षुल्लिका थी![२]

इस प्रकार भ० महावीर का चतुर्निकाय संघ अपनी व्यवस्था, धर्मपरायणता और लोकोपकार के लिये प्रसिद्ध था। जैन संघ अपनी विशेषताओं के कारण आज भी भारत में विद्यमान है, यद्यपि जैनेतर लोगों ने उसको नष्ट भ्रष्ट करने के लिये कभी कुछ उठा नहीं रक्खा था। किन्तु जैनधर्म का आधार विशुद्ध धर्मज्ञान है। अतः वह यावद्चन्द्र दिवाकर रहा और रहेगा!

---

१. इंऐ, भाग ६ पृ० १६२

२. भमबु०, पृ० २२८

सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार और प्रभू वीर !

"विपुलाचल पर जिनवर आये,
सुनत श्रवण नृप श्रेणिक धाये ।
समवसरन सुर धनद बनाये,
जासु रुचिरता त्रिभुवन छाये ॥
गौतम गणधर अरथ सुनाये,
धर्म श्रवण करि पाप नसाये ।
श्रेणिक सोलह भावन भाये,
प्रकृति तीर्थंकर बंध कराये ॥"

—कवि देवीदास

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार का वह चमकता हुआ नाम है कि जिससे भारतीय इतिहासका प्रामाणिक वर्णन प्रारम्भ होता है । जैन साहित्य में उनका अपूर्व स्थान है—वह भगवान् महावीर के अनन्यभक्त और जिज्ञासु थे । जैन शास्त्र बताते हैं कि सम्राट् श्रेणिक ने भ० महावीर से साठ हजार प्रश्न किये थे । जैनी कहते हैं कि कदाचित् श्रेणिक महाराज तीर्थंकर महावीर के समवशरण में नहीं होते और उपर्युक्त उपयोगी प्रश्नों को न पूछते तो शायद आज वे जैनधर्म को ठीक से जान भी न पाते । यह मान्यता सम्राट् श्रेणिक के सम्पर्क और महत्व को स्वयं स्थापित करती है । काश ! आज वह सब ही प्रश्नोत्तर मिलते होते ! मिलते हैं, पर थोड़े से ।

जब श्रेणिक मगध के राजसिंहासन पर बैठे, तब वह एक छोटा-सा राज्य था । राजगृह उसकी राजधानी थी । श्रेणिक-

से प्रतापी राजा को यह असह्य था। वह बुद्धिमान भी थे। कौशल और वृजि राष्ट्रों की सीमाये मगध से सटी हुईं थीं। वृजियों और कौशलों ने जब नृप चेटक के नेतृत्वमें मगध पर आक्रमण किया तो श्रेणिक ने उनसे सन्धि कर ली।[१] अपने पड़ोसियों से वैर अच्छा नहीं होता, यह साधारण नीति है। उपरान्त अङ्गदेश को जीतकर उन्होंने मगध साम्राज्य की समृद्धि की नींव डाली। आस पास के छोटे २ राज्यों को जीतकर उन्होंने संगठित रूप में मगध राज्य की उन्नति का सूत्रपात किया। वह मगध साम्राज्य के सच्चे संस्थापक थे। इस राज्यवृद्धि को लक्ष्य करके ही उन्होंने अपनी राजधानी-राजगृह फिर से बसाई थी।[२]

जैनशास्त्रों में लिखा है कि 'उनके राज्य करते समय न तो राज्य में किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय ही था। प्रजा अच्छी तरह सुखानुभव करती थी।' वह जनपदों के पालक, उनके पिता और पुरोहित, दयाशील एवं मर्यादाशील थे। दानवीर भी खूब थे। सम्मेद शिखर पर्वत पर उन्होंने जिननिषधिकायें बनवाईं थीं[३] और अन्य मन्दिर निर्मापे थे। राजगृह के पुराने खंडहरों से उनके समय की मूर्तियां आदि मिली हैं।

श्रेणिक जन्म से जैनी नहीं थे। उनके पिता राजा उपश्रेणिक ने जब उन्हें मगध से निर्वासित कर दिया था; तब वह कुछ दिनों बौद्धमठ में जाकर रहे थे और बौद्ध हो गए थे। घूमते-

---

१. 'उत्तरपुराण' में उल्लेख है कि चेटक सेना सहित मगधपुरी पहुँचा था। (कदाचिच्चेटको गत्वा ससैन्यो मागध पुरं।)

२. संजैइ० भा० २ खंड १ पृ० १४-१८

३. ऐशियाटिक सोसाइटीजर्नल, जनवरी १८२८

फिरते हुये वह दक्षिण भारत के कांचीपुर नगर में जा पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने अपनी विद्या और कौशल से राजसम्मान प्राप्त किया था और राज पुरोहित सोमशर्मा की कन्या नन्दश्री के साथ उनका विवाह हुआ था। श्रेणिक के ज्येष्ठ पुत्र अभय राजकुमार का जन्म इन्हीं की कोख से हुआ था। केरल नरेश मृगाक की विलासवती कन्या से भी उन्होंने विवाह किया था। उपश्रेणिक के पश्चात् यद्यपि चिलातपुत्र मगध के राजसिंघासन पर बैठा था, परन्तु वह शासन सूत्र संभाल न सका और वैभार पर्वत पर प्राचीन जैन संघ के दत्त नामक मुनि के निकट साधु हो गया था। उपरान्त श्रेणिक राजा हुआ था। भ० महावीर की मौसी और राजा चेटक की पुत्री चेलनी उनकी अग्रमहिषी हुई थीं। इन्हीं के पुत्र कुणिक अजात-शत्रु युवराज हुए थे। वारिषेण, हल्ल, विदल, जितशत्रु, दंतिकुमार और मेघकुमार उनके भाई थे। श्वेताम्बरीय शास्त्रों में उनकी दश रानियां बताई गई हैं, जिन्होंने चन्दना आर्यिका के निकट शास्त्र अध्ययन किया था।

सम्राट् श्रेणिक को जैनधर्म का श्रद्धान महारानी चेलनी के संसर्ग से हुआ था। श्रेणिक प्रारम्भ मे जैनधर्म से द्वेष रखते थे। एक दफा वह शिकार खेलने गये। मार्ग मे उनको एक यमधर नामक जैनमुनि दृष्टि पड़ गये। उनके कोपका वार न था। पांच सौ शिकारी कुत्ते मुनि पर छोड़ दिये; परन्तु मुनिवर की क्षमा शीलता ने उन कुत्तों को शान्त कर दिया। वे निरीह पशु पशुता भूल कर अहिंसक-वीर यमधर मुनि के चरणों मे लोटने लगे। श्रेणिक का क्रोध यह देखकर उबल पड़ा—तीक्ष्ण बाण मुनि पर उन्होंने छोड़े; परन्तु तपोधन मुनि के अहिंसास्त्र के सामने वह भी विफल हुये। श्रेणिक झल्ला गये और एक मरे सांप को मुनि के

---

१ हरिषेण कथाकोष पृ० १८२

गले में डालकर चलते बने। रनवास में पहुँचकर उन्होंने यह सब बातें रानी चेलनी से कहीं वह एकदम मुनिराज की वैयावृत्य करने की भावना से उठ खड़ी हुई। श्रेणिक ने अट्टहास करके कहा कि 'अब वह पाखंडी मुनि वहाँ नहीं होगा!' चेलनी बोली, 'यह हो नहीं सकता। सच्चा अहिंसक वीर उपसर्गों से डरता नहीं। वह शांत और अभय चित्त से उपसर्ग का सामना करता है। उपसर्ग करने वाले को उसकी गलती सूझ जाती है उनकी क्षमा और सहनशीलता से। यदि नहीं सूझती तो निर्वैर भाव से वह अपने शरीर को उस उपसर्ग-ज्वाला की भेंट कर देते हैं। मुनिवर यमधर एक ऐसे ही वीर हैं। वह अवश्य वहीं मिलेंगे!' श्रेणिक को कौतूहल हुआ। वह रानी के साथ हो लिया और जाकर देखा, मुनिराज उसी ध्यानमुद्रा में बैठे हुए हैं। उनके गले में सांप पड़ा है और लाखों चींटियां उनके शरीर से चिपटी हुई हैं। रानी ने शक्कर के सहारे से उन चींटियों को हटाया और मुनिराज का शरीर प्रक्षालन करके चन्दन का लेप कर दिया मुनिजी ने उपसर्ग टला जानकर समाधि छोड़ी। रानी ने नमस्कार किया, परन्तु मुनिराज ने राजा और रानी, दोनों को समभाव से 'धर्मवृद्धि'—रूप आशीर्वाद दिया। श्रेणिक जैन मुनि की इस क्षमाशीलता को देखकर दंग रह गया। उसका हृदय पश्चाताप और ग्लानि से भर गया—भक्तिपूर्वक उसने मुनिराज की वन्दना की और उनसे जैनधर्म का स्वरूप समझा। अब वह जैनधर्म का द्रोही नहीं रहा!

श्रेणिक महाराज ने जब यह सुना कि तीर्थंकर महावीर का समोशरण विपुलाचल पर्वत पर आया है तो वह सपरिवार जिनेन्द्र की वन्दना करने गये। भक्ति पूर्वक ज्ञातृपुत्र महावीर को नमस्कार करके वह बोले, "प्रभो! यद्यपि आप एक युवक राजकुमार थे, फिर भी आपने मुनिव्रत धारण किये। आप उस

युवावस्था मे श्रमण हुये, जिसमे हर कोई आनन्द भोग भोगता है। आपको भोगोपभोग की सारी सामग्री सुलभ थी, फिर उसे आपने क्यों नहीं भोगा ?" श्रेणिक का यह प्रश्न सामयिक था और उसके उत्तर मे जो वीर-वाणी खिरी वह आनन्द भोग के स्वरूप को स्पष्ट बताने वाली थी। उसका सार यूं समझिये।

"श्रेणिक! लोक की यही तो ग़लती है कि वह भोगों में—इन्द्रिय वासनाओं की तृप्ति मे आनन्द मानता है। भरी जवानी को दीवानी मानकर शरीर और आत्मा दोनो का अहित लोक कर डालता है। लोक मे सारे उपद्रव कामिनी और कंचन से ही होते हैं। फिर उसमे आनन्द कहाँ? जो हेय और उपादेय को नहीं चीनते—मानव होकर मनन करना नहीं जानते, वही विषय-वासनाओं की पूर्त्ति में आनन्द पाने का धोखा खाते हैं। जो सार को सार—उपादेय जानते, और असार को असार—हेय मानते हैं, वही सार को पाते है। लोक मे रस्सी या लोहे के बन्धन दीखते हैं, परन्तु वह दृढ़ बन्धन नहीं हैं। वस्तुतः दृढ़ बन्धन धन में रक्त होना, स्त्री में आसक्त रहना और पुत्र-सम्पत्ति की इच्छा करना है। इन इच्छाओं मे बंधा हुआ मनुष्य बधे हुए खरगोश की तरह चक्कर काटता रहता है— जन्म मरण के दुख उठाता है। इच्छाओं का—आशाओं का कभी अन्त नहीं है। जिस कामिनी के रूप पर प्राणी मोहित होता है, उसका अन्त जरा मे छिपा हुआ है। जिस शरीर की शक्ति पर मुग्ध हो पशु की भांति प्राणी अन्धा नाच नाचता है, वह मृत्यु का शिकार बनता है—सूखे काठ की तरह निष्प्रभ हो जाता है। धन-कंचन और राज-पाट तभी तक सुहाता है जब तक कोई उसका दायी न हो! इन्द्रियों की वासना पूर्ति आनन्द नहीं—आकुलता सिरजती है! कुत्ता हड्डी चबाकर सुख मानता है—रोगी पुरुष खाज को खुजला कर आनन्द लेता है, परन्तु उनके परिणामों

पर दोनों रोते हैं—लहू लुहान होते हैं। वासना में आनन्द होता तो उसका भोग सदा सुखदायी होता—रोगी भी भोग भोगकर सुख पाता—पित्त ज्वर गृस्त प्राणी मीठा लड्डू खाकर आनन्द पाता; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये ही बुद्धिमान् पुरुष लोक की मृग मरीचिका मे नहीं पड़ते हैं। गरम लोहे को मनचाही शक्ल दी जाती है, इसलिये युवावस्था में ही प्राणी को अपना जीवन संभाल लेना चाहिये। श्रेणिक ! तुमने बहुत से युद्ध लड़े हैं—बड़े २ शूरमाओं को पछाड़ा है, परन्तु यथार्थ युद्ध वही है जिसमें मोह और कषाय रूपी शत्रुओं को परास्त किया जाता है ! सुख भोग में नहीं, त्याग में है ! गाठ से गाढ़ी कमाई का पैसा खर्चने पर ही सुखाभास की वह ऐहिक सामग्री मिलती है, जिस पर प्राणी मुग्ध है। यह त्याग स्वार्थ साधना के लिये है, परन्तु जो त्याग परमार्थ के लिये किया जाता है वह अमित पुण्यफल को देता है।"

श्रेणिक ने हाथ जोड़ कर कहा, "धन्य हो ! नाथ ! ठीक कहते हो।" उन्होंने आगे सुना, "राजन् ! संसार में रहकर प्राणी सुख को नहीं पा सकता, क्योंकि उसका आत्मा इन्द्रिय-वासनाओं का गुलाम होता है। गुलामी में—दासता में सुख नहीं है। आत्मस्वातन्त्र्य ही सुख मूल है। इसलिये वृद्धावस्था की बाट न जोह कर प्राणी को अपना हित शीघ्र साधना उचित है। धर्म ही मंगल का मूल है। उसको ही धारण करने में आत्मा का कल्याण है। झूठे रीति रिवाजों, गंगा-गोदावरी के स्नानों और पाखण्डियों को दान-दक्षिणा देने से धर्म नहीं होता। धर्म सदाचरण से होता है। सम्यक् श्रद्धापूर्वक शुभ कर्मों को करने से धर्म पलता है और शुभकर्म वही हैं जिनसे अपनी और पराई आत्मा का अहित न हो—अन्तरंग में आकुलता न बढ़े ! सम्राट् ! तीर्थङ्कर वासुपूज्य के समय में अशोक और रोहिणी महापुण्य-

शाली जीव थे। वह दुख का नाम नहीं जानते थे। एक दिन वह दम्पति राजमहल की छत पर बैठे दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे। रानी ने एक पुत्रवियोग के शोक में रोती चिल्लाती हुई दुखिया को देखा; पर वह न समझी कि वह शोकाकुल है। दासी से बोली, 'इस स्त्री की तरह नाचना-गाना मुझे भी बता। मैंने चौसठ कलायें सीखीं, पर यह कला तो अनूठी है!' दासी को सुनकर बुरा लगा—'दुखिया का दुख दूर न करो तो उनका उपहास क्यों करो?' पर रोहिणी तो दुख जानती ही न थी—बोली, 'दुख क्या होता है?' राजा ने पुत्र को छत पर से फेंक दिया; परन्तु पुण्यवानों को दुख कैसे हो? बच्चे को चोट न आई; रोहिणी यह देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। बात आई गई हुई। एक दिन चम्पा के उद्यान में कुम्भ मुनीश का आगमन हुआ। राजा-रानी उनको वंदने गये। धर्म सुनकर पूछा, रोहिणी के पुण्य की विशेषता क्या है? मुनि विशेष ज्ञानी थे-उन्होंने उनके पूर्वभव बताये। एक समय गिरि नगर में भूपाल राजा की रानी सिंधुमती थी। एक मासोपवासी मुनि आहार लेने आये। राजा ने भक्ति से पड़गाहा, परन्तु रानी को यह न रुचा! साधु तपोधन थे, पर भोगासक्त प्राणी उनके महत्व को क्या जानें? रानी ने गुस्से से कडुवी लौकी उनको खिलादी! धीर-वीर मुनि ने समताभाव से उस विषाक्त साग को खा लिया और सन्यासमरण किया! लोगों ने कहा, कडुवी लौकी का आहार रानी ने देकर बुरा किया! वह था भी अकृत्य! राजा ने उसे देश निर्वासन का दंड दिया। वह भटकती हुई रौद्र भावों से मरी और दुर्गति के दुख भुगतती फिरी। आखिर किसी पुण्यवशात् वह चम्पा में सेठ धनमित्र के कन्या हुई; परन्तु उसके शरीर से ऐसी दुर्गन्ध आवे कि कोई उसे पास न खड़ा होने दे। लाख जतन किये पर वह दुर्गन्ध न गई। भाग्यवशात्

अमृतश्रवा नामक मुनि उसे मिल गये। उनसे उसे अपने कुकर्मका पता चला। उन्हीं मुनि से उसने धर्म का स्वरूप सुना और व्रत लिया। रोहिणी नक्षत्र के योग पर उसने उसे पाला और अपने दुष्कृत्य को धो डाला। व्रत-उपवास करना, दान देना और देवोपासना मे आसक्त रहना उसके मुख्य कर्म थे। भोगों को उसने जाना नहीं; धर्म-साधना में वह क्षीण शरीर हुई। वही दुर्गन्धा का जीव रोहिणी हुआ। पहले उसने खूब धर्म-कर्म किये और अब भी उसने जिनेन्द्र की विशेष पूजा की है। इसलिए उसके पुण्य की सीमा नहीं है। पुण्य से ही जीव संसार में किञ्चित् सुख-साता पाता है और पाप से दुख उठाता है। रोहिणी का जीव जब भोगों मे अंधा था और साधु-अभ्यर्थना भी उसे खलती थी; तब वह पतित हुआ—दुखी बना! परन्तु वही जब भोगों को जीतने लगा और योग की साधना मे लीन हुआ तो इतना सुखी बना कि दुख-शोक का नाम न जाना। अशोक और रोहिणी यह पूर्व वृतान्त सुनकर प्रसन्न हुये। उन्होंने त्याग का महत्व जाना। राज-बन्धन से वह मुक्त हुये। अशोक मुनि हुये और रोहिणी अर्जिका! दोनों ने तप तपा। अशोक शरीर बन्धन से मुक्त हो गये—उन्हें आत्म स्वराज्य मिल गया! रोहिणी स्वर्ग-सुख भोगकर उसे पायगी। श्रेणिक! तुम्हीं बताओ, बहकी दुनियां को सन्मार्ग पर लाने के लिये ज्ञान सूर्य का प्रकाश क्या वाञ्छनीय नहीं है? वर्द्धमान राजमहल के भोगों मे मुग्ध होकर कैसे महावीर बनता?"

श्रेणिक वीर-वाणी को सुनकर कृतकृत्य हुआ भाग्य को सराहने लगा। वह बोला, 'निस्सन्देह नाथ! आपका ही जीवन सफल है—मानव-जीवन का ठीक उपयोग आपने ही किया है। हे महाभाग! आप ही सच्चे जिनेन्द्र (Lord Conqueror) हैं—सारे लोक के संरक्षक और कल्याणकर्त्ता हैं। हे वर्द्धमान!

आप ही अशरण की शरण है। मुझे क्षमा कीजिये !"

श्रेणिक को तीर्थंकर महावीर के सदुपदेश से सत्साहस हुआ, उसके परिणाम निर्मल हो चले—उन्होंने आगे सुना कि "संसार के भीरु प्राणी पर्वत, वन-वृक्ष, चैत्य, यक्ष, इन्द्र आदि को देव मानकर उनकी शरण में जाते हैं; किन्तु यह शरण मंगलदायक नहीं—उत्तम नहीं, क्योंकि यह शरण उसको सब दुःखों से नहीं बचाती। जो स्वयं मृत्युशील है, वह दूसरे को कैसे अमर बनाए ? जो स्वयं आशाओं और वाञ्छाओं में जल रहा है, वह कैसे दूसरों को संताप से मुक्त करेगा ? लोक में चार मंगल है ! और चार ही शरण है। अर्हंत की शरण मे जाओ, सिद्ध की शरण में पहुँचो, साधु महाराज की शरण प्राप्त करो और केवली भगवान् के बताये हुये धर्म को ही शरण जानों ![1] उस धर्म के आश्रय मे पहुँचो—वह दुख को शमन करने की ओर ले जाता है—इसीलिये धर्म उत्तम शरण है। राजन् ! तुमने अपने पूर्वभव में इस अहिंसा धर्म का छोटा-सा बीज अपनी हृदय-भूमि मे बोया था, वही विकसित होकर वट-वृक्ष की तरह महान् पुण्य-फल को देने वाला हुआ है। अपने तीसरे भव में तुम्हारा जीव विंध्याचल पर्वत के कुटच नामक वन मे खदिरसार नाम का भील था। महा-प्रचण्ड और उग्र तुम्हारा चित्त था—प्राणियों की हिंसा करना तुम्हारा खिलवाड़ और आजीविका का साधन था। एक दिन समाधिगुप्त मुनि ने तुम्हे 'धर्म लाभ' रूप आशीर्वाद दिया। तुम्हारे जीव भील खदिरसार ने धर्म का नाम नहीं

---

१. "चत्तारि मंगलं। अर्हंता मंगलं। सिद्धा मगलं। साहू मगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं।"—"चत्तारि सरण पव्वजामि। अर्हंता सरण पव्वजामि। सिद्धा॰ सरणं पव्वजामि। साहू सरणं पव्वजामि। केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वजामि।"

सुना था। वह चौंका और पूछा, 'धर्म क्या चीज़ होती है ?' उत्तर में मुनि ने कहा, 'मद्य-मांस-मधु' का त्याग करने में धर्म है। मद्य पीने से बुद्धि भ्रष्ट होती और मांस-मधु खाने से शरीर नीरोग नहीं रहता। इनके खाने में बड़ी हिंसा होती है। इसलिये इनके त्यागने में जीव रक्षा होती है, जिससे स्वर्गों के सुख मिलते हैं।' भील ने कहा, 'यह व्रत तो मैं नहीं पाल सकता !' मुनि महाराज भी उसकी कुलागत असमर्थता समझ गये। उन्होंने कहा, 'अच्छा तुम सिर्फ कउवे का मांस खाना छोड़ दो।' भील ने यह शिरोधार्य किया। भाग्यवशात् कालान्तर में वह रोगी हुआ और लोगों ने कहा कि कउवे का मांस खाने से वह अच्छा हो जायगा; परन्तु भील ने व्रत ले रक्खा था। उसने प्राणों की परवाह न करके कउवे का मांस खाने से इन्कार कर दिया। शक्ति को न छिपा कर थोड़ी सी धर्म साधना भी महती फल देती है। खदिरसार मांस खाता अवश्य था, परन्तु उसके हृदय ने यह मान लिया था कि उसका वह कर्म बुरा है। उसे संतोष था कि वह बहुत थोड़े रूप में ही सही अहिंसा पाल रहा है। उसका हृदय परिवर्तन हुआ था। इसीलिये उस की आत्म दृढ़ता ने उसे समभावी बनाया—वह मरा और सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ। स्वर्गीय सुख भोग कर देखो, राजन् ! व्रत पालन की दृढ़ता के पुण्यफल से तुम ऐश्वर्यवान् राजा हुये हो ! यह है धर्म-पालन का महत्व !"

श्रेणिक ने मस्तक नमाया और कहा, 'दीन बन्धो ! आप सत्य कहते हैं, परंतु दुनिया के लोग यह सहसा नहीं मानते कि कहीं स्वर्ग-नर्क भी हैं !" श्रेणिक ने उत्तर में सुना "लोगों की यह भूल है। दुनिया की सभी चीजें और बातें आंखों से नहीं देखी जातीं—बहुत सी बातों का विश्वास आगम से सुनकर भी किया जाता है। पुत्र अपने पिता के व्यक्तित्व में माता के कहने

से ही विश्वास करता है। वायु को किसी ने नेत्र से नहीं देखा
है—उसके स्पर्शन से ही उसका अस्तित्व मानते हैं। इसी तरह
छद्मस्थ जीव मनुष्य स्थूल नेत्रों से स्वर्ग और नर्क नहीं देख
पाता है; परन्तु वही विशेष ज्ञानी हो जावे तो ज्ञान नेत्र से
उन्हें देख लेवे। फिर भी स्थूल रूप मे देवपर्याय के किन्हीं जीवों
के दर्शन लोक को होते ही हैं। कभी २ किसी यक्ष या व्यन्तर
के उपद्रव की बात दुनियाँ देखती और सुनती है। ज्योतिषी
देवों के पटलों—नक्षत्रों और तारों को हर कोई देखता है। जब
देवों की एक जाति प्रत्यक्ष दीखती है, तब स्वर्गवासी देवों का
अस्तित्व क्यों न माना जावे? इष्ट सिद्धि के लिए संसार के
पुरुष इन्द्र यक्ष आदि की पूजा करते मिलते हैं। इसलिये स्वर्ग
के विषय मे शङ्का करना व्यर्थ है। मनुष्य को निःशङ्क होकर
दर्शन-ज्ञान की उपासना और पालना करना उचित है—वह
एक दिन अपने ज्ञान को प्रकाशित करके लोक की सभी बातों
को देख सकता है! आधिभौतिकता का अन्ध अनुकरण उसे
पतित और दुखी बनाता है; परंतु आत्मा की उपासना उसे
शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्द परमात्मा के दर्शन कराती है। क्या तुम्हें
स्मरण नहीं—सुध नहीं है अपनी आत्मा की? उस दिव्यनिधि
की, जो तुम्हारे अन्तरंग में विद्यमान है।"

राजसिंह श्रेणिक ने भक्तिभाव से अपना हृदय और मस्तक
श्रमण-सिंह महावीर के चरणों मे नमा दिया। वह अपने परि-
वार सहित जिनेन्द्र महावीर का उपासक बना। मोहनीयकर्म
की सात प्रकृतियों के क्षयस्वरूप उसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति
हुई! वह परमोच्च श्रावक हो गये और धर्म प्रभावना मे निशदिन
तल्लीन रहे। लोकोपकार करने मे उन्हें रस आता था। उनकी
प्रसिद्धि और कीर्त्ति नरलोक ही क्या स्वर्गलोक मे भी पहुँच
गई। एक देव को कौतुक हुआ उसे सुनकर, और वह श्रेणिक की

परीक्षा करने के लिये चल पड़ा। देव ने एक दिगम्बर मुनि का भेष बनाया। वह भेषी तालाब के किनारे वंशी डालकर बैठ गया और मछलियाँ पकड़कर कमंडलु में डालने लगा। श्रेणिक उधर से निकले और यह देखकर दंग रह गये। झट हाथी से उतर कर मुनिभेषी देव के पास पहुँचे और नमस्कार करके बोले, 'यह मुनिचर्या का घातक व्यवसाय है। कहिये तो इन मछलियों को पानी में छोड़ दूँ।' परन्तु मुनिवेषी राजी न हुआ और मछलियाँ पकड़ता रहा, श्रेणिक इतने पर भी विचलित न हुये। उन्होंने विनय पूर्वक उनसे राजप्रासाद में चलने के लिये कहा और उनकी स्वीकृति पर मछलियों को पानी मे छोड़ दिया। श्रेणिक दृढ़ सम्यक्त्वी थे—वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि किसी तरह जैनधर्म का उपहास हो। वह जानते थे कि उपर्युक्त मुनिभेषी निन्दनीय कर्म कर रहा है, फिर भी उन्होंने उसके दिगम्बर-भेष को इसीलिए नमस्कार किया कि दुनियाँ कहीं उस दिगम्बर भेष की निन्दा न करने लगे! सच्चे मुनि भी किसी एक पाखंडी के कारण कष्ट में न पड़ जावें। उस पर गलती किस से नहीं होती? मनुष्य का कर्तव्य है—सम्यक्त्व की मांग है कि वह गलती में पड़े हुये प्राणी को उसकी गलती सुझावे और उसके हृदय में उसके उस बुरे कृत्य के प्रति ग्लानि उत्पन्न करा देवे। गिरते हुये—चिगते हुये भाई को धक्का देकर गिरा न दे, गिरते को सहारा दोगे तो वह सम्भलेगा, धक्का दोगे तो वह नीचे गिरेगा। गिरतों को ऊपर उठाना धर्म है। उपगूहन और स्थितिकरण धर्म के अंग हैं। सम्यक्त्वी उन्हे पालता है। श्रेणिक के राज-दरबारियों ने मौका पाकर उपर्युक्त घटना पर मीठी चुटकी ली। राजा ने आज्ञा दी कि 'जो भी राजपत्र लिखे जॉय व आयें वे विष्टा से चिन्हित किये हुए हों, राजा की आज्ञा को कौन लौटता? जो कहा वह हुआ। वही राज-दरबारी

चुपचाप विष्टाग्रस्त राजपत्र लेते और मस्तक से लगाकर राजा के सामने उपस्थित करते। राजाने कहा, अमात्य! विष्टाग्रस्त इस पत्र को मस्तक पर लाते तुम्हे ग्लानि नहीं होती? ऐसा क्यों करते हो?' अमात्य ने उत्तर दिया, 'नरनाथ! आपकी आज्ञा पालना हमारा धर्म है।' श्रेणिक हंसे और बोले, 'यदि यही बात है अमात्य! तो त्रिलोकाधीश के धर्म शासन का पालन करना क्यों न अनिवार्य हो? मुनिवेषी इस विष्टागृस्त राजपुत्र के तुल्य ही थे। जब इसकी अवज्ञा तुम नहीं कर सकते, तो मैं लोकोद्धारक धर्म चक्रवर्ती महावीर के शासन को अवज्ञा कैसे कर सकता हूँ?' अमात्य चुप न हुआ और बोला, 'यदि भेष की आड़ मे पाखंडियों को प्रोत्साहन दिया जायगा, तो सच्चे साधु कहाँ मिलेंगे?' श्रेणिक ने कहा कि 'पाखंडी मुनिभेषो को प्रोत्साहन देने के लिये किसने कहा? दिगम्बर मुनिभेष की अवज्ञा और अविनय नहीं होना चाहिए, यदि कोई धूर्त पवित्र मुनिभेष को कलंकित करता है, तो वह दण्डनीय है। धर्मनीति कहतीं है कि उसको समझा-बुझा कर स्थितिकरण करना चाहिये। यदि वह धृष्टता करे तो उससे मुनिभेष छीन लेना चाहिये! याद है, अमात्य! उस दिन की बात, जब एक मुनिवेषी धूर्त धोबी से लड़ रहा था और मैंने उसे भर्त्सना दी थी!' अमात्य ने कहा, 'क्षमा कीजिये, नरनाथ! अब मैं आपका दृष्टिकोण समझा! निस्सन्देह हमे मुनियों के दिगम्बरभेष, ऐलक-क्षुल्लकों के सचेल रूप और व्रती श्रावकों की मर्यादा की विनय करना उचित है। सहसा प्रगट रूपेण किसी की भर्त्सना करने का किसी को अधिकार नहीं है। जो ग़लती पर है उसे एक अवसर ग़लती सुधारने का अवश्य मिलना चाहिये। अब यह मैं समझा!' श्रेणिक प्रसन्न थे। उन्होंने आगे कहा, 'दुनिया की वासना में फँसे हुये लोग साधुओं के यथाजात नग्नरूप को देखकर नाक भौं

सिकोड़ते हैं, परन्तु वह भूलते हैं। मनुष्य अपने नैसर्गिक रूप में रहे, यह क्षमता प्राप्त कर लेना इस बात का प्रमाण है कि उसने वासना और लज्जा को जीत लिया है। सोते जागते-चपल चंचल जगत् और निर्जन एकान्त में वह इन्द्रियजयी एक-सा रहता है। प्रकृति के प्रकोप उसका कुछ नहीं बिगाड़ते। सदाचार की मूर्ति बना हुआ वह अपना और पराया हित साधता है। वह आवश्यकताओं से मुक्त और आकांक्षाओं से निर्लिप्त होता है। कांच-कंचन-स्मशान-महल उसके लिये एक से होते हैं। भूख और प्यास को वह जीत लेता है। सुख-दुख की विषमता में वह समता के दर्शन करता है इस कारण वह समदृष्टि है-और लोक उसकी विनय और वन्दना करता है। यह है महत्व एक दिगम्बर मुनि का। उस पर हम सहसा अविश्वास कैसे करें ? तलवार की तेज्र धार पर चलना सुगम है, परन्तु मुनिधर्म धारण करना अति साहस का काम है संसार मे ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं।'

सम्राट् श्रेणिक की इन मार्मिक बातों का प्रभाव प्रजा पर खूब ही पड़ता था। आज भी संसार के सभी मतों में साधु की परमोच्च दशा दिगम्बर (नग्न) ही बताई है। उपनिषदों मे परमहंस तूरियातीत साधुओं को दिगम्बर-भेषी लिखा है।[१] इस्लाम में भी दरवेश का उच्चतम स्वरूप यथाजात नग्न बताया है[२] और

---

१ "यथाजातरूप—धरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रह ·· शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठो ··· ···"—जाबालोपनिषद पृ० २६०-२६१। विशेष के लिये हमारी 'दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि' नामक पुस्तक देखना चाहिये।

२. इस्लाम में यह नंगे ऊँचे दर्जे के दरवेश 'अबदाल' (Abdal) कहलाते हैं। ऐसे बरहना दरवेशों में अबुल कासिम गिलानी विशेष प्रख्यात थे। (Mysticism & Magic in Turkey नामक पुस्तक देखो) मौ० जलालुद्दीन रूमी ने अपने 'मसनवी' ग्रन्थ में नग्नता के पक्ष में जो लिखा है, उसका भाव निम्न पद्यों में गर्भित है:—

ईसाई मत में पुरुष ही नहीं स्त्री भी दिगम्बर भेष में रही हैं। २ सम्राट् श्रेणिक दि० जैन मुनियों की विनय करते थे और उनके द्वारा लोकोपकार के कार्य को सुगम बनाते थे। जैन शास्त्रों में उनके विशेष कार्यों के उल्लेख भरे पड़े हैं। वह स्वयं ही क्षायिक सम्यक्त्वी हुये और उनके कई पुत्र भ० महावीर के निकट मुनि हो गये। अपनी प्रशंसनीय धर्म प्रभावना से अर्जित विशेष पुण्य के फलस्वरूप, श्रेणिक आगामी काल मे पद्मनाभ नामक प्रथम तीर्थङ्कर होंगे।

"मस्त बोला, महसव ! कर काम जा,
होगा क्या नंगे से तू अहदे बर आ !
है नजर धोबी पै जामा पोश की,
है तसल्ली जेवर अरयां तनी।
या विरहनों से हो यकसू वाकई,
या हो उनकी तरह बेजामै अखी !
मुतलकन अरियां जो हो सकता नहीं,
कपड़े कम कर कि है औसत के करीन !!"

३. बाईबल में लिखा है कि "उसने कपड़े उतार डाले और इसी ढंग में सैम्युल के सामने उपदेश दिया तथा उस दिन और रात भर वह नंगा रहा। इस पर उन्होंने कहा कि क्या साल भी पैगम्बरों में है।"—सैम्युल १६।२४

"ईसाइहा नंगा और नगे पैरों विचरा।' ईसाइहा २०।२
मिश्र देश में सेंटमेरी ने नगे होकर तपस्या की थी। ईसाई सन्त नंगे रहते थे। (The Ascension of Isaiah, p. 32)

मि० चर्चिल ने म० गांधी को नङ्गा फकीर कहा, तो उसके उत्तर में म० गांधी ने बताया कि वह नङ्गा फकीर होने की इच्छा रखते हैं,

अपने जीवन के अन्तिम भाग में श्रेणिक राज-काज से मुक्त हो गये। उनके कई पुत्र उनके देखते २ अरण्यवासी मुनि हो गये थे; फिर भला वह राजमोह में ही क्यों पगे रहते? शहद लपेटी हुई तलवार को कबतक चाटते रहते? उन्होंने कुणिक अजात शत्रु को राज पद दिया और स्वयं एकान्तवास किया। वह सत्संगति में समय का सदुपयोग करते थे, परतु व्रतों को धारण करने मे असमर्थ रहने के कारण उनका दिल छटपटाता था! उनका पूर्व कर्म-बन्ध उनके मार्ग में बाधक था। वह सद्भावना लीन रहे। उधर पूर्व वैर वशात् कुणिक ने समझा श्रेणिक उसके विरुद्ध प्रजा को भड़काते हैं। पाखंडी देवदत्त ने उसे बहका दिया। श्रेणिक को उसने बन्धन में डाल दिया। बन्धन में रहते हुये ही भ० महावीर जी के जीवन काल में ही उनका निधन हुआ! वह सारे बन्धनों का अन्त तीर्थङ्कर पद्मनाभ होकर करेंगे! यह थी विशेषता भ० महावीर के सम्पर्क में आने की! वह मनुष्य को बन्धन मुक्त और आत्मस्वातंत्र्य का सरस भोग कराने का मार्ग सुझाते थे!

अभय राजकुमार की प्रव्रज्या !

'वीर धम्मु, जो आयरइ बंभणु सुद्दवि कोइ !
सो सावउ, किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥'

"भ० महावीर के धर्म का जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे शूद्र, कोई भी हो, वही श्रावक है। और क्या श्रावक के सिर पर कोई मणि रहती है ?"

—श्री देवसेन सूरि,

विपुलाचल की मनोरम शिखिर-भूमि पर तीर्थङ्कर महावीर का समवशरण अनुपम शोभा पा रहा था। देवोपनीत विभूति से वेष्टित सर्वज्ञ भगवान् गंधकुटी मे अंतरीक्ष विराजमान थे। सामने रक्खे हुये दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब साफ दिखता है, वैसे ही परमहितू वीतराग भगवान् के ज्ञान-दर्पण में तीन लोक और तीन काल का बिम्ब दृष्टि पड़ रहा था। गणधरों और राजा-महाराजाओं के पुण्य प्रभाव से जिनेन्द्र की धर्मामृत वर्षा हो रही थी। अवसर पाकर सम्राट् श्रेणिक के विद्वान् और यशस्वी पुत्र अभय राजकुमार ने नतमस्तक होकर भगवान् से अपने पूर्वभव पूछे—कौन से अच्छे काम उसने किये, जिससे वह राजकुमार हुआ ? उत्तर में उन्होंने सुना कि 'उस जन्म से तीसरे भव मे वह भव्य होकर भी बुद्धिहीन था। वह किसी ब्राह्मण का पुत्र था और वेद पढ़ने के लिए देश विदेश में घूमता फिरता था। वह मूढ़ताओं—पाखंड मूढ़ता, देव मूढ़ता, तीर्थमूढ़ता और जाति मूढ़ता में विमोहित होकर आकुल-व्याकुल

हो रहा था।*उनके मद में मत्त होकर वह सत्य से भटक रहा था। एक दिन रास्ता चलते हुये उसे एक जैनी पथिक मिल गया। जैनी मूढ़ताओं और मदों से दूर रहता है। जैनी ने देखा कि वह ब्राह्मण पुत्र पत्थरों के ढेर के पास खड़े हुये एक वृक्ष को भूतों का आवास मानकर पूज रहा है। वह हंसा और पेड़ से कुछ पत्ते तोड़कर बोला, 'देखो! तुम्हारा देव मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता!' ब्राह्मण पुत्र ने सरोष कहा, 'अच्छा है, मैं भी तेरे देव की अवज्ञा करूंगा' दोनों रास्ता लगे। आगे कपिरोमा बेल को देखकर जैनी ने कहा, 'यह मेरा देवता है!' ब्राह्मणपुत्र ने आव देखा न ताव, झट से उसके पौधे उखाड़ने पर टूट पड़ा। थोड़ी देर में उस बेल के स्पर्श से उसके हाथ-पैरों में ज़ोर की खुजली मची। अब तो उसका माथा ठनका—वह समझा, निस्सन्देह इस जैनी का यह देव सच्चा है। जैनी इस पर खूब हंसा और बोला, 'प्रिय विप्र! तुम भूलते हो। दुनिया में कोई ऐसा देव या ईश्वर नहीं है जो किसी को सुख-दुख का देने वाला हो। जीव जो अच्छे और बुरे कर्म करता है, उसी से पुण्य और पाप संचित करके सुख-दुख भुगतता है—संचित कर्म—जीव की करनी ही उसका मूलकारण है! अतः तप, दान आदि सत्कार्य करना चाहिये। जो दूसरों की प्रशंसा और निन्दा से प्रसन्न और रुष्ट हो सकता है, वह देव कैसा? मनुष्य में और उसमें अन्तर ही क्या? वह देव ईश्वर है तो वह कृतकृत्य है—

---

* यद्यपि शास्त्रों में तीन मूढ़ताओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु श्री गुणभद्राचार्य ने 'उत्तर पुराण' (पृ० ६२४) में अभयकुमार के पूर्व भव वर्णन में चार मूढ़तायें लिखी हैं। उसके अनुसार ही यह प्रकरण लिखा जा रहा है। 'द्विजोद्‌भूत-देवमौढ्य.'—'विप्रस्तीर्थमौढ्यं निराकरोत्'—'हेतुर्मिजातिमौढ्यमस्य निराकरोत्'—

इच्छा से रहित है, वह किसी को दुखी क्यों करेगा ? सब ही जीव जब उसके हैं तब वह किसी का भला और किसी का बुरा कैसे करेगा ? एक छोटे से गांव का रक्षक भी तो यह नहीं करता—वह ईश्वर होकर कैसे करेगा ? अपनी ही पुत्र-सी प्रजा में वह दारुण महामारी क्यों फैलायेगा ? क्यों वह उनको ऐसी दुर्बुद्धि देगा कि जिससे उसकी सन्तान आपस में ही लड़ मरे और भीषण नर संहारक शस्त्रास्त्रों को सिरजे ? कोई भी दयालु ईश्वर यह नहीं कर सकता। संसार मे यह विषमता दिखती है। इस लिए कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो जीवों को बनाने और बिगाड़ने वाला हो या उनको सुख-दुख देने वाला हो !' ब्राह्मण पुत्र झल्ला गया और बोला, 'बिना कारण के दुनियां मे कोई कार्य होता ही नहीं ? इसलिए तुम्हारी बात ठीक नहीं।' जैनी मुस्कराकर कहने लगा, 'शायद तुम ठीक कहते हो, परंतु जरा सोचो तो ! संसार का कारण ईश्वर है, तो वह कैसा कारण है ? क्या उपादान कारण है, वैसे ही जैसे घड़े का कारण मिट्टी; कड़े का चांदी ? यदि ऐसा है तो संसार में और ईश्वर में कुछ अन्तर नहीं रहता—वह ईश्वर का रूपान्तर ठहरता है। दुनियां की सभी बुराई-भलाई, सुख-दुख, पाप-पुण्य दया-क्रूरता—सभी ईश्वर से और ईश्वर में भी मानना पड़ेगी। परिणाम यह होगा कि ईश्वर सुखमय की अपेक्षा दुखमय अधिक प्रगट होगा—वह दयालु की अपेक्षा क्रूर अधिक भासेगा, क्योंकि जगत मे चहुँओर क्रूरता का राज्य है ! उपादान कारण होने के कारण ईश्वर निर्विकार भी नहीं रहेगा ! यदि ईश्वर को निमित्त कारण मानो, तो उपादान कारण दूसरा मानना पड़ेगा। यदि बिना उपादान कारण के सृष्टि रची तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी ! फिर कार्य-कारण का सिद्धान्त ही गिर जायगा। तब जगत को देखकर उसके सृष्टा-संचालक

के मानने की आवश्यकता ही क्या ? यदि यह कहो कि दूसरे उपादान कारण से जगत बनाता और चलाता है, तो क्या कुम्हार की तरह जगत से अलग रह कर बनाता है या उसमें ही समा कर ? अलग रहता है तो वह सर्व व्यापक नहीं ठहरता और सृष्टि रचने और सुख दुख देने के लिए उसे दूसरे सहायकों और साधनों की आवश्यकता होगी, जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। फिर जो दूसरों पर निर्भर रहेगा, वह सर्व-शक्तिमान कैसा ? इस प्रकार ईश्वर जगत के कार्यों का न उपादान कारण हो सकता है और न निमित्त कारण ! यह आवश्यक ही क्यों, कि लोक का कोई कारण होना ही चाहिये ? यदि ईश्वर कारण है, तो उसका कारण कौन ? और फिर उसका भी कारण कौन ? यह सिलसिला कैसे खत्म होगा ? यदि इसे ईश्वर पर रोकते हो, तो उसे प्रकृति की स्वाभाविक सूक्ष्म शक्ति पर ही क्यों नहीं रोकते ? ईश्वर को सुख-दुख का कर्त्ता-हर्त्ता मानकर तुमसे हठीले लोग मनुष्य को उसके हाथ की कठपुतली बना देते हैं, जिससे मनुष्य किसी भी अच्छे-बुरे कर्म का उत्तरदायी नहीं रहता। वह बात २ में कहता है कि 'यह ईश्वर की लीला है—यह ईश्वर की मर्जी है !' और पुरुषार्थहीन बनता है। दुनिया में कायर पुरुष सताये जाते हैं। ईश्वर की दयालुता फिर उसके लिये कहाँ रही ? मनमोहक इन्द्रधनुष और रंगविरंगे फूलों का चटखना देखकर अविवेकी झट से ईश्वर की लीला को दुहाई देता है, वह दीन दुखिया की कुटिया के वीभत्स दृश्य को देखकर जहा दरिद्रता नगा नाच नाच रही हो, क्यों नहीं उसकी क्रूरता को पहचानता है ? क्या प्रतिपालक पिता भी क्रूर होता है ? सच तो यह है कि लोक अनादि है—इसका प्रवाह नियमित रीति नीति से चल रहा है—प्रकृति का व्यवहार उल्लंघन नहीं होता। मनुष्य स्वय अपना स्वामी है—

वह किसी ईश्वर के आधीन नहीं है। यदि वह स्वाधीन न हो तो उसे आत्म शुद्धि और मुक्ति के लिए प्रयत्न करने की गुंजाइश कहां रहे ? फिर तो धर्म और धार्मिक क्रियायें भी निष्फल और व्यर्थ हों। मनुष्य कर्म करने में और उसका फल भोगने में स्वतंत्र है इसीलिये धर्म की आवश्यकता और सार्थकता है। ईश्वर को कर्ता न मानने से मनुष्य अपने ही किये से अपना वर्तमान और भविष्य का जीवन उन्नत बनाता है ! जब कौरव और पाण्डव लड़ २ कर खून खराबी कर रहे थे, तब ईश्वर ने क्यों नहीं उसका अन्त किया ? इसलिए हे ब्राह्मण पुत्र ! ईश्वर कर्तृत्व की मान्यता कायर पुरुषों की मानसिक कल्पना है। निश्चय ही जानो तुम अपने ही कर्मों के अनुसार सुख दुख पाते हो !' जैनी के इस सरल तर्कवाद को सुनकर उस ब्राह्मण पत्र ने अपनी देवमूढ़ता दूर कर ली। जैनी ने उसे यह भी समझा दिया कि 'यक्षादि देवता पुण्यवान जीवों को स्वयं सहायक वनते हैं—व्यक्ति का पुण्य ही उसमे भी मूल कारण है। पुण्यरूपी कंकण के रहते हुये देवता भी किसी का कुछ भी नहीं विगाड़ सकते ! मनुष्य को अपना और पराया हित साधना चाहिए।'

आगे चलने पर वह श्रावक और ब्राह्मण गंगानदी के किनारे पर पहुँचे। ब्राह्मण ने उसे 'मणिगगा' नामक उत्तमतीर्थ समझा और वह उसमें पापमोचन के लिये वड़ी श्रद्धा से डुबकियाँ लगाने लगा। जैनी उसकी इस तीर्थमूढ़ता पर तरस खा रहा था। उसने चट से भोजन किया और उच्छिष्ट मे गंगाजल मिलाकर ब्राह्मण के आगे रक्खा। ब्राह्मण यह देखकर लालपीला हुआ। जैनी ने नम्रतापूर्वक कहा, 'महाराज ! नाराज न होइये। इसमें पवित्र गंगाजल मिला दिया है, जिसे आप शुद्धिकारक समझते हैं। यदि वह गंगाजल इस उच्छिष्ट दोष को—

अशुद्धि को दूर नहीं कर सकता, तो फिर उससे पाप रूपी अशुद्धि कैसे दूर हो सकती है ? यदि जल में नहाने-धोने से ही बुरी वासनायें और पाप दूर हो जावें तो फिर तप-दान आदि अनुष्ठानों का करना व्यर्थ हो जायगा ! सब लोग जल से ही पापमोचन करलें तो इस गंगा में हर समय रहने वाले मच्छ कच्छ आदि जन्तुओं की मुक्ति तो कभी की हो जाना चाहिये थी ! इसलिए हे भाई ! तू अपने चित्त से यह निर्मूल विचार निकालदे। गंगाजल निस्सन्देह जलों में श्रेष्ठ है, परन्तु वह आन्तरिक-आध्यात्मिक-शुद्धि का कारण नहीं है। वास्तव में मिथ्यात्व (झूठा श्रद्धान) अविरत, प्रमाद, कषाय से पापकर्म बंधते हैं और सम्यक्त्व (सत्य श्रद्धान) ज्ञान, चारित्र, तप से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। अन्ततः मोक्ष भी इन्हीं से मिलती है। इसलिये जिनेन्द्र का मत ही समीचीन है। उसे ग्रहण कर।' ब्राह्मण पुत्र को जैनी की यह बात जच गई और उसने तीर्थमूढ़ता भी छोड़ दी।

ब्राह्मण ने देखा वहीं पर एक तपस्वी पंचाग्नि तप तप रहा है। उसने उसे पहुँचा हुआ साधु समझ कर वन्दना की। जैनी ने उसे समझाया, वह साधु कैसा जो धन-ख्याति-लाभ के लिये शरीर को कष्ट देवे और हिंसामई कार्य करे ? साधु को तो समभावी, सतोषी और दयावान होना चाहिए। जलती हुई आग में छहों प्रकार के जीवों का निरन्तर घात होता है। उसे हर कोई देखता है। फिर जान बूझ कर हिंसा करने वाले को तुम साधु कहते हो ? ब्राह्मण पुत्र बात को समझ गया और उसने अपनी गुरु मूढ़ता छोड़ दी।

श्रावक ने देखा कि यद्यपि ब्राह्मण पुत्र विवेकी भव्य है परन्तु उसे अपनी ब्राह्मण जाति का घमंड है— यह घमंड मनुष्य की आत्मोन्नति में बाधक होता है। जैसे मद्य को पीकर मनुष्य

मत्त हो जाता है, वैसे ही जाति घमंड के मद में भरा हुआ मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है। वह अपने को उच्च और दूसरों को नीच समझ कर उनके साथ बुरा व्यवहार करता है। वह नहीं विचारता कि अपने गुणों से ही मनुष्य उच्च और नीच बनता है। 'ब्राह्मण भी मांस भक्षण तथा वेश्यादि सेवन, न करने योग्यों का सेवन करने से क्षण भर में पतित हो जाता है। प्रत्यक्ष में मनुष्यों के शरीर में वर्ण वा आकार से कुछ भेद भी दिखाई नहीं पड़ता—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में शूद्रों से भी गर्भाधान की प्रवृत्ति देख पड़ती है; इसलिए मनुष्यों में गाय और घोड़े के समान जाति का किया हुआ कुछ भेद नहीं है। यदि आकृति मे कुछ भेद हो तो जाति मे भी कुछ भेद कल्पित किया जा सकता है१।' विदेह क्षेत्र में सबही वर्णों के मनुष्य मोक्ष जाते हैं। मनुष्य जाति एक है, उसमें भेद कल्पना करना व्यर्थ है।

ब्राह्मण पुत्र बोला, 'दुनियाँ में ब्राह्मण वर्ण श्रेष्ठ माना जाता है। ऊपर के तीन वर्ण ही शुद्ध और उच्च हैं। तुम सबको एक-मेक किये देते हो?' जैनी ने कहा, 'दुनियां का क्या? दुनियां के लोगों के मुंह में जबान है और मन पर विवेक की लगाम है

---

१. 'गोमांसभक्षणागम्यगमाद्यैः पतिते क्षणात्॥
वर्णाकृत्यादि भेदानां देहस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान प्रवर्तनात्॥ ४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृति ग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥ ४९२॥'

—उत्तर पुराण

अभयकुमारजी के पूर्व भव वर्णन में श्री गुणभद्राचार्यजी ने यह कथन जाति का घमंड दूर करने के लिए लिखा है। उसी के अनुसार यहां लिखा जा रहा है।

नहीं—वह मन के मते चलेगी ही। किन्तु विवेकी अपनी बुद्धि से काम लेता है। देखो, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, यदि वह हिंसादि पापाचार करेगा तो अवश्य नर्क जायगा और लोक में भी पापी का अनादर होगा। इसके विपरीत यदि ब्राह्मण या शूद्र, अहिंसादि पुण्य कर्मों को करेगा तो स्वर्ग पायेगा। है न यह बात?' ब्राह्मण ने कहा, 'हाँ, पाप से दुख और पुण्य कर्म से सुख मिलता है। पुण्य और पाप करने में सभी मनुष्य स्वाधीन हैं!' जैनी ने बतलाया, "जब यह बात है, विप्र! तब ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, सभी एक समान हुये। उनमें उच्चता-नीचता का मौलिक भेद मानना मिथ्या है। निश्चय जानो, अपने कर्म से ही मनुष्य 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य अथवा शूद्र बनता है!'[१] भरत महाराज ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में जो धर्मात्मा पुरुष थे, उनको अलग छाँट कर की थी, जिससे राष्ट्र की आध्यात्मिक उन्नति हो। प्राकृत राष्ट्र की उन्नति के लिये ही वर्णों (वर्गों) की व्यवस्था की गई थी। राष्ट्र की रक्षा के लिये क्षत्रिय नियुक्त किये गये थे—राष्ट्र की श्रीवृद्धि के लिये वैश्य निर्धारित किये गये और लोक सेवा एवं शिल्पोन्नति के लिये शूद्रों का वर्गीकरण किया गया। सम्राट् ऋषभदेव ने सभ्यता के अरुणोदय में मनुष्यों का यह वर्गीकृत विभाजन किया था। किन्तु दुख है कि स्वार्थी मनुष्यों ने आगे चलकर इस व्यवस्था को जन्मगत उच्चता-नीचता का माप ठहरा कर अपना पूज्यता और अर्थलाभ का साधन बना लिया।' ब्राह्मण ने कहा, 'हो सकता है, यह ठीक हो! किन्तु जातियों में भेद न मानने पर कुल-जाति की शुद्धि नहीं रहेगी, जिससे धर्म का ह्रास

---

१. 'कम्मुणा बम्मणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ २५ ॥'

होगा !' जैनी ने उत्तर दिया, 'भूलते हो विप्र! कुल और जाति की शुद्धि जिस रज-वीर्य के आधार पर मानी जाती है, उसका कोई ठिकाना नहीं ।[१] कौन कह सकता है कि गर्भज भ्रूण ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है या शूद्र है ? वस्तुतः कुल शुद्धि अच्छे आचरण और शुभसंस्कारों पर निर्भर है। जैन धर्म संस्कार से युक्त मनुष्य मात्र को 'द्विज' बताता है[२] — श्रावकाचार को जो भी पालता है, चाहे जन्म से और चाहे दीक्षा लेकर, वह जैनी गृहस्थ है और उनके समुदाय का नाम ही जैनकुल है।[३] इस शुद्ध श्रेष्ठ जैन कुल की मर्यादा ही पालनीय

---

१. न विप्रा विप्रयोरस्ति सर्वथा शुद्ध शीलता।
कालेन नादिजा गोत्रे स्खलनं क न जायते ॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्विका यस्यां सा जातिर्महती मता ॥'
—श्री अमितगतिः।

'अनादौ काले तस्याऽप्रत्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्। प्रायेण प्रमदानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भाच्च कुतो योनि निबन्धनो ब्राह्मणा निश्चयः न च विप्लुतेतर पित्रापत्येषु वैलक्ष्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां गर्दभांश्च, प्रभृवापत्येष्मिन् ब्राह्मण्यां ब्राह्मण शूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते क्रियाविलोयत् ॥'—श्री प्रभाचन्द्रः

२ 'वर्णान्तः पातिनौ नैते मन्तव्या द्विज सत्तमाः।
व्रतमन्त्रादि संस्कार समारोपित गौरवाः ॥
विशुद्ध वृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः।
वर्णान्तः पातिवोनैते जगन्मान्या इतिस्थितन ॥
—आदिपुराण ३९।१४२।

३. सागारधर्मामृत द्वितीय अध्याय श्लो० २०-५५

है। जन्मत. बालक कच्ची हंडिया के समान है—हंडिया में चाहे तेल रखिये चाहे घी, वैसीही बन जायगी। शिशु भी जैसे सस्कार में दीक्षित किया जाता है, वैसा ही हो जाता है। इसलिये जाति का घमण्ड नहीं करना चाहिये। हृदय मे निरन्तर क्षमा और मार्दव रूपी जलधारा वहने दो, जिससे अन्तरग शीतल रहे और तुम अपना एवं पराया हित साध सको।" ब्राह्मण पुत्र ने इस पर अपनी जाति मूढ़ता भी खोदी और उसने श्रावक के व्रत धारण किये। धार्मिक जीवन विता कर उसने खूब पुण्य कमाया। अन्त समय उसने समाधि ली और वह मर कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहा के भोग भोग कर अब तू राजा श्रेणिक का श्रेष्ठ पुत्र हुआ है। पहले जन्मों में असत्य को त्याग कर तूने सत्य धर्म को आराधा था; वही विशिष्ट पुण्य फल तेरे उदय मे है। अतः मानवों को निरन्तर धर्म पालना हितावह है।"

अभयराजकुमार ने मस्तक नमाया और कहा,'प्रभो, धर्म पालने का यह माहात्म्य है तो मुझे अपनी शरण में लीजिये—निर्ग्रन्थ प्रवर्ज्या दीजिए!' किन्तु गणधर महाराज के समझाने पर अभयराजकुमार उस समय मान गये और माता-पिता की आज्ञा लेने के लिये घर चले आये। कुछ काल पश्चात् ससार की वास्तविक स्थिति को जानते हुए वह एक दिन राजसभा में आए उन्होंने भक्तिपूर्वक श्रेणिक महाराज को नमस्कार किया और सर्वज्ञभाषित यथार्थ तत्वों का सारगर्भित उपदेश देने लगे; जिसे सुनकर सब लोगों को दृष्टि तलों की ओर झुक गई। यह सुयोग पाकर उन्होंने पिता से मुनि हो जाने की आज्ञा मांगी। महाराज श्रेणिक मारे मोह के विह्वल हो गये; परन्तु अभयराज के दृढ़ निश्चय के सम्मुख वह झुक गये। अभय राजकुमार को आज्ञा मिल गई। वह भ० महावीर के पास पहुँचे और प्रवजित हो गए। इस समय श्रेणिक ने मङ्गलोत्सव मनाया।

निर्ग्रन्थ मुनि होकर अभय राजकुमार ने दुर्धर तपश्चरण किया और कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञानी होकर वह भ० महावीर का दिव्य सन्देश फैलाने के लिए दूर देशों मे गये। पारस्य (ईरान) के राजकुमार आर्द्रक उनके मित्र थे। अभय राजकुमार ने उनको सम्बोधा। वह भगवान् की शरण मे आये और मुनि हो गये। आर्द्रक कुमार भी लोक मे धर्म प्रचार करते हुये विचरे थे। एक दफा जब भ० महावीर के संघ सहित रहने पर किसी आजीवक ने आक्षेप किया, तो बड़ी युक्ति से उन्होंने उसका निरसन किया था। महावीर का संघ समूह लोकोपकार के लिये था। भ० महावीर उससे निर्लिप्त थे, वैसे ही जैसे जल से कमल पृथक रहता है।

अन्त मे अभय राजकुमार अभयधाम मोक्ष को प्राप्त हुये थे।[1]
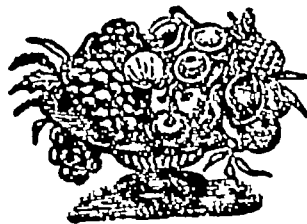
१. बौद्धग्रन्थों में भी अभयराजकुमार का उल्लेख है और उनमें भी उन्हें निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भ० महावीर का भक्त प्रगट किया गया है। उन्होंने म० गौतमबुद्धका भी आदर सत्कार एक समय किया था, यह भी प्रगट है। (मज्झिमनिकाय—भमबु० पृष्ट १६१—१६२)

मेघकुमार का वैराग्य और सम-सेवा-भाव !

'जल बुब्बुदसक्कधणुखणरुचि घण सोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंदट्ठाणाहं बलदेवप्पहुदि पज्जाया ॥

—श्री कुन्दकुन्दाचार्य

मेघ कुमार भी राजा श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र थे। उनकी आठ रानिया थी, जिनके साथ वे भोग भोगते थे। उनके साथ संगीत-गान-विलास में अनुरक्त रहते थे। उन्हें कोई चिन्ता न थी। उनकी कोई वान्छा न थी, जिसकी पूर्ति न होती हो। वह सब प्रकार के मानवी सुखभोग मे आनन्द मग्न थे। युवावस्था ने उनके नेत्रों के आगे से जरा की जर्जरित दशा छुपा रक्खी थी।

एक समय विहार करते हुये भ० महावीर राजगृह के उद्यान में पधारे। लोगों की टोली की टोली उनके दर्शन करने के लिये जाने लगी। राजा-महाराजा, उमराव-सरदार, सेठ-साहूकार, ब्राह्मण-पण्डित, आर्य-अनार्य–जिसने सुना वही भगवान् की वन्दना करने के लिये गया। राजगृह के मार्ग-हाट-बाजार-चौक, जहा देखो वहा भगवान् महावीर के शुभागमन की चर्चा वार्ता थी। लोगों की मेदनी उमड़ती देख कर मेघकुमार ने अपने विलास गृह में बैठे २ पूछा, 'आज क्या उत्सव है, जो लोग उमड़े चले जा रहे हैं? क्या उद्यान-यात्रा या गिरि यात्रा है?' कंचुकी ने उत्तर दिया, 'राजगृह के बाहर श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं—उनके दर्शन करने के उत्सुक लोग वहीं चले जा रहे हैं!' यह सुनकर मेघकुमार को भी भ० महावीर के दर्शन करने की इच्छा हुई। वह अपने चार घंटों वाले रथ में बैठा और वहाॅ पहुँचा

जहाँ तीर्थंकर भगवान् का समोशरण था। दूर से भगवान् को देखते ही वह रथ से उतर पड़ा और राजचिन्ह छोड़ कर विनय और सावधानी से उनके निकट पहुँचा। तीन प्रदक्षिणा देकर उन्होंने नमस्कार और वन्दना की। वह नर कोठे में बैठ कर धर्मोपदेश सुनने लगे। उन्होंने सुना:—

"जीवित प्राणी संसार मे किसी भी उपाय से जरा, व्याधि और मृत्यु से रहित नहीं हो सकता। अतः कल्याण के इच्छुक मनुष्यों को जरा भी प्रमाद न करना उचित है। जरा से घिरे हुए प्राणी की रक्षा कैसी ? यह अवश्य जानो। प्रमत्त असंयमशील और हिंसक लोक किस रीति से रक्षणगृह हो सकता है ? जरा सोचो जो मनुष्य दुर्बुद्धि पूर्वक पापकर्म करके धन कमाते हैं वह वैर विषाद करके नर्क के रास्ते लगते हैं। जैसे चोर अपने हाथों से उकेरी हुई सेंध मे पकड़ा जाता है, वैसे ही पापाचारी मनुष्य अपने ही किए हुये कर्मों से वधता है। इह लोक और परलोक में समस्त प्राणी पाप से ही पीड़ित होते हैं, क्योंकि संचित कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता। अपने या परके लिये मनुष्य जो भी पाप कर्म करता है, उन सब का फल उस अकेले को ही भोगना पड़ता है। उस समय कोई भी भाई-बंधु अपना भाईचारा नहीं जतला सकता।

मोहवश प्राणी सुन्दर-सी दिखती वस्तु और धनादि में आसक्त होता है, परतु वह प्रमत्त मनुष्य पापकर्मों के फल से धनादि की वृद्धि नहीं कर सकता है। अत. सोते हुओं के बीच जगते रहो ! आशुप्रज्ञ पंडित, सोते हुओं का विश्वास न करो ! काल निर्दयी है और शरीर अबल है। अतः अप्रमत्त रहकर सदाचरण करो। बन्धन वाले स्थान मे सावधानी से रहो। संयम का लाभ होवे तो जीवन पोषो। यदि वह असंयम का कारण बने तो उसका नाश अच्छा।

"जिस प्रकार सुशिक्षित और बख्तर से मंडित घोड़ा रणक्षेत्र में पीछे नहीं हटता, उसी प्रकार स्वच्छंद प्रवृत्ति का निरोधक वीर निर्वाण मार्ग से पीछे नहीं हटता ! कोई सहज ही विवेक को नहीं पा सकता ! अतः जागृत बनो ! कामनायें छोड़ दो ! संसार के स्वरूप को समझो ! समभाव सीखो ! और असंयम से आत्मा की रक्षा करते हुये अप्रमत्त हो कर विचरो !

"मोह को जीतने का प्रयत्न करने वाले के मार्ग में बहुत बाधायें आती हैं, इस लिये उनमें न फँसकर सावधानता से अद्वेषभाव पूर्वक प्रवृत्ति करो ! ललचाने वाले पाशों में मन को उलझने से रोको, क्रोध पर अंकुश रक्खो ! मान दूर करदो ! माया का सेवन मत करो और लोभ का त्याग कर दो। प्राणी मात्र पर दया भाव रक्खो। उनका और अपना मान करो।"[1]

भ० महावीर का ऐसा सारगर्भित उपदेश सुनकर मेघकुमार प्रसन्न हुआ। उसका हृदय निर्मल हो गया। वह भगवान् की उपासना करता हुआ बोला, 'हे भगवान् ! आपका कथन मुझे रुचा है—मेरी उस पर श्रद्धा है-मैं पुरुषार्थ प्रकट करके बन्धन मुक्त बनना चाहता हूँ। अतः आज्ञा दीजिये कि मैं अपने माता-पिता की सन्मति ले लूं।" भगवान् मौन थे। मेघकुमार नमस्कार करके घर लौट आया।

घर पहुँचते ही मेघकुमार ने श्रमण दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की ! वैराग्य का गहरा रंग उनके दिल पर चढ़ गया था। माता-पिताके मोही-मन पर गहरा आघात हुआ। उन्होंने बहुत समझाया-बुझाया, फुसलाया और उनकी पत्नियों सहित उन्हें रिझाया, परंतु मेघकुमार का निश्चय ध्रुव था। वह लोक से

---

१. भ० महावीर नी धर्मकथाओ, पृ० १८—१९

भयभीत थे—लोक का उद्धार करने के लिये लालायित थे। जब कोई उपाय चलता न देखा तो राजा-रानी ने उनका राज्याभिषेक किया और बड़े मंगलोत्सव से उन्हें दीक्षा लेने के लिये विदा किया। मेघकुमार महापराक्रम करने के लिये जा रहे थे। एक विजयी वीर के समान उनका जय-जय-कार हो रहा था। मागध-जन आशीर्वाद सूचक शब्दों में घोषणा कर रहे थे कि:—

"न जीती गई इन्द्रियों को जीतिये; श्रमण धर्म को पालिये; धैर्यरूपी कच्छ बांध कर तप से राग द्वेष रूपी मल्ल को हनिये; उत्तम शुक्ल ध्यान से आठ कर्मों को मसल डालिये; निर्भय रह कर विघ्नों की सेना का नाश कीजिये! जय हो मेघकुमार! तुम्हारे मार्ग में विघ्न न आवे!"

देखते ही देखते सब लोग भ० महावीर के निकट पहुँच गये। राजा श्रेणिक और रानी धारिणी ने मेघकुमार को उनके सम्मुख उपस्थित करके विनयपूर्वक कहा,—"हे देवानुप्रिय! यह हमारा इकलौता बेटा मेघकुमार है—हमे वह प्राणों से प्यारा है। जैसे कमल पंक और जल में जन्मता और बढ़ता है पर तो भी पंक और जल से पृथक रहता है, वैसे ही काम मनोरथों मे जन्मा और भोगवासनाओं मे पाला-पोसा हुआ यह मेघकुमार आपका प्रवचन सुन कर भोगवासनाओं से अछूता हुआ है। जन्म-जरा और मरण का भय उसे हुआ है। वह इन तीनों को जीतने का इच्छुक है।' माता-पिता की प्रकट अनुमति पाकर मेघकुमार ने वस्त्राभूषण उतार फैंके; निर्ग्रन्थ भेष में उन्होंने पंच मुष्टिओं से केशों का लोंच करके अपने पराक्रम को प्रकट किया। इस अवसर पर उनकी मां का क्षत्रिय-हृदय प्रफुल्लित हो नाचने लगा। वह बोलीं:—

"हे बेटा! खूब प्रयत्न करना, खूब पराक्रम करना। प्रमाद को पास न आने देना। एक दिन हम भी इस मार्ग मे लगेंगे

अवश्य !"

अब मेघकुमार राजपुत्र नहीं थे—वह एक साधारण भिक्षु बने ! सोने की सेज और मखमल के गद्दे पर इत्र और फूलों की सुगन्धि में सोने वाले वह सुकुमार सब ही मुनियों के अन्त में द्वार के पास प्रासुक पृथ्वी पर एक करवट से लेटते थे—वही साव-धानी से बैठते उठते थे। आते जाते साधुओं के गमनागमन से उन्हें मानसिक कष्ट होता था। वह सोचते, जब राजपुत्र था, तब तो यह भिक्षुगण मेरा आदर करते थे—अब कोई मुझ से बात भी नहीं करता। मेघकुमार भूल गये कि वह और उनके साथी मुनिजन साधना के मग लगे हैं—उसमें बातें नहीं, मौन-व्रत पाला जाता है—इन्द्रियों और मन का निरोध किया जाता है। परन्तु मेघकुमार के लिये वह बहुत कुछ था। राजऐश्वर्य में लालित-पालित मेघकुमार यदि साधना के मार्ग में विचला तो अस्वाभाविक नहीं। उन्होंने सोचा,' भ० महावीर से आज्ञा लेकर घर चलना चाहिये और वह भगवान् से आज्ञा मांगने के लिये उनके सन्मुख पहुँचे भी। किन्तु मेघकुमार कुछ कहें कि उसके पहले ही घट-घट के ज्ञाता प्रभू महावीर ने कहा,—"हे मेघ ! श्रमणसमुदाय के अन्त में तुम्हारा आसन तुम्हें असह्य है—श्रमणों की उदासीन वृत्ति तुम्हें अखरती है, परन्तु वीतरागी और समभावी होने के लिये यह साधना आवश्यक है !' मेघकुमार भगवान् के मुख से यह वचन सुनते ही अवाक् रह गया। उसने आगे सुना,—"हे मेघ ! तुझे याद नहीं है; परन्तु मैं बराबर जानता हूँ कि अब से तीसरे भव में तेरा जीव एक हाथी की पर्याय में था। एक दिन बड़ी वेग से आँधी आई, जिसके बहाव में तू दिङ्मूढ़ हुआ बह गया और एक दल-दल में जा फँसा। ज्यों-ज्यों तू निकलने का प्रयत्न करता त्यों-त्यों तू और फँसता था। भूखा-प्यासा तू अधमुआ हुआ। इतने में तेरे वैरी वहां आये

और तुझ पर तीव्र प्रहार करने लगे। तूने वैर का वदला लेने के दुर्भाव से रात दिन वेदना सहकर प्राण छोड़े। क्या वह तीव्र वेदना याद नहीं है ? साधना के अभ्यास से उतरते ही तुम घबरा गये और सुनो, फिर दूसरे जन्म मे भी तुम विन्ध्यगिरि की अटवी मे हाथी हुए। उस वन में दावानल वार वार तुम्हें सताते थे। तुम ने एक ओर का भाग वृक्ष-तृण रहित सुरक्षित वनाया। जव वहाँ एक दिन दावानल धू-धूकर जलने लगा तो तुम अपने वनाये हुए शरणगृह मे पहुँचे। तुम ने देखा वहा तुम से पहले वहुत-से पशु अभय होने के लिये पहुँचे थे—थोड़ी सी जगह वाकी थी—सिकुड़ कर तुम उसी मे खड़े हो गये। उस आपत्तिकाल में सव ही पशु अपना २ वैर भूले हुए थे। खड़े २ शरीर को तुम खुजलाने लगे। जव पैर नीचा करने को हुए तो देखा उस स्थल पर एक खरगोश जान वचाने के लिये आ वैठा है। तुम वैसे ही एक पैर उठाये हुए तीन दिन तक खड़े रहे यदि तुम भूमि पर अपना पैर रखते थे तो वह विचारा खरगोश वेमौत मरता ! यही सोच कर तुम ने वह कष्ट सहन कर लिया। जव दावानल शान्त हुआ और सव जीव जन्तु अपने २ रास्ते लगे तो तुम भी एक ओर जाने को उद्यत हुए, परन्तु तीन पैरों पर खड़े रहने से तुम्हारा शरीर जकड़ गया था—तुम धड़ाम से गिरे और तुम्हारे ऐसी गहरी चोट आई कि तीसरे दिन उस शरीर को त्याग कर तुम रानी धारिणी की कोख में आ अवतरे। अव सोचो मेघकुमार ! करुणा-वृत्ति और समभाव युक्त सहनशीलता के प्रभाव से ही तुम मगध के ऐश्वर्यवान् राजकुमार हुए और आत्मघातक भोग विलास त्याग कर श्रमण वने। तुम्हारे पास वल, वीर्य, पराक्रम और विवेक है। जव पशुयोनि में तुम ने उल्लेखनीय समभाव और सहनशक्ति दर्शाई थी, तो अव श्रमण होकर क्यों घवड़ा रहे हो ? क्या यह दीनता तुम्हें शोभती

है ? तुम अहिंसक वीर बने हो-समभाव और सहनशीलता के अस्त्र लेकर साधना को पराक्रम-भूमि में आये हो-क्या पीछे हटोगे ? वीर आगे बढ़ते हैं और अपना शौर्य दर्शाते हैं। तुम उस क्षत्रिय की प्रशंसा करते हो जो जग को अभय बनाने के लिये अपराधी शत्रु को दण्डित करता है—शत्रु को पीठ नहीं दिखाता। किन्तु यह आध्यात्मिक युद्ध उससे भी महान् है और इसका परिणाम भी महान् शुभङ्कर और शुचितर है। क्या बन्धन-मुक्त होने के लिये यह अहिंसक युद्ध नहीं लड़ोगे ? इस युद्ध में यही विशेषता है कि सब ही ऐहिक सामग्री और संसर्ग इसमें उत्सर्ग कर दिये जाते हैं—इसका सैनिक निष्काम और निष्परिग्रही होकर सब कुछ सहन करता है और स्व-पर-कल्याण करने में उसे रस आता है। अतः मेघ ! तुम मेघ सम गम्भीर, उदार, सहनशील और समभावी बनो।"

मेघकुमार का अज्ञान धुल गया था। उन्होंने अपने को क्षमाया और फिर से साधु दीक्षा ली। वह कमजोरी उनकी बुद्धि में आई ही क्यों ? उसके लिये प्रायश्चित उन्होंने किया। वह सच्चे मुनि हो गये—पूरे समभावी सहनशील और समुदार। उन्होंने सन्त-श्रमणों की वैयावृत्ति करना अपना मुख्य लक्ष्य बनाया। सेवा-धर्म के वह पुजारी बने। संयम से वह वर्तने लगे। मन, वचन, काय को उन्होंने वश में कर लिया। विपुलाचल पर्वत पर उन्होंने अपना तपोमय अंतिम जीवन व्यतीत किया ! उनका उदाहरण भ० महावीर की शिक्षा की व्यवहारिकता और लोकोपकारिता को स्पष्ट करता है। महत्वाकांक्षा बुरी नहीं; पर उसे ही अपने हृदयासन पर बैठा कर क्रोध-मान-माया-लोभरूप प्रवृत्ति करना बुरा है। 'महतपद सहनशील, समभावी और सेवाधर्मी बनने से ही प्राप्त होता है'—मेघकुमार प्रकरण यह बताता है। भगवान महावीर के आदर्श को वह सुझाता है।

वारिषेण मुनि का सम्यक्त्व !

'समकित सहित आचार ही, संसार में इक सार है।
जिनने किया आचरण उनको, नमन सौ सौ वार है॥'

जीव की अशुभ परणति को पाप कहते हैं। 'जो अपने को अप्रिय है, वह दूसरे को भी अप्रिय भासेगा'—इस सत्य की उपेक्षा करके जो भी वरताव मनुष्य करता और आकुल-व्याकुल होता, वह सव मिथ्या परणति है—पापाचार है। भ० महावीर ने इस पापाचार को मुख्यतः पांच प्रकार वताया है, अर्थात् (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी (४) कुशील और (५) परिग्रह। मनुष्य को इन से वचना चाहिये। इसीलिये भगवान् का उपदेश था कि—

(१) किसी जीव की हत्या मत करो, (२) कभी झूठ मत वोलो—अप्रिय सत्य भी मत कहो, (३) कभी भी दूसरे की रक्खी हुई या गिरी पड़ी हुई वस्तु मत लो, (४) अपनी पत्नी में सन्तोष धारण करो—जगत की शेष स्त्रियों को मॉ-वहन समझो, और (५) आवश्यकताओं को सीमित करके जरूरत से ज्यादा परिग्रह मत रक्खो।

इस प्रकार पांच पापों का एक देश त्याग करने से मनुष्य की आत्मरुचि होती है और वह आत्मस्वभाव मे थिरता रूप निश्चय चारित्र पा लेता है। केवल सच्चा श्रद्धान और सच्चा ज्ञान जीव को निर्वाण-पद नहीं दिलाता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की समिष्टि ही मोक्ष प्रदायक है। जिन जीवों को सर्वज्ञ आप्तदेव तीर्थंकर भाषित धर्म मे विश्वास अथवा निश्चय से जिनको अपनी आत्मा के अस्तित्व और अनन्तगुणों का श्रद्धान है, वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं। उनके संसार-भ्रमण का

अन्त निकट है। उनके व्रत पालने की उत्कट रुचि होती है। सुअवसर पाकर वे पंच पापों का सर्वथा त्याग करके साधु हो जाते हैं और अहिंसादि महाव्रतों का पालन करते हैं। साधु के महान् पद को प्राप्त करने के लिये वे गृहस्थाश्रम से ही अणुव्रतों और शिक्षाव्रतों का अभ्यास करने लगते हैं। आखिर चोटी पर क्रमशः ही पहुँचा जाता है—कोई विरला महापराक्रमी हो तो उसकी बात न्यारी है। गृहस्थ पंचपापों का आंशिक त्याग करने के कारण ही श्रावक—श्रद्धावान् कहलाता है!

राजकुमार वारिषेण श्रद्धालु श्रावक थे। वह सम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे। उनकी माता भगवान् महावीर की मौसी महारानी चेलनी थीं। वारिषेण अत्यन्त गुणी और सम्यक्त्वी थे। वह निःशङ्क होकर व्रत-उपवास करते थे। एक दफा चतुर्दशीपर्व पर उन्होंने प्रोषधोपवास धारण किया। रात को धर्मध्यान की आराधना के लिये स्मशान में जा विराजे। समभावी होकर वह खड़े २ आत्मा के स्वभाव का चिन्तवन करने लगे।

राजगृह में विद्युत् चोर रहता था। मगध सुन्दरी वेश्या से उसका प्रेम था। उस दिन जब वह वेश्या के पास पहुँचा तो उसकी बेढब फरमाइश सुन कर दंग रह गया। वेश्या ने कहा, महारानी चेलना का हार पहनूंगी।' राजमहल मे सोती हुई 'महारानी के गले से हार निकाल लाना सुगम न था। पर कामी पुरुष अन्धा होता है। वह वेश्या के मन को ठेस कैसे पहुँचाता? वह राजमन्दिर में गया और अपने चौर्य-कौशल से हार निकाल लाया। किन्तु राजपथ पर रत्नहार की चमचमाहट वह छिपा न सका। कोतवाल ने उसे टोका। वह एक-दो ग्यारह हुआ। सिपाहियों ने उसका पीछा किया। कोई दूसरा उपाय न देखकर हठात् उसने वह रत्नहार वारिषेण के पास छुपा दिया—रत्नहार की चमक ने सिपाहियों को बुला लिया। चोर भाग गया। कोतवाल

ने समझा, चोर पाखण्डी है—ध्यान का बहाना लेकर बचना चाहता है और कोई वहाँ था भी नहीं। कोतवाल ने उसी को ही अपराधी माना और श्रेणिक के सम्मुख न्याय की याचना की! श्रेणिक अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं करते थे—उनका पुत्र चोर होगा? वह वारिषेण जो सम्यक्त्वी धर्मात्मा था, अपनी माँ का हार चुरायेगा? श्रेणिक का जी कहता था 'नहीं।' परन्तु साक्षी कहती थी कि 'चोरी की चीज वारिषेण के पास थी। अतः वह अपराधी है।' श्रेणिक न्याय की तराजू और दण्ड की नंगी तलवार लिये न्याय आसन पर बैठे थे। वह पुत्र के मोह में क्या न्याय का खून करते? उन्होंने प्राण दण्ड की आज्ञा सुनाई। प्रहरी वारिषेण को श्मशान भूमि मे ले गये। चाण्डाल उनका वध करने लगे; परन्तु यह क्या? वह विवश थे! उनका हाथ चलता न था। धर्म का फल प्रभाव दिखा रहा था। एक देव ने वस्तुस्थिति देखी थी। उसने मगधराज्य की न्याय-व्यवस्था भी देखी। वह प्रसन्न था। वारिषेण पर उसने पुष्पों की वर्षा की। राजगृह मे श्रेणिक के न्याय और वारिषेण की धार्मिकता की चर्चा-वार्ता ठौर-ठौर होने लगी। राजा श्रेणिक ने सुना तो वह प्रसन्न हुए। रानी चेलनी के साथ वह राजकुमार वारिषेण को लिवाने आये। बोले, "बेटा! हमें विश्वास था कि तुम निर्दोष हो, परन्तु राजदण्ड पिता-पुत्र नहीं देखता। लोकापवाद का अवसर हमने नहीं दिया! अब चलो, घर को।" वारिषेण गद्‌गद् हो बोले, 'संसार में न कोई किसी का पिता है-न पुत्र, न माता है-न पत्नी! मोह ममता मे लोग अंधे हो रहे हैं—स्वार्थ के सब सगे हैं। मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि यदि इस उपसर्ग से बचा तो भगवान् महावीर की शरण लूँगा—उपवास का पारणा पाणिपात्र में करूँगा।' श्रेणिक और चेलना ने उनके दृढ़ निश्चय के सामने मस्तक झुकाया। वारिषेण निर्ग्रन्थ साधु हो गये। राजगृह आनन्द

विभोर हो थिरकने लगा। अहिंसक वीर के प्रयाण में दुन्दुभि का घनघोर नाद होने लगा।

भगवान् महावीर के पाद-पद्मों में वारिषेण की धर्म-सौरभ विकसित हो गई। वह स्वयं धर्म में दृढ़ थे और दूसरों को धर्म-पद में स्थिर और दृढ़ करते हुए उन्हें रस आता था। पावसकाल के मेघपटल की तरह वह हजार कष्ट सहन करके भी धर्म-वारि-वर्षा द्वारा त्रस्तभव्य-चातकों को सन्तुष्ट करते थे। एक रोज विहार करते हुए वह जा रहे थे। पलाशपुर से उनका मित्र राजमन्त्री का पुत्र सोमदत्त भ० महावीर की वन्दना के लिये आ रहा था। मुनि वारिषेण को देख कर उसका सखाभाव जाग उठा। वह रुका और उसने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दान दिया। वारिषेण ने भी मित्र का सच्चा हित साधा। उनके उपदेश से वह साधु हो गया। साधु तो वह हुआ, परन्तु उसका मन ममता में फंसा रहा। वह बोला, 'मित्र, याद है यही लता-कुञ्ज हैं जहां हम, आप मिल कर केलि करते थे। मधुर संगीत अलाप कर आनन्द विभोर हो जाते थे। क्या वीर संघ में वह आनन्द है? 'वारिषेण मुस्कराये और बोले, 'सोमदत्त! यह तो अभी कल की बात तुम कहते हो? पर याद करो, न जाने कितने अनन्त जन्मों में श्रोत्र इन्द्रिय को प्रिय, संगीत लहरी हमने-तुमने सुनी होगी? क्या उससे तृप्ति हुई? नहीं! केवल उसको सुनने की तृष्णा बढ़ी है। वह आशा—वह तृष्णा, जानते हो, जो संसार में रुलाती है! मन को गन्दा करती है। गन्दी चीज में कहीं आनन्द है? वीर-संघ शान्ति निकेतन है—कल्याणधाम है! हाथ कंगन को आरसी क्या? चलो और दर्शन करो!' दोनों ही मुनि भ० महावीर के समोशरण मे पहुँचे। सोमदत्त का मन पवित्र हो चला। उसने सोचा, 'वारिषेण ठीक कहते थे। वीर प्रभू की निकटता संसार ताप्हारी है।' बड़ी भक्ति से दोनों मुनियों ने भगवान् की वन्दना

स्तुति की। संघ के समस्त साधुओं को भी उन्होंने नमस्कार किया। वारिषेण एक योग्य आसन पर जा विराजे। सोमदत्त भी उनके पास ही जा बैठे। एक साधु ने कहा, 'सोमदत्त! पुण्यात्मा विशुद्ध हृदयी हो, जो भगवान् की शरण मे आये हो। महती तपस्या करने की तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!' यह बात एक ब्राह्मण साधुभेषी को असह्य हुई—वह क्रुद्ध हो बोला, 'यह मूढ़ क्या तप करेगा? इसे आगम का सामान्य ज्ञान तो है नहीं! मूर्ख अपनी काली-कलूटी स्त्री की याद में दुबला हुआ जा रहा है।' यह कह कर उसने बीभत्स अट्टहास किया और किन्नर-किन्नरी का रागवर्द्धक गीत यूँ गाने लगा :—

'कुवलय नवदल सम रुचि नयने।
सरसिज दल विभव कर चरणे॥
श्रुति सुख कर परभृत वचने।
कुरु जिन नुति मयि सखि विधु वदने॥
बहु मत्त मलिन शरीरा मलिन कुचेलाधि विगत तनु शोभा।
तद्गमनदग्ध हृदया शोका तप शुष्क मुख कमला॥
विगता गत लावण्या वरकांति कलाकलावषीर मुक्ता।
किं जीविष्यत्यवनिका नाथेपि गतेऽवयं योयं॥'

इस प्रणयगीत ने सोमदत्त के चंचल मन को डॉवाडोल बना दिया। उन्हें रह-रह कर अपनी प्यारी पत्नी की याद सताने लगी। राग और मोह ने उनके विवेक को अंधा बना दिया। वह घर जाने के लिये तैयार हो गये। वारिषेण ने यह देखा। उन्होंने सोमदत्त को रोका नहीं, बल्कि कहा, 'सोमदत्त! घर जाओगे तो चलो प्रभू महावीर का आशीर्वाद लेकर चलो। मित्र हो, हमारे घर भी होते चलो!' सोमदत्त ने बात मान ली। राज-

प्रासाद में दोनों मुनि पहुँचे। महारानी चेलनी यह देख कर विस्मित हुईं, क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि आहारवेला के अतिरिक्त किसी भी गृहस्थ के घर पर नहीं जाते हैं। परीक्षा के लिये चेलनी ने दो आसन डाले—वारिषेण प्रासुक आसन पर बैठे, परन्तु सोमदत्त के पास यह विवेक न था। उपरान्त वारिषेण ने कहा, 'माँ! हमारी पत्नियों को तो जरा बुलालो!' चेलनी ने 'हाँ, तो किया, परन्तु उसका हृदय सशङ्क हो धड़कने लगा! क्या उसका पुत्र मुनिधर्म से पतित हो रहा है। वह गृहस्थ है तो क्या? उसका भी अपना कर्तव्य है—वह वीर संघ के सभी अङ्गों को निर्दोष और प्रभावक ही देख सकती है! सच्चा जैनी धर्म की अप्रभावना कैसे सह सकता है? रानी ने धर्म कथा सुनने की इच्छा दर्शाई। वारिषेण ने उत्तर दिया, 'आज माँ! तुम्हीं धर्मकथा सुनाओ!' चेलनी को अपनी बात कहनी थी—उसने कहा, 'सुभद्रा ग्वालिनी का सुभद्र बेटा था। वह गऊ चरा कर अपनी गुजर-वशर करता था। एक दिन उसके साथी ग्वालिये ने उसे खीर खिलाई। सुभद्र को वह अच्छी लगी। घर आकर उसने खीर की जिद की। विचारी गरीब माँ ने माँग-मूंग कर उसकी जिद पूरी की। सुभद्र रसना का दास था। वह खीर खाता चला गया—यहाँ तक कि उसे कै हो गई, परन्तु खीर उसने फिर भी माँगी। खीर सब खतम हो गई थी। माँ झल्ला गई, उसने उल्टी की खीर उसके सामने रख दी। रसना लम्पटी ने उसे भी खा लिया। मुनिवर! क्या उसने यह ठीक किया?'

वारिषेण ने चेलनी का अभिप्राय ताड़ लिया—उसकी धार्मिकता और विनय भावना पर वह प्रसन्न थे—बोले, 'यह कथा सुनो। उज्जयनी में वसुपाल राजा रहता था। वसुमती उसकी रानी थी। दोनों में गहरा प्रेम था। होनी के सिर एक दिन रानी को सांप ने काट लिया। मंत्रवादी बुलाये गये। एक

मंत्रवादी ने उस सांप को बुला लिया जिसने रानी को काटा था; परन्तु वह सांप इतना क्रोधी था कि उसने रानी को निर्विष नहीं किया, बल्कि स्वयं अग्नि में जल मरा। रानी ! अब जरा सोचो, वह क्या समझ थी ? सर्प जैसी ज़िद और दृढ़ता तो धर्म पालन में शोभती है। यह सुभाषित वचन भी है—

'वरं प्रविष्टे ज्वलिते हुताशने।
न चापि भंगी चर संचितं व्रतं॥
वरं हि मृत्युः सुविशुद्ध कर्मणां।
न शील वृत्त स्खलितं हि जीवितं॥'

'अपने व्रत को भंग करने की अपेक्षा अग्नि में प्रवेश करना अच्छा है। शील व्रत को नष्ट करके जीवित रहना किस काम का ?'

इतने में अंतःपुर से सब ही शृङ्गार किये हुए वारिषेण की पत्नियाँ आ गईं। वह अनुपम सुन्दरी थीं—पति आगमन की वार्ता ने उनके सौन्दर्य को और विकसित कर दिया था। वे आईं और नमस्कार करके बैठीं। वारिषेण ने सोमदत्त से कहा, 'मित्र ! देखते हो ? ये रमणियां कैसी सुन्दर हैं ? तुम्हारी पत्नी से भी सुन्दर हैं न ? यदि प्रणय-वासना जगी हो तो इनमें ही रमो ? घर क्या करोगे जाकर ?' वारिषेण का तीर काम कर गया। सोमदत्त के पैरों तले से पृथ्वी खिसक रही थी। वह लज्जा और पश्चाताप की मूर्ति बन रहे थे। वारिषेण के त्याग ने उनकी आंखें खोल दीं। वह बोले, 'आप धन्य हैं ! आपका धैर्य और त्याग श्रेष्ठ है। आप सत्यवीर हैं—शील सम्पन्न हैं। आप सदृश मित्र पाकर मैं सौभाग्यशाली हुआ हूँ। मूढ़ताओं से निकाल कर आपने रत्नत्रय धर्म मार्ग पर मुझे लगाया है। मैं चलायमान

हुआ था—मोह शत्रु ने मुझे पछाड़ दिया था, आपने मुझे धर्म में स्थिर कर दिया! धन्य हैं, आप! क्षमा कीजिये और चलिये महावीर के निकट मुझे मुनि-दीक्षा दिलाइये! मैं पतित हुआ हूं!' 'तथास्तु' कह कर वारिषेण उठे और भगवान् महावीर के निकट आये। नमस्कार करके वह बैठे थे कि उन्होंने सुना, 'मुनि वारिषेण स्थितिकरण धर्म के जीवित आदर्श हैं। नवदीक्षित मुनि सोमदत्त अपने विवेक को खो बैठे, यह कुछ अटपटी बात नहीं है! इन्द्रियों के विषय इन्द्रायन-फल जैसे सुन्दर और मोहक ह, परन्तु उनका परिपाक कडुवा है। मूढ़ उसको नहीं देखता— दूरदर्शी तत्ववेत्ता ही उसे पहिचानता है। वारिषेण ने धर्म का आदर्श मूर्तिमान् किया है। गिरतों को गिरने से रोकना और गिरों को उठाना सम्यक्त्वी का धर्म है। वह दर्शन विशुद्धि का प्रतीक है। स्थितिकरण और उपवृंहण सम्यक्त्व के अंग हैं। असमर्थ हो रहा है संसार—धर्ममग में आगे बढ़ते उसके पैर लड़खड़ाते हैं। सम्यक्त्वी उससे घृणा नहीं करता—उसके हृदय में अमित दया है। उसके हृदय से दया की वर्षा दीन-दुखिया और पतित के प्रति वैसे ही होती है, जैसे उच्च नीलाकाश से सलिल ओस-बिन्दु गिरती हैं। जो सुख चाहते हैं उन्हें मुनि वारिषेण के आदर्श का अनुकरण करना उचित है। लोक की कल्याण-भावना प्रत्येक के हृदय में जागृत हो, यह सुख का आधार है!"

श्रोताओं ने जय-ध्वनि की। सोमदत्त ने गुरुदेव से प्रायश्चित लिया। अब की उन्होंने दृढ़ता से मुनिधर्म पाल कर कर्मपाश से अपने को मुक्त किया। वारिषेण भी मोक्ष को प्राप्त हुए! सब ने कहा, 'मुनि वारिषेण के समान गिरों को गिरने से बचायेंगे हम! भगवान् महावीर का उपदेश सिर आखों पर लायेंगे हम!'

महिलारत्न चन्दना और चेलनी की वीर-भक्ति

"स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनत चरणो जायतेऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहित कथकं मोक्षमार्गावबोधः।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भव दुरित ततः सौख्यमस्माद्विबाधं।
बुध्वैवं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरिणीं सज्जनः स्वीकरोति॥"

—अ. अमितगतिः।

स्त्री और पुरुष मिल कर गृहस्थ-जीवन बनाते हैं। संसार दोनों की युग्म-शक्ति का प्रादुर्भाव—लीलाक्षेत्र है। पुरुष अकेला न-कहीं का है-स्त्री अकेली का कोई ठिकाना नहीं। सृजन-जनन-पोषण और वर्द्धन की शक्तियां पुरुष और स्त्री के ऐक्य-समिष्टि मे हैं। फिर भला स्त्री को कोई कैसे भुलावे? कहते हैं, ब्रह्मा ने उसका रूप देखने के लिये हजार नेत्र बनाये थे। हजार दृष्टिकोण से उसका रूप देखा जा सकता है। जगत की मुख्य शक्ति स्त्री है। वह चाहे जग को नर्क बना दे और चाहे तो उसे स्वर्ग में बदल दे! इसलिये स्त्री को सुसंस्कृत करने की आवश्यकता स्वाभाविक है। सुसंस्कृत स्त्री जगत का प्रकाश है—असंस्कृत वही जगत के लिये अभिशाप है! सुसंस्कृत भाग्यवान् स्त्री से ही देवों द्वारा वन्दनीय सर्वज्ञ देव उत्पन्न होते हैं। स्वाति-सीप के तुल्य महिला-रत्न त्रिशला की पवित्र कोख से ही सर्वज्ञ महावीर जन्मे थे। महावीर इस सत्य को जानते थे। उनका आदर्श बता रहा था कि स्त्री से ही वह सच्चे देव जन्मते हैं, जो सच्चे शास्त्रों का उपदेश देते हैं। सच्चे शास्त्रों से मोक्षमार्ग का ज्ञान होता है, जिससे संसार क्षीण हो मोक्ष सुख मिलता है। भ० महावीर ने

इसीलिये आपने संघ में स्त्रियों को भी मुख्य स्थान दिया, क्योंकि वह परम्परा से मोक्ष का कारण और पवित्र हैं। भ० महावीर के दिव्य उपदेश का तत्कालीन महिला समाज पर विशेष प्रभाव पड़ा था। थोड़ी न बहुत, छत्तीस हजार महिलायें सांसारिक मोह वन्धनों और प्रेम-पाशों को तोड़ कर आत्म-संयम की साधना में संलग्न हुई थीं! उनका ज्ञान, उनका चारित्र खूब वढ़ा चढ़ा था।

आर्यिका चन्दना वीर संघ में प्रमुख साध्वी-आचार्या थीं। उनके गार्हस्थिक जीवन की झांकी पाठक पहले देख चुके हैं, भ० महावीर ने उनका उद्धार किया था। चन्दना कौशाम्बी में व्रात्य-जीवन विताती हुई वीर तीर्थ प्रवर्तन की वाट जोहती थीं। वीर-तीर्थ का प्रवर्तन होते ही वह आई और भगवान् से याचना करने लगीं दीक्षा दान की! वह बोलीं, 'श्रमणोत्तम प्रभो! मैं जानती हूँ स्त्री-पर्याय निंद्य है। स्त्रियों की माया और छल प्रसिद्ध हैं, परन्तु नाथ! आपका शुभागमन तो सज्जन और दुर्जन—सव के लिये समान रीति से उपकार कर्त्ता है! मैं संसार से भयभीत हूँ—जिन दीक्षा दीजिये।' चन्दना ने वीर वाणी को सुन कर ज्ञान नेत्र पाया। वह समझी, 'पर्याय कोई भी अच्छी नहीं है। यह वन्धन है। सोने का वन्धन लोहे के वन्धन से अच्छा नहीं हो सकता—दोनों ही व्यक्ति की स्वाधीनता के घातक हैं। जो भव्य हैं—अपना और पराया हित चाहते हैं, वह किसी से द्वेष नहीं रखते—किसी को वुरा नहीं कहते। व्यक्ति के अच्छे और वुरे संस्कार ही दृष्टव्य हैं। अच्छे संस्कार उपादेय हैं—वुरे त्याज्य! अच्छे संस्कारों से ही पुरुष और स्त्री सज्जन और धर्मात्मा वनते है और मोक्ष की साधना करने में सफल होते हैं। वंशवृद्धि एक सपूत से होती है—राष्ट्र को उन्नत अनेक सपूत करते हैं। वे सपूत सुसंस्कृत महिलाओं की गोदियों में ही पलते

हैं। संसार की सृष्टि अकेला पुरुष नहीं कर पाता--स्त्री भी नहीं। हाँ, किसी समय पुरुषों का सर्वथा अभाव होते हुए भी कोई गर्भवती स्त्री पुत्र जन्म देकर सृष्टि का क्रम चालू रख सकती है। उस पर सुशील दम्पत्ति ही धर्म साधन के मूल आधार हैं। शुद्ध आहार-विहार कुशल गृहिणी पर अवलम्बित है--उसी के निमित्त से गृहस्थ दान-पुण्य का धर्म कमाता है और साधु अपने शरीर को स्थिर रख कर धर्म का प्रकाश फैलाता है। संघ की सुव्यवस्था और उन्नति धर्मशील सम्पन्न विदुषी गृहस्थ और साधु रमणियों पर निर्भर है। चन्दना ! जीवन की सार्थकता धर्म पालन में है।" चन्दना ने मस्तक नवाया। पंचमुष्टि लोंच किया और श्वेत साड़ी पहन कर वह ज्ञान-ध्यान में लीन हो गई।

वह राजा चेटक की पुत्री थीं। मगध की महारानी चेलनी उनकी बहन थीं। चेलनी ने सुना कि उनकी बहन चन्दना तीर्थंकर महावीर के आर्यिका संघ की अग्रणी बनीं हैं, तो उसे बड़ा हर्ष हुआ। वह अपनी सपत्नीक (सौत) बहनों--श्रेणिक की अन्य रानियों के साथ उनकी वन्दना करने गईं। चन्दना ने उन्हें धर्म का स्वरूप समझाया। रानियाँ भव्य थीं। वह नियमित रीति से प्रति दिन उनके पास आकर धर्म शास्त्रों का अध्ययन करने लगीं और जैनधर्म की पण्डिता हो गईं। बिना धर्मज्ञान के मनुष्य जीवन में वह कोमल सरसता नहीं आती जो हृद्तन्त्री की सलिल स्वर लहरी को झंकरित करती हैं। 'धर्मज्ञ मातायें और बहनें जगत के लिये वरदान हैं'--वीरसंघ की गृहत्यागी साध्वी-रमणियों ने यह सत्य भ० महावीर से सुना था। इसीलिये वह इन्द्रियों को संयत रख कर महिलाओं में धर्म ज्ञान का प्रकाश फैलाने में जुट पड़ीं थीं। चेलनी का धर्मज्ञान उनके दैनिक जीवन में मूर्तिमान् हो चमका था। अपने पति राजा श्रेणिक को उन्होंने

ही जिन धर्म का श्रद्धानी बनाया था और जैनधर्म की प्रभावना के लिये वह कुछ उठा नहीं रखतीं थीं। उनके महल सन्त पुरुषों की पद रज से निरन्तर पवित्र होते रहते थे। वहाँ चारों प्रकार का दान निरन्तर दिया जाता था। धर्म मार्ग से च्युत होते हुए असमर्थों को सम्भाला जाता था। दैवी उपसर्ग को टालने का उद्योग चेलन करतीं थीं।

एक दिन वह द्वारापेपण कर रहीं थी। सौभाग्यवश एक कृषकाय तपोधन मुनिराज द्विमासोपवासी आये। रानी ने भक्ति-पूर्वक पड़गाहा और आहार दान देने लगीं। उसी समय उन्होंने देखा कि कोई अदृश्य शक्ति मुनिराज पर उपसर्ग कर रही है—अपने इन्द्रियवर्द्धन को यदि मुनिराज देखते तो अन्तराय मान कर बिना आहार लिये ही लौट जाते—उनका आहार शुद्ध और निरन्तराय होना चाहिये। चेलनी ने देखा, यदि इस समय मुनि का अन्तराय हो गया तो अनर्थ होगा। उन्होंने ऐसा उपाय किया जिससे उन मुनि को उस उपसर्ग का भान नहीं हुआ और उनका आहार हो गया। मुनिराज ने जाकर विपुलाचल पर्वत पर ध्यान माढ़ा—उस उच्च कोटिका, जिसमें उनके सारे कर्म नष्ट हो गये। उनको लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हुआ। सुर-असुर और नर-नारी, सब ही उनकी वन्दना करने गये। चेलनी भी गईं। अवसर पाकर उन्होंने मुनिराज से उस उपसर्ग का कारण पूछा। मुनिराज ने उत्तर दिया, "मुनि होने के पहले मैं पाटलिपुत्र का राजकुमार वैशाख था। कनकश्री मेरी पत्नी यौवन-गुण-श्रीयुत थी। हम दोनों का व्याह हुए परा महीना नहीं हुआ था कि एक दिन मैंने अपने बालसखा मुनिदत्त को देखा। उन्हें भक्ति-विनय-पूर्वक मैंने आहार दान दिया और उन से उपदेश सुना। मुझे संसार से वैराग्य हो गया। मैं उनके साथ हो लिया और मुनि हो तप तपने लगा। कनक श्री को यह बुरा लगा वह क्रोधावेश

मे मरी और व्यंतरी हुई। विभंगावधि से उसने मेरे बाबत जान लिया और वह मेरी तपस्या मे बाधा डालने के लिये तुल पड़ी। एक महीने का अनशन उपवास करके जब मैं पारणा के लिये गया तो उसने इन्द्रिय वर्द्धन करके उपसर्ग किया—मैं आहार लिये बिना ही लौट आया और तपस्या मे लग गया। फिर एक महीने का उपवास किया। उसके अन्त मे जब मैं पारणा को गया तो तुमने आहार दिया—उस समय भी व्यतरी कनकश्री ने वही उपसर्ग किया; परन्तु तुमने अपने कौशल से उसे छिपा लिया। मेरा निर्दोष आहार हुआ। उपगूहन धर्म का तुमने पालन किया और ऐसा सात्विक आहार दिया कि देखो, मैं शुक्ल ध्यान को साधने में सफल होकर सर्वज्ञ हुआ हूँ। महावीर प्रभू के शासनसंघ की तुम अमूल्य रत्न हो।" मुनि वैशाख की यह वार्ता सुन कर श्रोताओं की धर्म वृद्धि हुई और वे रानी चेलनी की प्रशंसा करने लगे! मुनि वैशाख विपुलाचल से मुक्त हुए।

यह तो एक उदाहरण है। चेलनी के ऐसे पुण्यकार्य अनेक थे। अपने पुत्र कुणिक अजात शत्रु को उन्होंने ही धर्म मे दृढ़ किया और जब उनकी बहन ज्येष्ठा आर्यिका चारित्र मोहनीय की शिकार बनीं थीं—शीलधर्म से बलात् डिग गईं थीं, तब उनका स्थितिकरण और उपबृहण चेलनी ने किया था। काम प्रबल सुभट है—उसे जीतना सुगम नहीं। उस पर ज्येष्ठा से व्याह करने के लिये सात्यकि नृप पहले से लालायित थे—वह निराश प्रेमी थे। जब ज्येष्ठा आर्यिका हुई तो वह भी मुनि हो गये। दोनों भ० महावीर की शरण में आकर पवित्रता की मूर्ति बन गये; परन्तु सूक्ष्म राग उनके हृदय के कोने में छिपा रहा। सात्यकि मुनि एक दिन गुफा में ध्यान कर रहे थे। बाहर जोर का पानी बर्षा था। ज्येष्ठा आहार से लौटी तो वर्षा में भीग गई। अपनी साड़ी सुखाने के लिये वह उसी अंधी गुफा में अकस्मात् पहुँची,

जहाँ सात्यकि ध्यानमग्न थे। वह साड़ी निचोड़ने लगी—बिजली चमकी—सात्यकि के सामने रूपराशि खड़ी थी। रति और काम का ही मानों वहा समागम होने को था। सात्यकि भूल गये अपने को—ज्येष्ठा भी बेसुध हो गई। दोनों शील-रत्न खो बैठे। किन्तु धर्मात्मा की वासना भी वैराग्य सूचक होती है। वासना का भूत उतरते ही सात्यकि और ज्येष्ठा ने अपनी भूल पहचानी! वह दोनों अपराधी भ० महावीर के सम्मुख लज्जा से मुख नीचा किये खड़े थे। हृदय उनका पश्चाताप की अग्नि मे तप रहा था वह किये हुए पाप का प्रायश्चित चाहते थे। भ० महावीर ने उनको दुतकारा नहीं, प्रत्युत उनको प्रायश्चित का पात्र माना! ऐसे असमर्थ धर्म-पथिकों की आत्मशुद्धि के लिये ही भगवान् महावीर ने प्रायश्चित-शास्त्र का निरूपण किया और घोषणा की कि 'ऐसा कोई पाप नहीं है, जिसकी शुद्धि न हो सकती हो। संघ-वृद्धि और शुद्धि के लिये कर्मवश पतित हुए मनुष्य को अवश्य प्रायश्चित देकर उसका उपकार और धर्म का उत्कर्ष करना चाहिये।' सात्यकि ने पुनः मुनि दीक्षा ली और ज्येष्ठा गर्भभार से मुक्त होने के लिये महारानी चेलनी के संरक्षण मे रही। उपरात आर्यिका चन्दना से प्रायश्चित लेकर पुनः व्रत-नियम पालने में लग गई। साराशतः महारानी चेलनी वीरसंघ के उत्कर्ष के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य करतीं रहतीं थीं। अन्त मे वह आर्या चन्दना के निकट आर्यिका हो गई थीं। दोनों बहनें स्व-पर-कल्याण करतीं हुई विचरीं थीं। धन्य था वह समय जब राज-रानिया भी भोग मे नहीं, योग मे मग्न रहतीं थीं! सम्पति और ऐश्वर्य में नहीं, त्याग और सेवा धर्म में आनन्द मानतीं थीं! सती चन्दना और चेलना वीरसंघ की व्यवहारिक प्रभावना के लिये निस्सन्देह सुदृढ़ स्थम्भ रूप थीं! यह था भ० महावीर की शिक्षा का प्रभाव! स्त्रियां भी अहिंसक वीर बनीं विचर रहीं थीं।★

कुणिक-अजातशत्रु की वीर वन्दना !

"(चम्पाणां णयरी होत्था)...तएणं से कूणिए राया... समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति।..."

—औपपादिक सूत्र ३२

सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के एक अन्य पुत्र राजकुमार कुणिक अजात शत्रु थे। अभयकुमार के मुनि हो जाने पर वह युवराज हुए थे। श्रेणिक ने अंगदेश को जीत लिया था—आरम्भ में इस विजित देश पर शासन करने का भार कुणिक अजातशत्रु को प्राप्त हुआ था। इसीलिये उन्हे शास्त्रों मे चम्पानगर का राजा लिखा है। उपरान्त वह मगध साम्राज्य के राजसिंहासन के अधिकारी हुए थे। जिस समय भ० महावीर विहार करते हुए चम्पा पहुँचे थे, उस समय चम्पा में कुणिक अजातशत्रु ही राजा थे। उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् की वन्दना की थी। अपने प्रारंभिक जीवन में अजातशत्रु समुदार थे। देवदत्त के बहकाने से वह बौद्ध हो गये थे, परन्तु आखिर उन्होंने जैन धर्म को स्वीकारा और उसकी उन्नति की थी।[1]

भ० महावीर की वन्दना करके सम्राट् अजात शत्रु ने उनसे पूछा था कि "प्रभू! दुनियां के लोग लाभ के लिये ही कोई उद्योग करते है—साधु भी किसी अच्छे लाभ के लिये घर छोड़ते

---

1. "Ajata-shatru Patronised the Jains." EHI', P 36 "Jains have more claim to include the parricide king amongst their converts than the Budhists"—J. Charpenter, CHI., I, 161.

होंगे ? दुनिया के अनेक मत वाले वह लाभ अनेक तरह बताते हैं। उनके मत भिन्न २ हैं। कौनसा मत सत्य है ?" उत्तर में उन्होंने वह धर्मदेशना सुनी जिससे उनके हृदय-कपाट खुल गये। उन्होंने सुना, 'राजन्! यह सच है मनुष्य का उद्योग लाभ के लिये होता है; परन्तु लाभ दो तरह का है, (१) लौकिक और (२) पारिलौकिक! लौकिक लाभ धन, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री विपयक हैं और नाशवान् हैं। ये सब प्रगट पर पदार्थ हैं और पुद्गलाशों से इनका निर्माण हुआ है—हमेशा यह किसी को सुखी नहीं बना सकते। उनमें स्वयं सुख है ही नहीं! रजकण शुष्क होते हैं। इसलिये साधु शास्वत सुख पाने के लिये मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करता है। उसे लौकिक सुख की चाह नहीं होती। उसका लाभ अनन्त काल के लिये स्थायी होता है। धर्म और प्रकाश की तरह वह मोक्ष-सुख सदा-सर्वदा आनन्ददायक है। साधु पद का यह श्रेष्ठ लाभ है। निर्ग्रंथ श्रमण निरन्तर इस प्रकार के सदुद्योग मे निरत रहते हैं-सर्वदा संवर और निर्जरा करते हैं—सब पापों से दूर रहते हैं-सब पापों को उन्होंने धो डाला है। पापवासना को संवरित करके वह परमार्थ जीवन विताते हैं। इसलिये वह निर्ग्रंथ हैं!' अजात शत्रु ने शीश झुकाया और कहा, 'नाथ! अब मैं समझा, साधु जीवन से ही मानव को सर्वश्रेष्ठ लाभ होता है। किन्तु मोक्ष सुख किसी ने देखा नहीं, वैसे ही जैसे आकाश का कुसुम! फिर तो उन लोगों की बात ठीक हो सकती है जो कहते है कि साधु स्वर्ग लोक में देव-देवियों के सुख भोगते हैं, क्योंकि देव-देवियों को लोक ने देखा है ?' उन्होंने सुना कि 'मोक्ष को आकाश कुसुमवत् समझना भूल है। बन्धमुक्त होने का नाम मोक्ष है। मनुष्य को स्थूल नेत्र से दिखता है कि उसका आत्मा शरीर में बन्द है—यह बन्ध नाम कर्म का परिणाम है। सूक्ष्म कर्म बन्ध स्थूल नेत्र से

बन्ध को नष्ट कर देता है, तब वह मुक्त होता है। ऐसे जीवन्मुक्त परमात्मा इस लोक मे हुये हैं—इस समय भी हैं और आगे भी होंगे। इस मुक्त दशा का नाम 'मोक्ष' है। मुक्ति में सुख है। अतः वह किसे न प्यारी होगी ? स्वर्गसुख अतीन्द्रिय निराबाध और शाश्वत नहीं है—वह भी नाशवान् है—पराधीन है। और पराधीनता में सुख कहाँ ? आत्मस्वातन्त्र्य ही सुखदायक है, जो मोक्ष है। अतएव साधु यदि उस अनन्त-अव्याबाध-सुख के लिये प्रयत्नशील होते हैं, तो अभिवन्दनीय हैं !" अजातशत्रु ने कहा, "निस्सन्देह वे वन्दनीय हैं प्रभो ! परन्तु साधुओं में मतभेद क्यों है ?" इस शङ्काकी निवृत्ति में उन्होंने सुना कि "मनुष्य-गृहस्थ हो चाहे साधु, जब तक अपने दर्शन और ज्ञान गुणों को पूर्णन. प्रगट नहीं करता तब तक अल्पज्ञ है—उसकी सीमित और परिमित बुद्धि है। वस्तु के एक-दो गुण को वह देखता है—उस का सर्वाङ्ग दर्शन वह नहीं कर पाता। इसी अज्ञान एकान्त-दृष्टि के कारण ही मतभेद दिखाई पड़ता है। वह देखो, तुम्हारा हाथी दूर से कितना छोटा दीखता है। क्या वह उतना छोटा है ? नहीं न ? तो फिर आँखो देखी बात का भी क्या विश्वास किया जाय ? प्रत्यक्ष ज्ञान तो आत्मज्ञान ही है और वह एकान्त (One-Sided Point of View) नहीं होता। जानते हो सम्राट् ? एक दफा कई जन्मांध मनुष्यों में हाथी के आकार-प्रकार पर विवाद हुआ था। किसी ने हाथी का पैर पकड़ कर देखा था—वह उसे सीधा स्थम्भ-सा बताता था। किसी ने उसका कान देखा था—वह उसे सूप सा कहता था। गर्ज यह कि हाथी का जो अङ्ग जिसने टटोल लिया था, उसी के आकार का वह हाथी मानता था और लड़ता था। राजन् ! क्या उनका इस प्रकार विवाद करना ठीक था ? तुम कहते हो, नहीं ? ठीक है, क्योंकि नेत्रवान् पुरुष उनकी त्रुटि समझता है। बस

यही हाल आध्यात्मिक जगत का है। जो पूर्णज्ञानी है वह वस्तु के अनन्त गुणात्मक रूप को जानता और बताता है; परन्तु अल्पज्ञ एकान्तवाद में पड़कर जन्मांध पुरुषों की तरह लड़ते-झगड़ते हैं। निर्ग्रन्थ गुरु एकान्तवाद की अज्ञानता को मेंट कर अनेकान्तवाद का प्रचार करते हैं और लोगों के मतभेद को मेंट कर उन्हें समन्वय दृष्टि प्रदान करते हैं !" 'धन्य हो, प्रभो ! आपका अनेकान्त सिद्धान्त प्रचलित धर्मान्धता का अन्त करे और लोक सत्य को समझें यही भावना है। दयालु प्रभो ! उस अनेकान्त का स्वरूप जरा विस्तार से बताइये।' इस पर अजातशत्रु ने सुना कि 'राजन् ! तुम्हारा प्रश्न उत्तम है। यह तुम जान चुके कि मनुष्य की दृष्टि परिमित और सीमित है — वह कथंचित ही वस्तु को देख सकती है। वस्तु का सर्वाङ्गज्ञान उसे युगपत् नहीं होता और वह वचन से उसका विधान करने में असमर्थ है। अतएव एक ऐसा साधन चाहिये जिससे मनुष्य वस्तु के सर्व गुणों को बता सके। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है, अनन्त सम्बन्धों का केन्द्र है। सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य, अनित्य, तत्, अतत् आदि अनन्त प्रतिद्वन्दों का निवास स्थान है। वह परिवर्तन की रङ्गभूमि है, निरन्तर बहने वाला प्रवाह है, जिसका आदि है न अन्त ! वह इन्द्रिय बोध, बुद्धि कल्पनाओं और वचन कलापों से बहुत अधिक है। वह वर्तमान में वर्तता हुआ भी, भूत-भविष्यत् दोनों को अपने गर्भ में समाये हुए है। वह केवल ज्ञानगम्य है, इसका अनन्तवाँ भाग बुद्धिगम्य है। उसका भी अनन्तवाँ भाग शब्दगोचर है। अस्तु; वस्तु का स्वरूप विवेचन ही अनेकान्त-वाद है। वस्तु का निरीक्षण और परीक्षण स्याद्वाद अथवा नयवाद है और वस्तु निर्वाचन सप्तभंगीवाद कहलाता है। उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हो, क्योंकि उसमें वस्तुस्वरूप 'कथं-

चित्'—अपेक्षाकृत कहा जाता है। एक पुरुष है, परन्तु वही भिन्न २ लोगों की अपेक्षा से पिता, पुत्र, मामा नाना आदि माना जाता है। इसी तरह एक वस्तु है। वह भी भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न २ धर्मात्मक मानी जाती है। लोग पूंछते हैं, जीव नित्य है? या अनित्य है? क्या इस प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द द्वारा एक समय में तुम दे सकते हो? नहीं न? ठीक है, शब्द वस्तु के अनेकांतक रूप को एक साथ पूर्णत: नहीं कह पाता! तुम्हारा यह स्वर्णकुंडल है राजन्! जिस स्वर्ण से वह बना है उसी सोने से और भी आभूषण बनते हैं। मान लो, तुम्हारी तबियत मचल गई और तुमने कुंडल तुड़वा डाले और अंगूठी बनवा ली। क्या तुम उस स्वर्ण को अब कुंडल कहोगे? 'नहीं।' बिल्कुल ठीक, परन्तु इसका कारण समझे? हाँ, यही कि उसका आकार कुंडल-सा नहीं है। अतएव जान लो राजन्! कि कुंडल स्वर्ण का एक आकार विशेष है, जो स्वर्ण से सर्वथा भिन्न नहीं है। वही स्वर्ण आकार परिवर्तन द्वारा नाना रूपों और नामों से पुकारा जाता है—उसके कुंडल, कटिसूत्र, कड़े अंगूठी आदि नाना गहने बनते और बिगड़ते हैं। अब राजन्! बताओ, तुम्हारे स्वर्ण कुंडल का क्या स्वरूप है? ठीक; स्वर्ण और आकार उसका स्वरूप है अकेला आकार नहीं और न अकेला स्वर्ण! वे भिन्न होते हुये अभिन्न हैं! एक नाशवान् है और एक शाश्वत! आकार विनाशीक है और स्वर्ण अविनाशी है—उसका कभी नाश नहीं होता; केवल उसके आकार बनते बिगड़ते रहते हैं। अब कहो, तुम्हारा कुण्डल नित्य है या अनित्य? ठीक है उत्तर तुम्हारा! तत्व को तुमने समझ लिया! वह नित्यानित्य है—आकार की अपेक्षा वह अनित्य है और स्वर्ण की अपेक्षा नित्य है। आकार बिगड़ता है और स्वर्ण हमेशा रहता है! अब आत्मा के नित्य अथवा अनित्य स्वरूप

को तुम समझ सकते हो। जो सर्वथा नित्य अथवा अनित्य आत्मा मानते हैं, वे एकान्तवाद के मिथ्यात्व में पड़े हुए हैं—ऐसे मिथ्या मतवाद तीन सौ त्रेसठ हैं। परन्तु निर्ग्रन्थ तत्वज्ञ (जैनी) अनेकान्तवादी हैं—वह स्याद्वाद दृष्टि से विवेचन करता है। वह कहता है कि आत्मा अपने स्वाभाविक दर्शन-ज्ञान गुण की अपेक्षा 'नित्य' है, क्योंकि उसके ज्ञानादिगुण कभी नष्ट नहीं होते। निगोदिया जैसे शरीर मे भी संज्ञारूप अक्षर के अनंतवें भाग में उसका प्रकाश झलकता है। इसे 'द्रव्यार्थिक नय' कहते हैं। 'नय' दृष्टि विशेष अथवा अपेक्षा विशेष का नाम है। और द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है। वह तीन प्रकार का है--(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार। द्रव्य मात्र सत्ता को छोड़कर असत्ता को प्राप्त नहीं होती—इस प्रकार समूहात्मक वर्णन करने को 'संग्रह' नय कहते हैं। संग्रह-नय से ग्रहण किये गये पदार्थों के विधिपूर्वक भेद करने को 'व्यवहार' नय कहते हैं। जो संग्रह और व्यवहार का युगपत् वर्णन करता है—सदा अनेकात्मक है वह नैगमनय है। नैगम नय संग्रह और असंग्रह रूप द्रव्यार्थिक नय है। ये तीनों द्रव्यार्थिक नय नित्यवादी हैं—वस्तुतत्व की निरूपक हैं। इनके द्वारा वस्तु के आकार-प्रकार अथवा पर्याय का निरूपण नहीं होता। 'परि' कहते हैं भेद को और भेद को जो प्राप्त हो वह 'पर्याय' (Modification) है। पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है वह 'पर्यायार्थिक नय' है। इस नय की अपेक्षा आत्मा अनित्य है, क्योंकि जीव आत्मा की पर्यायें प्रति समय परिवर्तित होती रहती हैं। अतः पर्यायार्थिक नय समय-वर्ती निरूपण करती है। वह ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत रूपों में विभक्त है! राजन् इन्हीं नयों और प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणों के आधार से तत्वों का निरूपण किया जाता है।

जो नय-प्रमाण से वस्तु का विवेचन नहीं करते, वह एकान्त में जा गिरते हैं और वैषम्य उत्पन्न करते हैं !" अजात शत्रु ने हाथ जोड़ कर शीश नमाया और कहा, "प्रभो ! प्रकाश-पुञ्ज हैं आप ! सन्मार्ग के प्रदर्शक हैं। अनेकान्त-सिद्धान्त के प्रणेता और दार्शनिक मतभेद के मेटने वाले हैं आप ! मैं आपकी शरण में हूँ।" अजात शत्रु वन्दना करके लौट आया।

जब भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका, तब अजातशत्रु कुणिक ने इन्द्रभूति गौतम महाराज के निकट श्रावक के व्रत लिये थे। अपने अन्तिम जीवन में सम्राट् ने अपना और पराया हित साधा था। भ० महावीर की समन्वय दृष्टि उन्हें प्राप्त हुई थी—वह एकान्त के नहीं अनेकान्त के पोषक थे। उन्हें दार्शनिक-वाद शुष्क नहीं दिखते थे—वह सरस भासते थे। वाद भी सहानुभूति पर अवलम्बित केवल अखंड सत्य को स्थापित करने के लिये होने लगे थे। अजातशत्रु ही नहीं, सब लोग अब 'ही' पर नहीं, 'भी' पर जोर देना जान गये थे। वह यह नहीं कहते कि 'मेरा कहना ही ठीक है', बल्कि यही कहते थे कि 'मेरा भी कहना ठीक है' और नयवाद से उसकी सिद्धि करते थे। दर्शन-वाद के जगत में भ० महावीर द्वारा प्रचारित यह अपूर्व क्रान्ति थी ! दर्शनवाद में इसने समता, सत्य और सहानुभूति को स्थान दिलाया और लोक शान्ति का अनुभव करने लगा ! लोक ने भ० महावीर में एक सच्चे दार्शनिक तत्ववेता के दर्शन किये !

गणनायक राजा चेटक और सेनापति सिंह का वीर-समागम

'चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः ॥३॥
तस्य देवी च भद्राख्या तयोः पुत्रा दशाभवत् ।
धनाख्यो दत्त भद्रांतावुपेंद्रोऽन्यः सुदत्त वाक् ॥४॥
सिंहभद्रः सुकुंभोजोकंपनः सुपतंगकः
प्रभंजनः प्रभासश्च धर्मा इव सुनिर्मलाः ॥५॥

—उत्तर पुराण ।

वृजिदेश में वैशाली नगरी थी । चेटक वहाँ वृजि-गण-तंत्र राज्य के अधिनायक थे । उनकी रानी का नाम सुभद्रा था । वे दोनों जिनेन्द्रभक्त थे । चेटक इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय-रत्न थे । वह थे भी वड़े पराक्रमी और वीर योद्धा । मगध से उनकी कई लड़ाइयां हुईं थीं । साथ ही वह विनयी और श्रद्धालु श्रावक भी थे । अहिंसा धर्म के उपासक थे । जिनेन्द्र भगवान् की पूजा-अर्चा करना वह रणक्षेत्र में भी नहीं भूलते थे । मगध में राजगृह के पास जव उनका राजशिविर पड़ा हुआ था, तव वहाँ उनकी पूजा के लिये जिनायतन मौजूद था । चेटक के दस पुत्र थे, जिनके नाम धन दत्तभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुंभोज, अकपन, सुपतंग प्रभंजन और प्रभास थे । यह प्राय. सव ही भ० महावीर के भक्त थे । सिंहभद्र संभवत. वृजि-गण-सेना के नायक थे । वह पराक्रमी सेनापति थे । भ० महावीर की वन्दना करने में उन्हें अधिक रस आता था । उनकी सात वहनें थीं । सव से वड़ी त्रिशला प्रियकारिणी भ० महावीर की माता थीं ।

सिद्दभद्र भगवान् के मामा होते थे। शेष वहनें मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती; चेलनी, ज्येष्ठा और चंदना नामक थीं। वे सब भ० महावीर की उपासना करने में रस लेतीं थीं। ज्येष्ठा, चंदना और चेलनी तो वीरसंघ में सम्मिलित होगईं थीं। राजा चेटक ने कई सफल युद्ध लड़े थे, परन्तु अभी उन्हें अभ्यन्तर शत्रु से जूझने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था। एक दफा भ० महावीर का समोशरण वैशाली में आया। चेटक सपरिवार वन्दना करने गये। अर्हंत भगवान् के मुखारविन्द से उन्होंने धर्मोपदेश सुना। उन्होंने जिनेन्द्र की वाणी में सुना, भले ही "मनुष्य सहस्रावधि दुर्दान्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, परन्तु उसकी महान् विजय होगी वह कि जब वह अपने को जीत लेगा। इसलिये अपने से युद्ध करो। वीरो, वाह्य शत्रु से क्यों लड़ते हो? जो अपने पर विजय पाता है, वह सुखी होता है। अभ्यन्तर विजयही महान् है। परास्त शत्रु अपमानित और त्रस्त हुआ प्रतिकार की आग में झुलसता है और वदला लेने की फिक्र में रहता है। इस विजय में सुख-शान्ति कहाँ? सुख-शान्ति अहिंसामय वातावरण मे है, जो आभ्यन्तर विजय में उपलब्ध होती है। चेटक! भद्रपुर के राजा जिनचन्द्र के दो पुत्र सूरदत्त व जिनदत्त थे। सूरदत्त निस्सन्देह शस्त्र विद्या में निपुण शूर था। जिनदत्त अश्वविद्या में निष्णात था, परन्तु ऐश्वर्य उसे सुहाता न था—भोगों से वह विरक्त था। भद्रपुर पर म्लेच्छों का आक्रमण हुआ। राजा ने जिनचन्द्र को उनसे मोर्चा लेने के लिये भेजा। म्लेच्छों का टिड्डीदल चला आ रहा था। वह म्लेच्छ जो धर्मकर्म नहीं जानते थे—हिंसा-अहिंसा के भेद को नहीं पहचानते थे। जिनचंद्र ने उन पर वहादुरी से आक्रमण किया, परन्तु उसकी सेना म्लेच्छों के सम्मुख अपने पैर न जमाये रही। हठात् वह रणाङ्गण से पीछे हटा। जिनचन्द्र ने सूरदत्त को सेना लेकर भेजा।

म्लेच्छों का दर्प घट चला था। सूरदत्त लड़ा भी बहादुरी से। उसने म्लेच्छों को मार भगाया। भद्रपुर ने उस विजयी वीर का स्वागत किया। राजसभा मे एक दिन उसके शौर्य का बखान हुआ। जिनदत्त ने कहा, म्लेच्छों को मार भगाने में सच्ची बहादुरी नहीं है—वह स्थूल शत्रु हैं—दूर से दिखता है। बहादुरी अदृश्य शत्रुओं को जीतने में है। क्रोध, मान माया, लोभ, मद, काम-ये अदृश्य-सूक्ष्म षड्रिपु सहज में जीते नहीं जाते। सूरदत्त इन्हें जीते तो कुछ बहादुरी है! शूरवीरता महाशीलवान् बनने मे है! जिनदत्त का यह वाग्बाण शूरदत्त के वैराग्य का कारण हुआ। उन्होंने तत्क्षण श्रीधर मुनि के पास जाकर अहिंसादि महाव्रत धारण कर लिये और उग्र तपश्चरण द्वारा काम-क्रोधादि आभ्यन्तर शत्रुओं को परास्त करने में जुट गये। सम्यक्त्व का किला बनाया उन्होंने और उसके फाटक पर संयम और तप की साकलें जड़ दीं। सन्तोष की प्राचीर बनाकर उसे उन्होंने अजेय बनाया। उत्साह भावनारूपी धनुष लिया हाथ में, जो समिति-सूत्र से खिंचा था। सत्य के बल पर उस धनुष को वह तानते थे और तप-तीर से कर्मशत्रु को भेदते थे। इस प्रकार एक सच्चे शूरवीर की तरह सूरदत्त ने वह आध्यात्मिक-अहिंसक युद्ध लड़ा और विजयी हुये—मोक्ष लक्ष्मी उनको मिली। राजन्! यह सच्चे वीर का आदर्श है। जो कर्म्म-शूर है वही धर्म्मशूर बनता है। (जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा!) जीवन को कमल पत्र पर पड़े ओसबिन्दु की तरह ढुलकते देर नहीं लगती। अतएव, मुमुक्षु को आत्मकल्याण करना उचित है।" चेटक इस धर्म-

---

क्या भद्रपुर भद्दलपुर है? यदि वही है तो उसे भेलसा समझना चाहिये, जहाँ शक-म्लेच्छों का आक्रमण एक ऐतिहासिक घटना है! इस विषय में खोज की जरूरत है।

देशना को सुनकर सम्बोधि को प्राप्त हुये। वह दिगम्बर मुनि हुये और विपुलाचल पर्वत पर तप द्वारा कर्मों का क्षय करने मे संलग्न रहे। वह अब लोकोपकार करने के लिए महा-पराक्रम प्रदर्शित कर रहे थे। एक दफा कौशाम्बी की रानी वहाँ आ भटकीं और वहीं पर उन्होंने पुत्र-प्रसव किया। चेटक ने उसके पालन पोषण का प्रबन्ध एक ब्राह्मण परिव्राजक से करा दिया।[१] चेटक के मुनि होने पर वैशाली का आधिपत्य उनके पुत्र को प्राप्त हुआ।

एक अन्य अवसर पर सेनापति सिंहभद्र भ० महावीर की वन्दना करने के लिये गये। उन्होंने भ० महावीर को नमस्कार किया और विनय पूर्वक पूछा, "प्रभो! लिच्छवि राजकुमार शाक्यमुनि गौतमबुद्ध की प्रशंसा करते हैं। उनके मत को अच्छा बताते हैं। यह क्या बात है?" सिंहभद्र ने उत्तर मे सुना कि 'गौतमबुद्ध के वचन मन को लुभाने वाले इन्द्रायण फल की तरह सुन्दर हैं, परन्तु सिंह! तुम तो कर्म सिद्धान्त के श्रद्धानी श्रावक हो, तुम्हे अक्रियावादी गौतम के मत से क्या प्रयोजन? मुग्ध लिच्छविकुमार इस भेद को नहीं चीनते। जो कर्मों के फल को भोगने वाले आत्मा के अस्तित्व को भी स्पष्ट नहीं बता सकता और जो प्रगट हिंसावाद—मास लोलुपता का सवरण नहीं कर सकता, वह गुरू कैसा? क्या तुम आत्म द्रव्य मे विश्वास नही रखते और क्या तुम जीवों के घात मे हिंसा नहीं मानते? क्या मृत मास खाना विधेयं है? भूल गये, जब तुमने बौद्धसंघ के लिये मास भोजन का प्रबन्ध किया था, तब वैशाली में कैसा क्षोभ फैला था? वैशाली मे सड़क-सड़क और चौराहे चौराहे पर धर्मश्रद्धालु जनता ने उस कर्म का विरोध किया था। सब ने एक स्वर से कहा था कि श्रमण गौतम जानबूझ कर औद्देशिक मास

---

१. उदायनकाव्य (तामिल)—JA., VII pp 4-5.

भोजन करता है, इसलिए उस हिंसा का पातकी वही है। धर्मात्मा कभी भी जानबूझ कर प्राणीवध नहीं करते।" सिंह ने बीच में कहा, "नाथ! यह कैसे? जब गौतम ने प्राणीवध किया नहीं तब वह उसके पातकी क्यों?' सिंह ने समझा कि "मुग्ध जीव हिंसा और अहिंसा के स्वरूप को न जानने के कारण ही ऐसा कहते हैं। सिंह! यह बताओ कि तुम मेरे पास कैसे आये? ऐसे ही न कि पहले तुम्हारे मनमें यह भाव उदय हुआ कि चलो ज्ञातृपुत्र महावीर भगवान् से इस शंका की निवृत्ति करें? इस भाव के अनुरूप ही तुमने कर्म किया। यह तुम्हारी भावक्रिया का स्थूल रूप था—उसकी सूक्ष्म प्रतिक्रिया तुम्हारे मानस क्षेत्र मे उस भाव के उदय होते ही होली! अतएव प्रत्येक कर्म भाव और द्रव्य रूप से दो तरह का होता है। हिंसा और अहिंसा भी दो तरह है। (१) भाव हिंसा और (२) द्रव्य हिंसा। इनमें भाव हिंसा प्रधान है। उसके होते हुये द्रव्य हिंसा की जावे, चाहे न की जावे, परन्तु व्यक्ति हिंसा का अपराधी हो जाता है, क्योंकि प्रमत्तचित्त—क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर वह अपने व अन्य प्राणी के भाव प्राणों का हनन करता है—उसके परिणाम उतने ही क्रूर हो जाते हैं, जितने कि प्राणीवध करते समय एक हत्यारे के होते हैं। सम्राट् श्रेणिक की बात, सिंह! तुमने सुनी होगी! राजगृह में काल सौकरिक नामक कसाई रहता है। श्रेणिक ने चाहा कि वह हिंसा का व्यापार छोड़ दे। कालसौकरिक हिंसानन्दी है—वह बोला, इस काममें दोष ही क्या है जो मैं इसे छोड़ दूँ? इसके द्वारा मैं सहस्राधिक मनुष्यों की रसना-तृप्ति करने का श्रेय और अर्थ-लाभ पाता हूँ! ऐसा अच्छा धन्धा मैं नहीं छोड़ूँगा। श्रेणिक ने लालच दिया, परन्तु वह न माना। हठात् श्रेणिक ने राजदण्ड दिया और उसे अन्धकूप में बन्द करा दिया। वह समझे काल-सौकरिक अब हिंसा नहीं कर पायगा। श्रेणिक वीर समोशरण में

आए और वोले कि निर्ग्रंथ सम्राट्! मैंने काल सौकरिक से हिंसा
छुड़ा दी; अब मेरी गति क्या होगी? उन्होंने उत्तर में सुना कि
राजन्! पूर्व मे वधे हुए शुभाशुभ कर्मों का फल उदय मे अवश्य आता
है। तुम पहले नर्क आयु का वन्ध वॉध चुके हो, इसलिये वह
एकदम हट नहीं सकता। कालसौकरिक के भी तीव्र मिथ्यात्व
और चारित्र मोहनीय कर्म उदय मे आ रहे हैं, इसीलिए वह हिंसा
को नहीं छोड़ पाता। श्रेणिक अन्धकूप मे तुमने उसे डाला अवश्य,
परन्तु वहाँ भी उसने मिट्टी के भैंसे वना कर मारे हैं। उन मिट्टी
के भैंसोको मारते समय भी उसके वैसे ही क्रूर भाव थे और वही
हिंसानन्द था जो उसे सचमुचके भैंसों को मारते समय होता था।
श्रेणिक ने देखा तो यह सच पाया। इसलिये सिद्ध। हिंसा और
अहिंसा की परख मनुष्य के भावों से ही की जाती है। एक कृषक
और एक धींवर है। कृषक मीलों जमीन जोत डालता है और त्रस-
स्थावर जीवों की विराधना कर डालता है। द्रव्य हिंसा खेत जोतने
मे होती है। दूसरी ओर धींवर वसी डाले तालाब के किनारे बैठा
रहता है—विल्कुल सावधान, जरा खटका हुआ कि समझा मछली
पकड़ ली, परन्तु मछली फंसती एक भी नहीं। उसके भाव मछली
पकड़ने मे ओत प्रोत रहते हैं। वताओ, उनमे से कौन हिंसा का
अधिक पातकी है? किसान नहीं, धींवर! किसान के भाव-हिंसा
का अभाव है और धींवर के द्रव्य हिंसा तो नही है, परन्तु भाव
हिंसा जटाजूट है। इसलिये वह महापापी है। इसी कालसौकरिक
का लड़का है - वह भव्य है। हिंसक व्यापार वह नही करता!
उसके सगे सम्वन्धियों ने समझाया और दवाया, पर वह तो भी
विचलित न हुआ। कसाई न वना। उसने स्पष्ट कहा कि यदि तुम
मेरा दुख वटा लो तो मैं समझूँ तुम मेरे पाप-पुण्य के भागी वनोगे।
यह कह कर उसने भैंसे के गले पर नहीं, अपने पैर पर कुल्हाड़ी
मारी और दुख से वेहोश हुआ। कोई भी उसके दुख को न वँटा

पाया—सब को अपनी २ करनी का फल स्वयं भुगतना पड़ता है। उसके सगे सम्बन्धी चुप हो चले गये। जानते हो, उन्होंने क्या कर्मबन्ध किया? सगे-सम्बन्धियों के हिंसामय भाव थे, इसलिये उन्होंने पाप कमाया और काल सौकरिक-पुत्र दयालु हृदय था—उसने अहिंसक भावों से पुण्य कमाया। और सुनो, तुमने सिंह! प्रसिद्ध वैद्यराट् जीवक का नाम सुना है—वह रोगमुक्त करने के लिये चीड़फाड़ भी करते है। एक रोगी को उन्होंने चीरा लगाया—बिल्कुल सावधानी से, परन्तु भाग्यवशात् उसकी हृदयगति क्षीण हो गई और वह मर गया। क्या राजा जीवक को अपराधी कहेगा और उसे प्राणदण्ड देगा? नहीं न? इसीलिये कि जीवक का भाव रोगी को मारने का नहीं, जिलाने का था। बस, अहिंसा सिद्धान्त की कुञ्जी यही है। भावों पर ही वह अवलम्बित है। हिंसा के भाव हों, फिर चाहे प्राणी हिंसा करो या न करो या दूसरों से कराओ या न कराओ, व्यक्ति का पाप बन्ध होगा। कृत-कारित-अनुमोदना, एक समान हैं। मांस भक्षक भले ही प्राणीवध न करते हो, परन्तु उनके भोजन के लिए प्राणियों का वध होता है। इसलिए कारित हिंसा का दोष अवश्य है। अब सिंह! बताओ क्या मृत्यु मास का खानेवाला हिंसापाप का दोषी नहीं है?"

सिंह ने कहा, "अवश्य है, नाथ! मैं भूला था—लिच्छवि-कुमार भी भूले थे। निर्ग्रन्थ सम्राट्! आपकी वचन वर्गणाओं से अज्ञान मिटा है! किन्तु प्रभो! कुछ लोग कहते हैं कि भोजन के लिए स्थावर-एकेन्द्रिय अनेक जीवों का वध करने की अपेक्षा एक बड़े से जीव का—पशु का वध करना उचित है—हिंसा दोनों में है। फिर निरामिष भोजन-पान में ही क्या विशेषता रही?"

सिंह ने सुना तो वह समझा कि "जीव-तत्व-विज्ञान को न समझने वाले अज्ञजन ही ऐसा कहते हैं। सिंह! वह ससारी जीवों के भेदों और उनकी प्राणशक्तियों को नहीं जानते हैं। ससारी

जीव स्थावर और त्रस रूप से दो तरह के हैं। स्थावर जीव चल फिर नहीं सकते हैं—उनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है। केवल चार प्राण (१) स्पर्शन इन्द्रिय, (२) काय बल, (३) श्वासोश्वास, (४) आयु हैं। त्रस जीव चल फिर सकता और वह द्वि-इन्द्रिय; त्रि-इन्द्रिय, चतुः इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होता है। इनके प्राण भी क्रमानुसार बढ़ जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव के जैसे बैल-भैंसा आदि के दस प्राण होते हैं। पांच इन्द्रियां, तीन बल, श्वासो-श्वास और आयु उनके पूर्ण व्यक्त होते हैं। अब जरा सोचो, एक इन्द्रिय जीव जैसे वनस्पति या जलकायिक जीव की हिंसा मे अधिक प्राणों का घात होगा या पंचेन्द्रिय पशु के घात में? पंचेद्रिय के घात में अधिक प्राणों का घात होगा और उतना अधिक ही पापबंध होगा, क्योंकि हिंसा भाव व द्रव्य प्राणघात से होता है। अतः एकेन्द्रिय अनेक छोटे जीवों के घात से कहीं ज्यादा हिंसा बड़े प्राणी के घात में होती है। एकेन्द्रिय जीव के घात से द्वेन्द्रिय जीव के घात मे असंख्यात गुणा पाप है। फिर भला विचारो पञ्चेन्द्रिय जीव के घात मे कितना अधिक पाप होगा? अन्न-जल के विना तो जीवन निर्वाह असंभव है; परंतु मास-मदिरा-मधु जीवनस्थिरता के लिये आवश्यक नहीं हैं। अतः वडे पशु को मार कर उसकी और उसके आश्रित अन्य जीवों की क्यों हिंसा की जावे? मृगया मे हिरणी को हत्यारे बेध लाते हैं—पक्षियों को अपने तीर का निशाना बनाते है, किन्तु कितनी करुण विलविलाहट होती है उनकी! फिर उस छोटे से हिरनी के बच्चे को देखो जो मा के दूध पर निर्भर था अथवा घोंसले मे पक्षी के शिशुओं की चिल्लाहट सुनो जो अपनी मां के वियोग में तड़फड़ा रहा है। यह कैसे करुणोत्पादक दृश्य है! क्या हक है मनुष्य को जो वह मां को बच्चे से अलग करे। मास भोजन मनुष्य के हृदय को कठोर और क्रूर बना देता है, जिसके कारण

वह आत्मोन्नति नहीं कर पाता है। वह न स्वयं अपना उपकार करता है और न अपने साथी जीवों का। वह स्वार्थ मे अंधा हो जाता है और अहिंसा के महत्व को नहीं जानता। मास में प्रतिसमय उसी प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु उत्पन्न होते रहते हैं—उनमें कितने ही जहरीले होते हैं। मूढ़ उनका भक्षण करके घोर पाप कमाता और कभी २ अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठता है। निरामिष भोजन मे तीव्र परिणाम नहीं होते, बल्कि परिणामों में कोमलता रहती है। वह अहिंसक स्वय जीवित रहता है और दूसरों को जीवित रहने देने मे सहायक बनता है। वह व्यर्थ ही अनर्थक स्थावर जीवों की हिंसा भी नहीं करता है! यह है विशेपता निरामिष भोजन की। मांस भक्षक चिड़ीमार को निकलता देख कर पशु-पक्षी भयभीत होकर चिल्लाते हैं, परन्तु वही क्षमाशील अहिंसक वीर के निकलने पर शान्त रहते और सुख अनुभव करते हैं! इसलिए सिंह! स्पष्ट जानो कि जीव के अपने शुद्धोपयोग रूप प्राणों का घात राग द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमाद भावों से होता है। इसलिये इन रागादि भावों का अभाव ही अहिंसा है। भावों का तारतम्य ही एक व्यक्ति को हिंसा का दुखद परिणाम भुगतने के लिये बाध्य करता है और दूसरे को वही हिंसा बहुत सी अहिंसा के फल को देती है। जैसे एक मुनिराज ध्यान कर रहे हैं। उन पर एक महाक्रूर परिणामी सिंह आक्रमण करता है। एक शूकर को मुनि पर दया आती है—वह कोमल अहिंसामय भाव से प्रेरा हुआ मुनिराज की रक्षा के लिये जुट जाता है। सिंह और शूकर लड़ते २ जूझ मरते हैं। सिंह क्रूर परिणामों के कारण हिंसा करते हुए नरक में जाता है, परन्तु शूकर शुभ भावों के कारण हिंसा करता हुआ भी स्वर्ग को जाता है! यह है भाव अहिंसा का पुण्य फल! अत मनसा वाचा कर्मणा

अहिंसा धर्म पालन करने में जीव का कल्याण है !" सिंह ने विनम्र हृदय हो शीश नमाया - वह बोला, "दीन बन्धो ! आपका शासन लोक कल्याण का मंगल प्रतीक है। अहिंसा का स्वरूप समझने में ही लोक का कल्याण है। परन्तु हे ज्ञान धन ! यह तो बताइये कि गृहस्थ अपनी लोक मर्यादा और आतिथ्य कर्तव्य निर्वाह मे हिंसा के पाप से कैसे मुक्त रहे ? कैसे वह अपने धन-जन की रक्षा करे ?" सिंह ने सुना था वीर वाणी मे कि "अहिंसा का पूर्ण पालन मोक्ष पुरुषार्थ के साधक मुनिजन ही करते हैं। साधु के न घर है और न सम्पत्ति—उसका अन्तरंग भी निर्मल है। दुनियां से उसे कोई सरोकार नहीं। इसलिए वह अहिंसा का मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण पालन करते हैं; परन्तु गृहस्थ भी यथा शक्य अहिंसाव्रत पालता है। वह जानबूझ कर संकल्पी हिंसा कभी नहीं करता है। जीवन निर्वाह मे आरम्भी और व्यापार धन्धे में उद्योगी हिंसा गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। इन कार्यों को भी यदि वह सावधानी से करता है तो उसको बहुत कम हिंसा का पाप लगता है। लोक मर्यादा मे मूढ़ जन देवताओं की बलि मे और अतिथियों के सम्मान में पशु हिंसा करते हैं। यह हिंसा संकल्प पूर्वक की जाती है—गृहस्थ इस हिंसा के दोष से उसका त्याग करके बच सकता है। हिंसा मे दोष ही दोष है—उसमे धर्म मानना भारी भूल है। गणधर इन्द्रभूति गौतम ने पहले यह भूल खूब की, परन्तु वह अब इसकी निस्सारता और भयानकता जानते है। कोई देवी देवता पशुबलि से प्रसन्न नहीं होता—मनुष्य की यह झूठी कल्पना है। महत् पुरुष भी यह कभी नहीं चाहेगे कि उनके लिए दूसरे के अमूल्य प्राण लिये जावें। इसलिये धर्म और लोक मर्यादा के लिये भी पशुहिंसा विधेय नहीं हो सकती ! सिंह ! अन्न-मिष्टान्न-शाक और फल की सामग्री से अतीव स्वादिष्ट, स्वास्थ्य वर्द्धक और सात्विक भोजन बनते

हैं। उनसे मनुष्य आतिथ्य धर्म का निर्वाह करके अपना और सब का भला कर सकता है। इस प्रकार जहां अहिंसा का साम्राज्य होगा वहा शांति और समता का आधिपत्य होगा—सत्य नंगी तलवार लिए घूमता होगा। सत्य परायण क्षमाशील अहिंसक नागरिकों को धन-जन की रक्षा करने की फिक्र कभी न सतायेगी। वृजिगणतन्त्र की प्रजा सत्य और अहिंसा की पुजारी है। क्या उसके प्राण और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं हैं!" सिंह ने कहा "वृजि एक आदर्श लोक तन्त्र राज्य है, परन्तु लोक मे वैसा राज्य सर्वत्र और सर्वदा नहीं हो सकता। राष्ट्र की रक्षा और राज नियमो का समुचित पालन—शासन संचालन कराना मुझ से क्षत्रिय का परम धर्म है। तो क्या स्वधर्म, स्वराष्ट्र और स्वजाति की रक्षा के लिये युद्ध लड़ना और अपराधियों को दण्ड देना अहिंसा धर्म के विरुद्ध है?" सिंह ने सुना कि 'तात्विक दृष्टि से कोई भी अहिंसक निरपराध रक्त नहीं बहायेगा। नाशवान् सम्पत्ति के झूठे मोह के लिये पर प्राणियों के अमूल्य प्राणों का अपहरण करना कहाँ का न्याय है? सन्तोष ही बडी सम्पत्ति है। असन्तोषी कभी सम्पत्तिशाली नहीं होता। जो परिग्रह की तृष्णा मे जल रहा है, उसे सुख कहाँ है? धर्मनीति यही कहेगी और यही स्वर्ण नीति है। मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि धर्म पुरुषार्थ के बल पर ही कर सकता है। इसलिये ही राजनीति और समाज-नीति की व्यवस्था और पवित्रता के लिये मनुष्य को लौकिक मर्यादा का निर्माण अहिंसाधर्म के अनुरूप करना उचित है। यद्यपि लौकिक धर्म देश भेद और कालभेद के आधीन है, परन्तु उसका प्राणतत्व अहिंसा ही है। उसके बिना वह निर्दोष और स्थायी नहीं हो सकता। वह ग्राम धर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, पाखण्डधर्म, कुलधर्म, गणधर्म्म और सघधर्म्म रूप है। ग्राम में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के आधार से ग्रामोन्नति के नियम

निर्माण करके उनका पालन करना ग्रामधर्म है। इसी प्रकार नगर-धर्म नगरवासियों के लिये और राष्ट्रधर्म राष्ट्रोन्नति के लिये निरूपित है। प्रत्येक नागरिक और राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य अहिंसाभाव के अनुसार नगर और राष्ट्र की उन्नति में संलग्न होवे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने ग्राम, नगर और राष्ट्रधर्म की स्थापना की थी। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग राष्ट्रोद्धार और सुधार के कार्य में व्यतीत किया था। राष्ट्र का मूल आधार ग्राम है। जब ग्राम की ठीक व्यवस्था है और नगरवासी भी अपना कर्तव्य अहिंसक रीति से पालन करते हैं तब राष्ट्र की उन्नति से दूर नहीं लगती। अतएव इन लौकिक धर्मों का पालन अहिंसा नीति से करना ही उचित है। राष्ट्रोन्नति में एक बड़ी बाधा सम्प्रदायवाद की होती है। इससे बचने के लिये प्रत्येक नागरिक को पाखण्ड-धर्म का पालन समन्वयदृष्टि और समभाव से करना उचित है। पाखण्ड कहते हैं सम्प्रदायगत व्रत नियमों के पालन को—जब वे पाखण्ड नियम अहिंसा पर अवलम्बित होंगे तब साम्प्रदायिक विद्वेष पनप ही न पायेगा। सब अपने २ मतानुकूल दयालु बनेंगे और अपना एवं पराया हित साधेंगे। कुलधर्म, गणधर्म और संघ-धर्म सामाजिक एवं राजकीय सुव्यवस्था के लिये अनिवार्य हैं। कुलधर्म कुलाचार है—वह ऐसा होना चाहिये जिससे प्रत्येक कुल पतितावस्था को प्राप्त न हो, बल्कि उच्च बनता जावे। अहिंसोपजीवी होने से ही मनुष्य के कुल उच्च बनते हैं। व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उद्योग धन्धे ऐसे करना विधेय है, जो अपने लिये और दूसरे के लिये लाभप्रद हों। उनमें अत्यल्प हिंसा होना चाहिये। गण और संघ वैधानिक राजव्यवस्था के लिये स्थापित किये जाते हैं। उनमें यदि अहिंसा सिद्धांत को भुला दिया जायगा तो उनके सदस्य अन्याय और स्वार्थ के चुङ्गल में फंस जायेंगे, जिसका परिणाम राष्ट्र के लिये बुरा होगा। उनमें सार्वहित के

लिये ही सामाजिक और राजनैतिक विधान और नियम स्वीकृत होना उपादेय है। सिंह! इस प्रकार जहां पर सांस्कृतिक नैतिकता का प्राबल्य होगा, वहाँ वैर-विरोध के लिये स्थान न रहेगा। फिर मनुष्य भेड़ियों की तरह आपस में लड़ेंगे ही क्यों? सब स्वाधीन रहेंगे और परस्पर सहयोग द्वारा एक दूसरे को सुख-शान्ति पहुँचाने का उद्योग करेंगे। सारे मनुष्यों की एक जाति है सारे विश्व के लोगों का एक कुटुम्ब है। फिर सब को क्यों न मिल कर जीवन सार्थक बनाना चाहिये?" सिंह ने कहा, "लोकोद्धारक प्रभो आप हैं। लोक की विभूति है, परन्तु जगत मे वैषम्य रहा है। लोभी नृशंस नर भेड़िये की शक्ल में इस स्वर्ग सम वसुधा की शान्ति भङ्ग करने के लिये उधार खाये मिलते हैं—उनका इलाज अहिंसा कैसे? वह तो युद्ध किये बिना नहीं नसेंगे?" सिंह ने समझा, कि "निस्सन्देह लोक मे अनन्तानुबन्धी कषाय के वशीभूत हुआ जीव सहसा अहिंसा-अकुश को नहीं मानता है। उसके दर्प को अहिंसा युद्ध से शात करने का उद्योग करना ही श्रेष्ठ है—जलयुद्ध, मल्लयुद्ध, नेत्रयुद्ध आदि अहिंसक युद्ध हैं। इन मे जो जीते वही विजेता है। यदि इस पर भी कोई अन्यायी मनुष्य लोक की स्वाधीनता छीनने और शान्ति भङ्ग करने पर तुला हो तो वह आततायी है। उससे अपनी, अपने धर्म अपने देश और जाति की जैसे भी हो वैसे रक्षा करना परमधर्म है। यही कारण है कि गृहस्थ विरोधी हिंसा का त्याग नहीं करता है। [१] वह इससे बचता है यथा सम्भव और जब अनिवार्य होता है

१ विद्या, मंत्र, असिबल (तलवार के जोर) व तप आदि द्वारा धर्म प्रभावना करना चाहिये :—

"बाह्य प्रभावनांगोऽस्ति विद्या मन्त्रासिभिर्बलैः।
तपोदानादिभि जैन धर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥३२०॥"

—लाटी संहिता।

तो शत्रु का एक बांके वीर की तरह मुकाबिला करता है। दया और प्रेम सदा उसके साथ रहते हैं। वह शत्रु से उसकी गलती सुधारने के लिये लड़ता है। दूसरे का बुरा या नाश करने की दुर्भावना से सच्चा वीर कभी नहीं लड़ता। युद्ध सभी निंदनीय और लोक के लिये शोचनीय है, परन्तु सत्य, अहिंसा और न्याय की रक्षा अनिवार्य है। अतएव स्वार्थ एवं अहङ्कार का निरोध करके दुष्टों को दण्ड देना गृहस्थ का कर्तव्य है—पापीजनों के सम्मुख आत्म समर्पण वह कभी नहीं करेगा। बस, वह यह ध्यान रक्खेगा कि उसका संग्राम स्वार्थ और द्वेष, लोभ और अभिमान के कारण नहीं है। उसका उद्देश्य प्रशस्त है—प्रमत्त रूप नहीं है। अहिंसक भाव ही प्रधान है। इसी में लोक का उत्थान छिपा हुआ है क्योंकि:—

"सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया दुह पडिकूला अप्पिय वहा !
पिय जीविणो, जीविउकामा, तम्हा रणातिवाएज्ज किंचणं ॥"

अर्थात्—"सब प्राणियों को आयु प्रिय है सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सब के प्रतिकूल है, बध सब को अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते हैं, इससे किसी को मारना अथवा कष्ट पहुँचाना उचित नहीं है।"

सिंहभद्र ने तीर्थंकर प्रभो को साष्टाङ्ग नमस्कार किया—उनकी शंकायें निर्मूल हो गई थीं। उन्होंने श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया और निर्ग्रन्थ मुनियों के वैयावृत्य और आतिथ्य सत्कार में

जो समझाने से न माने तो उसको जीतने के लिए शस्त्र युद्ध का विधान है:—

"बुद्धि युद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्र युद्धमुपक्रमेत् ॥४॥"

—नीतिवाक्यामृतम्।

उन्होंने हमेशा रस लिया। वैशाली में निर्ग्रन्थ वीर धर्म के उपासक एक बड़ी संख्या में हुए। जिन्होंने अहिंसा धर्म के विजय गीत जगत को सुनाये। स्पष्ट ऐसा व्याप किया:—

"सुगति मग्ग सौं प्रीत, पालवे को आली सम,
कुमति के द्वार हद आगलसी देखिये।
ऐसी दया कीजे चित्त, तिहूँ लोक प्राणी हित,
और करतूत काहू लेखे में न लेखिये॥"

! बौद्ध ग्रन्थ 'महावग्ग' (विनय पिटक) में लिखा है (SBE. XVII, 116) कि सीह (सिंह) नामक लिच्छवि सेनापति निगंठ नाटपुत्त के शिष्य थे। संथागार में समण गौतम की प्रशंसा सुन कर वह उनकी वन्दना करने गया और प्रभावित होकर गौतम बुद्धजी को भोजन का निमन्त्रण दे आया क्योंकि वह बौद्ध हो गया था। बौद्ध होने पर सीह ने बाजार से मांस मंगवाया और बौद्ध भिक्षुओं को खिलाया। इस पर जैनियों ने प्रवाद उठाया। 'महावग्ग' में लिखा है कि "एक बड़ी संख्या में वे (निर्ग्रन्थ) वैशाली में सड़क २ और चौराहे २ पर यह शोर मचाते दौड़ते फिरे कि आज सेनापति सीह ने एक बैल का वध किया है और उसका आहार समण गौतम के लिये बनाया है। समण गौतम जानबूझ कर कि यह बैल मेरे आहार हेतु मारा गया है, पशु का मांस खाता है, इसलिए वही उस पशु के मारने के लिये वधक है। हम अपने जीवन के लिये कभी भी जानबूझ कर प्राणी वध नहीं करते हैं।" इस उल्लेख से स्पष्ट है कि सीह पहले जैन थे और बौद्ध सम्प्रदाय में मांस को ग्रहण करने में संकोच नहीं करता था।

(२३)

वैभार शैल पर वीर-देशना

"ज्ञान प्रधान लहा महावीर ने, श्रेणिक आनंद आदि सिताई।
मत्त मतंग, तुरंग, बड़े, रथ, 'द्यानत' शोभित सर्व सवाई॥
ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य रु शूद्र, सु कामिनि भीर घटा उमड़ाई।
कान परी न सुनै कोऊ बानि, सुधीर के पर्व कला रवि छाई॥"

—कविवर द्यानतराय जी

तीर्थङ्कर महावीर विहार और धर्मप्रचार करते हुए एक बार वैभार पर्वत पर आ विराजमान हुए। श्रेणिक राज परिवार सहित वंदना को गये। मार्ग में लोगों ने देखा, एक मेंढक के मुँह में विकसित कमल पुष्प है और वह कूदता हुआ वीर-समोसरण की ओर जा रहा है। लोगों ने कहा, "कैसा माहात्म्य है लोकहितैषी प्रभु महावीर का, यह तिर्यंच पशु भी आज भक्ति-प्रदर्शन करने जा रहा है।" किन्तु दूसरे क्षण उन्होंने देखा कि वह मेंढक श्रेणिक के हाथी के पैर से दब गया और अपनी इहलीला समाप्त कर चुका है। जीवन की क्षणभंगुरता पर उन्हें आश्चर्य हुआ। जीवन का क्या भरोसा? कांच की सीशी को फूटते देर लगती है, परन्तु काया-शीशी को फूटते देर नहीं लगती। मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य अपना और पराया हित साध ले। इस प्रकार की पुण्यमई विचारधारा में बहते हुए भक्तजन वीर समोशरण में पहुँचे। समोशरण की वनराशि में एक वृक्ष के नीचे शिला पर धर्मरुचि नामक मुनि ध्यानमग्न बैठे हुए थे। श्रेणिक ने उनको देखा, अभिवंदना की। परन्तु उनका किञ्चित् विकृत मुख देखकर उनको शंका हुई। वह प्रभु महावीर के निकट पहुचे। उनको नमस्कार किया और

तीन प्रदक्षिणा देकर विनयपूर्वक पूछा, "प्रभो! मार्ग में मैंने एक मुनिराज को वृक्षतले ध्यानमग्न देखा है, वे कौन हैं? उनका मुख विकृत क्यों है?" श्रेणिक ने सुना, "अग देश में चम्पा नगरी है। श्वेतवाहन वहाँ का राजा था, वही मुनि हुआ है और धर्मरुचि के नाम से प्रख्यात है। श्रेणिक! तुमने उन्हीं के दर्शन किये हैं। उनका पुत्र विमलवाहन राजभार संभालने मे असमर्थ प्रमाणित हुआ है। धर्मरुचि मुनि जब आहार के लिए नगर मे गये तो उन्होंने यह सुना कि 'यह कैसे निठुर हैं? अपने असमर्थ बालक पर शासनभार छोड़कर स्वार्थ साध रहे हैं। पापी मंत्रियों ने बालक को बन्दी बना लिया है और स्वय शासक बन गये हैं।' मुनि धर्मरुचि यह सुनते ही पुत्रस्नेह मे विमोहित हो गये। उन्होंने आहार नहीं लिया। वैसे ही उल्टे पैरों लौट आये और क्रोधानल मे झुलस रहे हैं। इसीलिये उनके मुख पर विकार था—संक्लेश परिणामों के होने से कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं की वृद्धि हो गई है। यदि एक मुहूर्त तक उनकी यही स्थिति रही तो अवश्य ही उन्हे नरक आयु का बंध हो जायगा। अतः श्रेणिक! तुम उन्हे जाकर समझा दो और उनको आत्मपतन से बचालो।" श्रेणिक यह सुनते ही धर्मरुचि मुनिराज के पास पहुँचे और उन्हे मुनिपद का स्मरण दिलाया। वह बोले 'मुनिराज! आप चिन्ता न करें। आप अपना धर्म पालें। मैं अपना वात्सल्य धर्म पालूंगा आपका पुत्र अपने पुरुषार्थ से ही सुखी होगा।' धर्म रुचि को अपनी गलती सूझ गई—उन्होंने उच्च कोटि का शुक्ल ध्यान माड़ा और कर्मशत्रुओं का नाश करके वह केवल ज्ञानी हुए।

देवों ने खूब उत्सव मनाया। श्रेणिक ने भी मगल गान किया।

उपरान्त वीरनाथ से उन्होंने प्रश्न किया, "प्रभो, धर्मरुचि को एकदम केवलज्ञान कैसे हुआ?" उत्तर मे उन्होंने जो सुना

उसका भाव था कि "मनुष्य अपने अच्छे-बुरे परिणामों के अनुसार ही शुभाशुभ वंध करता है और जब उसके भाव न शुभ होते हैं और न अशुभ; वल्कि शुद्ध आत्मस्वभावी हो जाते हैं तव वह वंध का नाश करता है। छै लेश्याये मनुष्य के अतंरंग भावों की परिचायक हैं। वे (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म, (६) और शुक्ल हैं। उनके तारतम्य-तीव्र और मन्द भावों के अनुसार आत्मा कर्म से लिपती है। इनका अर्थ समझने के लिए यह उदाहरण कार्यकारी है। एक फलाफूला आमका वृक्ष है। छै मनुष्य उस पर से आम लेने के लिए जाते हैं। एक भीम-कृष्णकाय व्यक्ति उस आमसे लदे हुये वृक्षको देखकर लोभ मे अंधा हो जाता है-वह नहीं चाहता कि उस वृक्ष से और कोई लाभ उठाये; इसलिए वह उसे जड़ से ही काटना चाहता है। उसके यह क्रूर भाव कृष्ण लेश्या के है और अत्यन्त नि कृष्ट है। दूसरा आदमी उससे कहता है, भाई! जड़ से क्यों काटते हो? आओ, एक-दो शाखायें काट लो-उनसे काफी फल, थोड़ी-वहुत लकड़ी और चारा भी मिलेगा। इस व्यक्ति के पहले वाले से कम लोभ कषाय है; परंतु हैं इसके भी भाव स्वार्थपूर्ण—यह भी दूसरे का संसर्ग और सम्पर्क नही चाहता। यह भाव नील लेश्या के हैं। तीसरे आदमी का लोभ इस दूसरे से भी कम है। वह कहता है कि शाखाओं को क्यों काटा जाय? टहनियों से ही काम चल जायगा, यह भी स्वार्थ में लिप्त है और हिंसकभाव को लिए हुये है। इसके परिणाम कापोत लेश्या के हैं और बुरे हैं। यह तीनों लेश्यायें बुरी है। धर्म श्रद्धालु स्वप्न में भी इन दुर्भावों को अपने मन मे नहीं आने देते; अन्त की तीनों लेश्यायें शुभ है—उनमें मानव हृदय उत्तरोत्तर कोमल और संतोषी रहता है। चौथा आदमी पीत लेश्या वाला मंद कषायी है। वह कहता है कि व्यर्थ टहनी क्यों तोड़ी

जाय ? हरितकाय की जितनी कम विराधना हो उतनी अच्छी ! इसलिये वह सीधे टहनी हिलाकर आम ले लेना चाहिये ! परन्तु पांचवाँ व्यक्ति भावशुद्धि में उससे भी आगे बढ़ जाता है । वह कहता है, टहनी हिलाने की भी क्या जरूरत ? जो पके हुये आम टपक पड़े उन्हें तोड़ लो—टहनी हिलाने में कच्चे-पक्के सभी तरह के आवश्यकता से भी अधिक गिर पड़ेंगे । इसलिये संयत रहकर आवश्यकता की पूर्ति कर लेना उचित है । यह पद्मलेश्या के भाव हैं । छठा व्यक्ति बहुत ही संतोषी जीव है और भावशुद्धि का उसे अति समर्थ ध्यान है । वह कहता है कि मनुष्य को पूर्ण विवेक से काम लेना उचित है । सचित्त आमों को क्यों तोड़ा जाय ? जो अचित्त पके हुये आम गिरे हुये मिलें, उन्हीं से अपनी तृप्ति करना चाहिये । यह शुक्ललेश्या के भाव हैं—उत्कृष्ट हैं—उपादेय हैं । आत्ममुमुक्षुओं को अपने हित के लिये इनका पूरा ध्यान रखना श्रेयस्कर है ! इस प्रकार के शुभ भावों से ही मुमुक्षु शुद्धोपयोग को प्राप्त होता है । धर्मरुचि मुनिराज इस आत्मिक मनोविज्ञान से परिचित थे । उन्होंने सावधान होकर जब अपने को पहचाना तो वह एकदम शुद्धोपयोग—आत्म-स्वभाव के उपभोग में जा रमे कि उन्हें चराचर वस्तु का त्रिकाल-ज्ञान प्राप्त हुआ । श्रेणिक ! भावों पर ही जीव का भवितव्य निर्भर है । इसलिये जो भी क्रिया की जावे वह अच्छे भावों से सोचसमझकर करना उपादेय है !

इसी समय श्रेणिक ने देखा कि एक महर्द्धिक महापुरुष प्रभो महावीर की वन्दना कर रहा है । उसका रूप सौन्दर्य अपूर्व है । वस्त्राभूषण राजसी हैं । मुकुट में मेंडक का चिन्ह बना हुआ है, श्रेणिक को कौतूहल हुआ । उन्होंने पूछा, "यह महापुरुष कौन है और इसका पुण्य-माहात्म्य क्या है ?" उत्तर में उन्होंने सुना "इसी राजगृह नगर में सेठ नागदत्त रहते थे । भवदत्ता उनकी

सेठानी थीं। सेठजी के स्वभाव में मायाचारी अधिक थी—वह कहते थे कुछ और, और करते थे कुछ और ही। एवं मन मे विचार भी कुछ और ही रखते थे। परिणामों की इस वक्रता के कारण ही उनके तिर्यञ्चआयु का बन्ध हुआ—नियम है कि मायावी पुरुष मृत्यु उपरान्त पशुयोनि में जन्म लेता है। जो पशुगति के दुख से भयभीत है उस धर्मेच्छु को मायाचारी नहीं करना चाहिये; वल्कि सदा ही इस गुरुवाक्य को मनन करना चाहिये कि 'मन मे होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।' सेठ जी ने इस गुरुवाक्य पर ध्यान नहीं दिया। लक्ष्मी के लोभ मे अन्धे बनकर उन्होंने खूब छल कपट का व्यवहार किया—धर्म मे पूजा भजन करते हुए भी वह सौदा करते। लाभ के लिए 'बोली' बोल लेते और लोग समझते यह सेठ जी बड़े धर्मात्मा हैं। साराशतः उनकी मायाचारी उनको पशु योनि मे ले गई—वह मर कर अपने घर की बावड़ी मे मेंडक हुए। अब उनका जीव वचन-क्रिया से लोगों को धोखा नहीं दे सकता था। उसे अपनी करनी का उपयुक्त दण्ड मिला था। एक दिन उस मेंडक ने अपनी पूर्वजन्म की पत्नी भवदत्ता को देखा और देखते ही उसे पहले भव की सब बाते याद आ गईं। उसका प्रेम उमड़ आया—वह उछल कर भवदत्ता के कपड़ों पर जा गिरा। भवदत्ता ने उसे हटाया। पर वह मेंडक बार २ उसके ऊपर उछलता था। सेठानी ने सुव्रत नामक अवधिज्ञानी (Clairavoyant) मुनिराज से पूछा कि मेंडक बारबार उसके ऊपर क्यों कूदता है? मुनिजी ने उसे पहले जन्म का सम्बन्ध बता दिया। भवदत्ता ने जब यह जाना कि वह उसका पूर्व-पतिका जीव है, तो उसे खुशी हुई और वह उसे बड़े आराम से रखने लगी। जीवों का मोह ऐसा ही होता है। राजा श्रेणिक! जब तुम यहाँ वन्दना के लिए आए और सेठानी भवदत्ता भी आई,

तो सेठ जी के जीव उस मेंडक को भी जिनभक्ति की याद हो आई। उसने बावड़ी में से एक फूल तोड़ा और जिनेन्द्रभक्ति का प्रेरा वह वीर-वन्दना के लिए चल पड़ा। मार्ग में वह हाथी के पैर के नीचे दब कर अन्त को प्राप्त हुआ। मेंडक का भाव जिनेन्द्रभक्ति में लवलीन था—वह उस अच्छे भाव को लेकर मरा, इसलिए बड़ी २ ऋद्धियों का धारक देव हुआ। देवों की जन्म से ही कुमार अवस्था होती है और जन्म से ही वह अवधि-ज्ञान (Clairavoyance) के द्वारा अपना पूर्व वृतान्त जान लेते हैं। उस देव ने भी अपना पूर्व वृतान्त जान लिया 'जिनेन्द्र-भक्ति का परिणाम देवगति का सुख है'—यह जानकर उसका हृदय धर्म भाव से ओतप्रोत हो गया। वह झट से अपने संकल्प को पूरा करने के लिये यहाँ आया--समवशरण में वही वन्दना कर रहा है। मेंडक के जन्म से उसका सुधार और उत्थान हुआ, इसलिये अपने मुकुट में मेंडक का चिन्ह बना रक्खा है।"

श्रेणिक वीरवाणी में जिनेन्द्र भक्ति का माहात्म्य सुनकर प्रसन्न हुये। उन्होंने पूछा, "भक्तवत्सल प्रभो! जिनेन्द्र भक्ति का यह माहात्म्य क्यों है? वह कैसे करना चाहिये?" उत्तर में उन्होंने जो धर्म देशना सुनी, वह भावरूप में यह प्रकट करती थी कि "मनुष्य जिस ध्येय की सिद्धि करना चाहता है उसका ज्ञान और अनुभव उसे अवश्य होना चाहिये। अपने आदर्श को दृष्टि में रखकर ही मुमुक्षु उसकी पूर्ति कर सकता है। भूगोल के विद्यार्थी को कलकत्ते का दिशाभान दो तरह से ही हो सकता है। अध्यापक स्वयं उसे मार्ग बताते हुए कलकत्ता दिखा लाये अथवा परोक्ष रूप में भारत वर्ष का मानचित्र बनाकर उसे कल-कत्ते की स्थिति का ज्ञान करा दे। तभी वह भटकेगा नहीं और ठीक अपने इष्टस्थान पर पहुँच जायगा। मनुष्य संसार में पर्यटन कररहा है इस पर्यटन में उसका ध्येय परम सुखधाम 'निर्वाण'

को प्राप्त होना है। अतः उसके लिये आवश्यक है कि वह उस निर्वाण-धाम का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करे, जिसे वह एक सर्वज्ञ जीवन्मुक्त परमात्मा से ही प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकर सशरीरी परमात्मा हैं—उन्हे निर्वाणतत्व का ज्ञान ही नहीं अनुभव भी है। अतः मुमुक्षु के लिये आवश्यक है कि वह उनकी निकटता प्राप्त करके उस ज्ञान और अनुभव को अपने में विकसित होने दे– सुसुप्त अन्तर-परमात्म-रूप को जागृत होने दे। साथ ही यह लौकिक मर्यादा भी है—शिष्टाचार है कि मनष्य अपने हित् के उपकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करे। हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान का उपकार महान् है—वह मनुष्य को ज्ञान नेत्र देते हैं, उसे अन्धेरे से निकाल कर उजाले में ले आते हैं—वह मोक्षमार्ग पर आ जाता है और उस पर ठीक से चलकर सुखधाम को पा लेता है। भला बताइये, इससे बढ़ कर और क्या चाहिये ? अन्धे को दो आँखें अलौकिक आनन्द का आभास दिलाती हैं और ज्ञाननेत्र त्रिकालवर्ती त्रिलोक का साक्षात् कराते हैं—वह अनुभव असीम-अलौकिक और अखूट होता है। उसका आनन्द चाँद सूरज की तरह अनंत शास्वत होता है। जिनकी निकटता से वह अपूर्व और श्रेष्ठ पद प्राप्त हो, उनकी आराधना और भक्ति करना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। अपने उपकारी के प्रति भक्ति और प्रेम प्रगट करना मनष्य-प्रकृति का कार्य है। यही कारण है श्रेणिक ! जिससे प्रेरित होकर मनुष्य जिनेन्द्र की भक्ति करता है। तीर्थंकर जिनेन्द्र इच्छा-वांछा से रहित हैं। उन्हे किसी की स्तुति अथवा निन्दा से प्रयोजन नहीं है। वह यह किसी से नहीं कहते कि 'हम सर्वज्ञ-सर्वहितैषी उपास्य देव है; भक्तो ! आओ, हमारी पूजा करो' बल्कि भक्तजन स्वयं अपने हित को लक्ष्य करके उनके प्रति विनय प्रगट करते हैं। इस विनयभाव को प्रगट

करने के लिये भक्त स्तुति, वन्दना और उपासना सम्बन्धी क्रियायें करता है। श्रेणिक! स्तुति, वन्दना और उपासना में भक्त परमात्मा के गुणों अथवा तीर्थंकरों के जीवन वृत्तान्त का बखान करता है। संगीत और लय का सहारा लेकर वह सरागी भक्त उन गुणों के बखान में तल्लीन हो जाता है। परिणामतः उसका आभ्यन्तर उन गुणों के रंग में रंगने लगता है। उसकी भक्ति आत्म संकेत (Auto-suggestion) का कार्य करती है। मनोविज्ञानी जानता है कि आत्म संकेत अथवा आत्म-प्रेरणा अपूर्व आत्मशक्ति को प्रगट करती है जिससे मनुष्य अश्रुत पूर्व कार्य कर जाता है। शुभभाव पुण्यवर्द्धक हैं-जिनेन्द्र के गुण-गान में शुभभाव होते ही हैं। शुद्ध आत्मद्रव्य के गुणों का बखान और चिन्तवन मुमुक्षु को शुद्धोपयोग का भान कराने में मुख्य कारण है। तब मुमुक्षु 'दासोऽहं' का भाव भूल जाता है और 'सोऽहं' के सतत-सस्वर आत्माल्हाद में मग्न हो जाता है। इस शुद्ध दशा को प्राप्त करने के लिये अर्हत्भक्ति एक साधन है। गृहत्यागी साधुजन भाव पूजा करके ही अपने परिणामों की शुद्धि करने में सफल होते हैं; परन्तु एक गृहस्थ-भक्त सांसारिक संकल्प-विकल्पों में फंसा हुआ है, उसका मन चंचल है—अपनी मन की चंचलता को एकदम वह नहीं रोक सकता। इसलिए मन की एकाग्रता के लिये उसे बाह्य साधन चाहिये—बस, वह द्रव्य पूजा का सहारा लेता है। जल-चंदनादि आठ द्रव्यों को अपने इष्टदेव के सम्मुख उत्सर्ग करके शुद्ध होने की भावना मनसा वाचा कर्मणा भाता है। जलोत्सर्ग करते हुये वह यह आत्मसंकेत (Auto-suggestion) अपने वचन द्वारा करता है कि इस संसार में संताप है—जन्म जरा का दुख है—मैं उस दुख को पानी दे रहा हूँ-फिर वह दुख मुझे न भुगतना पड़े। श्रेणिक! उपासनातत्व का यह वैज्ञानिक रूप है। गृहस्थ

का प्रभाव उनके भक्त राज शासकों पर ऐसा पड़ा था कि मध्य-काल तक प्रत्येक जैन मन्दिर के साथ चारों प्रकार के दान देने के लिये दानशालायें स्थापित कराने का नियम वना दिया गया था। इस नियम पालन से सच्चा लोकोपकार और धर्मोत्कर्ष होता है। संचित धन का सदुपयोग होते रहने से मानव प्रकृति दुष्कृतियों की शिकार नहीं वनती है।

उपरान्त श्रेणिक ने पूछा कि "प्रभो! प्रत्येक समय यह संभव नहीं है कि अर्हत् भगवान् साक्षात् विराजमान हों भक्त सशरीर जीवन्मुक्त परमात्मा की निकटता हर समय नहीं पा सकता, तव वह पूजा-वन्दना कैसे करे?" श्रेणिक ने सुनकर जो समझा उसका भाव था कि 'श्रेणिक! यह शङ्का ठीक है। चौथे काल में ही सर्वज्ञ अर्हत्-केवली के दर्शन होते हैं। अन्य काल ऐसे प्रशस्त नहीं हैं कि उनमें केवली सदृश महापुरुष जन्म सकें। परन्तु गृहस्थ की भक्ति में इससे वाधा नहीं आ सकती—वह परोक्षरीति से पूजा वन्दना कर सकता है। तुम्हें याद है कि भूगोल का ज्ञान मानचित्र के द्वारा परोक्ष रूप में विल्कुल ठीक करा दिया जाता है। ठीक वैसे ही तदाकार स्थापना—मूर्ति के द्वारा भक्त उपासना तत्व का व्यवहारिक अनुभव प्राप्त करता है। एक पथिक सूर्यताप से वचने के लिये त्राण छत्र (छाता) ले कर निकला और मार्ग में जहां वह ठहरा उसे रखकर भूल गया। जव उसने तेरा राजछत्र देखा तो उसे अपने त्राण-छत्र की सुध आ गई। वताओ क्या भला निर्जीव राजछत्र ने उससे कह दिया कि तू अपनी छत्री भूल आया? नहीं! फिर भी उसका मूक प्रभाव उस पथिक के मानसपट पर पड़ा अवश्य! निस्सन्देह इसी प्रकार ध्यानमुद्रामई जिन प्रतिमायें आत्म-स्वरूप को भूले हुये भक्त को उसका स्मरण कराने में मुख्य कारण हैं। भक्त उनके दर्शन करके केवली भगवान की आत्मविभूति

का स्मरण करता है। उसे ध्यानाकार नासाग्र-दृष्टि-युक्त, शान्ति-मुद्राधारी दिगम्बर मूर्तियों के दर्शन करते ही तीर्थङ्कर केवली का स्मरण हो आता है उसे भासता है कि साक्षात् केवली के दर्शन समोशरण मे हो रहे हैं और इसके साथ ही उसको उनकी सब ही पुण्यमई जीवन घटनाये याद आती हैं; जिनके अन्त में वह कैवल्यनद के वैभव का अनुभव करता है। उसका हृदय पवित्र हो जाता है। वह परम्परीण मोक्षभाव को पाकर जीवन सफल करता है। इस प्रकार यह आदर्श पूजा है। श्रेणिक ! मुमुक्षु को इसके अतिरिक्त पाषाण-वृक्ष और पर्वत की पूजा नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनसे आत्मबोध नहीं होता · जो जीव भोले हैं वह आदर्श-पूजा-विज्ञान को नहीं जानते और आक्षेप करते हैं कि पीतल पाषाण की मूर्तियाँ भला मनुष्य का क्या उपकार कर सकती हैं ? निस्संदेह पीतल-पाषाण की मूर्तियों में कुछ भी चमत्कार नहीं है और नहीं ही उनकी पूजा करना उपादेय है। किन्तु जो जिनमूर्तियाँ विशेष ध्यानाकार को लिये हुये हैं और जिनके दर्शन करते ही हृदय पर शान्ति छा जाती है, वे विशेष महत्व रखती हैं। वे आत्म साधना के लिये उत्कृष्ट साधन हैं— किन्हीं भव्य मूर्तियों के दर्शन करते ही अलौकिक शान्ति और सुख का अनुभव होता है। इस युग में सबसे पहले सम्राट् भरत ने तीर्थंकर ऋषभदेव की तदाकार मूर्तियाँ निर्माण कराईं थीं; जो कैलाश पर्वत पर आज भी सुरक्षित हैं। सच तो यह है, श्रेणिक ! कि लोक-व्यवहार बिना स्थापना निक्षेप के नहीं चलता। मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करने के लिये शब्दमई अदृश्य-मूर्तियाँ निर्माण करता है और अपने एवं अन्य महा-पुरुषों के वाक्यों को समझने-समझाने के लिये अक्षरकृत मूर्तियाँ रचता है। यह अतदाकार मूर्तियाँ मनमानी होती हैं। इन अतदाकार मूर्तियों से जब इतना महती और उपयोगी कार्य

सधता है, तब तदाकार मूर्तियाँ क्यों न विशेष उपयोगी होंगी ? मूर्ति की उपयोगिता में शंका करना व्यर्थ है। हाँ ! मूर्ति को ध्येय न मानकर ध्येय-प्राप्ति का साधन मानना ही उचित है !"

श्रेणिक ने मूर्ति और आदर्श पूजा का महत्व हृदयङ्गम किया। राजगृह और सम्मेद शिखर पर उन्होंने कई दर्शनीय जिनमन्दिर बनवाये और उनमें मनोहारी जिन प्रतिमायें विराजमान कराई । उन्होंने प्राचीन तीर्थों जैसे मथुरा, गिरिनार आदि की प्रभावशाली मूर्तियों की पूजा वन्दना करके अपने भाग्य को सराहा ! उनका अनुकरण अन्य मुमुक्षुओं ने किया और भारत को नयनाभिराम मूल्यमई मन्दिर-मूर्तियों से अलंकृत किया। जनता ने क्रिया काड की निस्सारता और आत्माराधना का महत्व हृदयङ्गम किया। श्रेणिक के प्रश्नोत्तर प्रसंग मे यह तत्व स्पष्ट होगया था। मनुष्य स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है—दूसरों के पुण्य-पाप का उत्तरदायी वह नहीं हो सकता। पुरोहित की पूजा यजमान के भावों को पवित्र नहीं बना सकती। हाँ, कारित और अनुमोदना का भागी वह अवश्य है, परन्तु अन्तरङ्ग शुद्धि के लिये मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। कुलाचार का अन्ध अनुकरण कल्याणकारी नहीं है—विवेक ही कल्याणकर्ता है। स्त्री हो, चाहे पुरुष—उसे स्वयं अपने कर्मों की निर्जरा और संवर के लिये जिनेन्द्र की पूजा-भक्ति और त्यागधर्म-दानपुण्य का पालन करना आवश्यक है। वीर-वाणी में श्रोताओं ने यह स्पष्ट सुना था कि धर्म मे जाति और कुल बाधक नहीं है—मुमुक्षु चाहे ब्राह्मण हो और चाहे शूद्र अपना आत्म कल्याण करने के लिये स्वाधीन है।' पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम और उनके दोनों भाइयों के जीव दुःखी-दरिद्री, रोगी-शोकी शूद्रा कन्यायें थीं। उन्हें एक जैनमुनि के दर्शन हुये, जिनसे उन्होंने 'लब्धि विधान व्रत' ग्रहण किया और

जिनेन्द्र की साभिषेक पूजा सहित उसको पालन किया। उसी व्रत का माहात्म्य है कि वे लोकवन्दनीय गणधर हुये! अतः आत्म-शुद्धि के लिये गृहस्थ को भक्तिवाद का अवलम्बन विवेक पूर्वक लेना कार्यकारी है। भ० महावीर के दर्शन करके लोक ने इस को जाना था।

शब्दालपुत्र का शंका निवारण !

"दैवादेवार्थ सिद्धि श्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥"

—श्री समन्तभद्राचार्य

तीर्थंकर भ० महावीर विहार करते हुये पलाशपुर नामक नगर में भी शोभित हुये थे। पलाशपुर में शब्दालपुत्र नामक एक धनवान् कुम्हार रहता था। वह कुम्हार आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक मङ्खलिपुत्र गोशाल का अनुयायी था। पूरण और मङ्खलि गोशाल नामक दो मुनिगण तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ की परम्परा में प्रख्यात थे। दोनों ही दिगम्बर भेष में रहते थे। मङ्खलि ने ग्यारह अग और दशपूर्वों का अध्ययन किया था। वह अपने को विशेष ज्ञानी समझता था—वह था द्रव्यलिंगी मुनि। जब भ० महावीर केवलज्ञानी हुये और उनके मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम हुये तो उसे बडी निराशा हुई—वह उद्दण्ड हुआ और श्रावस्ती में जाकर अपने को तीर्थङ्कर घोपित करने लगा था। लोगों को योगिक चमत्कार दिखाकर उसने उन्हें अपना भक्त बनाया। शब्दाल पुत्र उनमें मुख्य था। वह सफल शिल्पी था। उसके मिट्टी के सुन्दर बर्तन और अनूठे खिलौने दूर २ तक बिकने जाते थे। उसकी कारीगरी प्रसिद्ध थी और उसने खूब धन कमाया था। लोग कहते थे कि वह तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का स्वामी था। पलाशपुर के बाहर उसकी मिट्टी के बर्तन बेचने की पाच सौ दुकानें चलती थीं। एक दिन किसी पर्यटक के मुँह से उसने सुना कि कल प्रात.काल पलाशपुर में त्रैलोक्य पूज्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभू पधारेंगे। शब्दालपुत्र समझा कि उसके धर्मगुरु गोशाल आवेंगे।

वह प्रतीक्षा में रहा। दूसरे दिन वह वीर प्रभु के समवशरण में गया और उनके दर्शन किये। वीर प्रभु ने उसके मन की बात जान ली और कहा, "शब्दालपुत्र! कल से तुम अपने धर्मगुरु गोशाल के आगमन की प्रतीक्षा में थे, क्योंकि जब से किसी पर्यटक ने तुमसे आकर मेरे आगमन की बावत कहा तब से तुम इसी भ्रम में थे।" वीर-वाणी में यह गोपनीय एकान्तवार्ता सुनकर उसे श्रद्धा हुई। उसने सोचा कि "अहो! यह तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महाप्रभु अर्हन्त वीर वर्द्धमान है।" और उसने पन. उनको नमस्कार किया। पश्चात् वीर देशना मे उसने 'नियति-वाद' की निस्सारता सुनी। उसे विश्वास होगया कि सर्वथा एकान्त प्रारब्ध को ही सब कुछ मानना गलत है। उसने प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप समझा था। जो कुछ उसने सुना, उसका भाव यही था कि "ज्ञान और अज्ञान का भेद न चीनना मिथ्या है। लोक मे प्रत्यक्ष बुद्धिपूर्वक कार्य करने का व्यवसाय चलता है। तब यह कैसे ठीक हो सकता है कि लोक मे जो होना नियत है वह होकर रहेगा--ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी, नियत ससार परिभ्रमण के पश्चात् ही दोनों की मुक्ति होगी? इसलिये पुरुषार्थ को अनावश्यक समझ कर ज्ञान और पुण्य उपार्जन मे शिथिल होना उचित नहीं है। प्रारब्ध के-भाग्य के भरोसे बैठना दैवैकान्तवाद है,—वह मिथ्यात्व है। संसार के सभी कार्य दैव पर निर्भर नहीं हैं। निस्सन्देह प्राकृतिक दृश्य-पत्र-पुष्पों की मनोहर रचना, हिमशैल की सफेद चादर ओढ़ना और इन्द्र धनुष का रंग विरंगा पड़ना मनुष्य कृत नहीं है, परन्तु उनमें भी पुरुपरूप आत्मा की अपूर्व अदृश्य शक्ति काम कर रही है। पूर्व सचित एकेन्द्रिय वनस्पति-पृथ्वी आदि काय नाम कर्मों का बध जिन जीवों ने किया है, वे पत्रपुष्प रूप वन-स्पति, हिमकायिक और जलकायिक जीव बनकर प्रकृति की अपूर्व

शोभा सिरजते हैं। उनके वह संचित कर्म, जिसे प्रारब्ध कहो चाहे दैव या भाग्य उन्हीं के पुरुषार्थ का परिणाम है। अतएव भाग्य भरोसे बैठे रहना उचित नहीं है। बिना पुरुषार्थ के मनुष्य भोजन में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। सर्वथा दैवैकान्त अथवा पुरुषार्थैकान्तवाद उपादेय नहीं है। वस्तु का ठीक स्वरूप अनेकान्तवाद से सिद्ध होता है। यदि दैव से या पूर्व में बांधे हुये पाप-पुण्य-कर्म-रूपी भाग्य से ही कार्य की सिद्धि हो जाया करे—प्राणी को दुख-सुख हो जाया करे—उसे ज्ञानादि की प्राप्ति हो जाया करे, तो दैव के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या रहे? फिर तो यह बात ही सिद्ध न हो कि मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रिया से पाप या पुण्य कर्म या दैव बनता है। यदि दैव दैवसे ही बन जाया करे तो दैव की संतान सदा चलने से कोई भी प्राणी कभी पाप-पुण्य-रूपी कर्म-बन्धन अथवा दैव-पाश से छूटकर मुक्त नहीं हो सके! इस अवस्था में उसके दान, शील, जप, तप, ध्यान आदि सर्व धर्म पुरुषार्थ निष्फल हो जावें! किन्तु इसके साथ ही यदि सर्वथा पुरुषार्थ से ही प्रत्येक कार्य की सिद्धि मानी जावे तो पुण्यरूपी दैव के निमित्त से पुरुषार्थ सफल हुआ या पाप के फल से असफल हुआ, यह बात नहीं कही जा सक्ती, क्योंकि लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एकसा काम करने वाले कोई सफल होते हैं और कोई सफल नहीं होते हैं! जरा सोचो शकटालपुत्र! यदि सर्वथा पुरुषार्थ से कार्यसिद्धि हो जाया करे तो सर्व प्राणियों के भीतर पुरुषार्थ अवश्यमेव सफल हो जावे—पापी जीवभी सुखी ही रहे, कभी कोई विघ्न बाधायें ही कहीं न होवें—सबका ही मनोरथ सिद्ध हो जाया करे। किन्तु लोक का अनुभव ऐसा नहीं है। अतएव प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनों ही जीवन व्यवहार के लिए आवश्यक हैं। प्रारब्ध अदृश्य है-पुरु

षार्थ दृश्य है—प्रगट है। प्रारब्ध नाशवान् है-पुरुषार्थ शाश्वत है। प्रारब्ध पर पदार्थ है-निर्जीव अचेतन है; पुरुषार्थ अपनी चीज़ है-आत्मा का भाव है—सचेतन है। इसलिये विवेकका आश्रय लेकर अनेकान्त सिद्धान्त से ही वस्तुस्वरूप का निर्णय करना श्रेयस्कर है। नियतिवाद अथवा अज्ञानवाद के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। यह ठीक है, संसारी जीवों को यह उत्सुकता रहती है कि उनका कौन सा कार्य पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है और कौन सा प्रारब्ध पर निर्भर है। यह बात जानना कठिन नहीं है, क्योंकि जिस बात का बुद्धिपूर्वक विचार नहीं किया गया हो, तो भी उसमे सुख-दुख और विघ्न-बाधायें स्वयमेव आ जावे, तो उस कार्य में मुख्यता दैव की या पूर्व में बांधे हुये अपने ही पुण्य-पापकर्मरूपी फल की प्रधानता समझना चाहिये। इसके विपरीत जो काम बुद्धि से विचार पूर्वक किया जावे और उसमें जो इष्ट या अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो, उसे अपने ही पुरुषार्थ की मुख्यता का परिणाम समझना उचित है। यद्यपि उस कार्य मे भी गौणरूप से इष्टलाभ प्रसग मे पुण्यकर्म का व अनिष्टसंयोग मे पापकर्म का संसर्ग अदृश्य कार्यकारी है। दोनों को परस्पर अपेक्षा से लेना श्रेयस्कर है, क्योंकि कर्म का भावी उदय क्या होगा? यह छद्मस्थ प्राणी नहीं जानता। अतएव प्राणी को तो अपना पौरुष न छिपाकर विवेक पूर्वक-विचार सहित प्रत्येक कार्य करना उचित है।" शब्दाल पुत्र को ज्ञान-प्रकाश मिला। वह प्रसन्न हुआ, परन्तु एक बात उसकी समझ में न आई। उसने पूछा कि कर्म मनुष्य की मन-वचन काया की क्रिया को कहते हैं। फिर कर्म और दैव एक कैसे? किन्तु वीर-वाणी में उसकी यह शंका भी निर्मूल होगई! उसने जो सुना उससे वह समझा कि "जैनधर्म में 'कर्म' शब्द विशेषार्थ मे प्रयुक्त हुआ है—वह जैन सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है।

'कर्म' से भाव केवल मन-वचन-काय की क्रिया ही नहीं समझना उचित है। जैन सिद्धातानुसार कर्म सूक्ष्म पुद्‌गल है जो मन-वचन-काय की अविरति, प्रमाद और कषाय युक्त क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ काल विशेष के लिये सम्बन्धित हो जाता है। यही उसका दैव या भाग्य है। ससारी जीव शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवृत्ति करता है और उसी के अनुसार उसके शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध होता है। यह उसकी स्वयं अपनी प्रवृत्ति है—इसमें कोई ईश्वरीय प्रबन्ध या किसी अदृष्ट शक्ति का हाथ नहीं है। अनादि काल से प्रत्येक जीव के साथ यह सूक्ष्म शरीर लगा हुआ है, जो कार्माण कहलाता है। जब तक मनुष्य अपनी शुद्ध प्रवृत्ति द्वारा मुक्त नहीं होता, तब तक यह उसके साथ रहता है—बिल्कुल जुदा नहीं होता। स्थूल शरीर मृत्यु समय छुट जाता है, परन्तु यह सूक्ष्म कार्माण शरीर संसारी जीव के साथ जन्म-जन्मान्तरों में जाता रहता है। यह कार्माण शरीर ही वह अदृश्य शक्ति है जो प्राणियों को सुख-दुख देने में कारण है। यही प्राणी का भाग्य है। प्राणी अपने पुरुषार्थ से इसे बनाता है। लोक में सूक्ष्म कर्मवर्गणायें भरी पडी हैं, जिनसे यह कार्माण शरीर बनता है। जीव अपनी योगशक्ति द्वारा उनको खींच लेता है, जैसे गर्म लोहा पानी को खींच लेता है। बिजली की शक्ति से दुनियाँ मे अपूर्व कार्य होते हैं। कर्मवर्गणाओं की शक्ति बिजली की शक्ति से असख्यात गुणी अधिक है। अत उसके द्वारा ससार-प्रवाह की अद्‌भुत प्रवृत्ति होना असंगत नहीं हो सकती! इनका निर्माता स्वय पुरुषरूप जीवात्मा है। इसलिये सर्वथा सचित कर्मरूपी दैव पर निर्भर रहना बुद्धिमत्ता नहीं है। पुरुषार्थी बनना ही श्रेयस्कर है। शब्दाल पुत्र! यदि कोई व्यक्ति कर्म सिद्धान्त का अध्ययन करता है तो वह भाग्य और पुरुषार्थ के रहस्य को समझ कर अपना और पराया कल्याण करता है।

अब तुम समझे कि संचित कर्म अथवा पुरुषार्थ का परिणाम ही भाग्य अथवा प्रारब्ध है।"

शब्दाल पुत्र ने नमस्कार किया और कहा, "उपाध्याय महाराज के निकट से मैं कर्म सिद्धान्त का रहस्य समझ सकूं, यह आशीर्वाद दीजिये, प्रभो!" और उसने श्रावक के व्रत गृहण किये। मङ्खलि गोशाल ने उसे बहुतेरा बहकाया, परन्तु वह अपने श्रद्धान में दृढ़ रहा।*

शब्दालपुत्र ने प्रत्यक्ष देखा था कि भ० महावीर ने एक राजपुत्र के वैभव को त्याग कर और बाह्य सम्बन्धों से नाता तोड़ कर जीवन्मुक्त परमात्मा का पद प्राप्त किया था। उनका शुद्ध पुरुषार्थ ठीक फलित हुआ। फिर वह अपने पुरुषार्थ पर क्यों न विश्वास करते?

* कर्म सिद्धान्त का महत्व समझने के लिये स्व० ब्र० शीतल-प्रसाद जी कृत "जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ" नामक ग्रन्थ पढ़ना चाहिये!

वीर श्रमण जीवंधर की सिद्धि।

"स्थितं पिण्डिद्रुमस्याधो जीवंधर मुनीश्वरं।
ध्यानारूढं विलोक्यैतद्रूपादिपु विपक्तधीः ॥१८४॥

*　　　*　　　*

सुरादिमलयोद्यानायानं वीर जिनेशितुः।
श्रुत्वा विभूतिमद्गत्वा संपूज्य परमेश्वरं ॥"

—इति उत्तरपुराण।

एक दिन सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार भ० महावीर की वन्दना करने विपुलाचल गये। समोशरण के बाहर उन्होंने एक पिण्डि वृक्ष की साया में बैठे हुये एक प्रतिभासंपन्न मुनिराज के दर्शन किये। उनको कौतुक हुआ कि वह कौन हैं। निस्सन्देह भ० महावीर के उपदेश को ग्रहण करके बड़े २ राजा-महाराजा भी उनकी शरण में आकर आकिञ्चन्य महाव्रत-धारी बने थे। श्रेणिक के पूछने पर गणधर महाराज ने उनको बताया कि सोने की खानों के लिये प्रसिद्ध हेमांगद नामक देश है, जिसकी राजधानी राजपुरी है। सत्यंधर नामका राजा वहाँ राज्य करता था। उसकी शीलवान विजयारानी थी। राजा रानी में आसक्त था। उसने राजपाट का भार काष्टागार नामक राजकर्मचारी के ऊपर छोड़ रक्खा था। दैवात रानी गर्भवती हुई और उसे दुस्वप्न होने लगे, जिनका फल विचार कर राजा ने अनिष्ट की सम्भावना की। उसने वंश रक्षा के विचार से मयूराकार एक यंत्र बनाया, जो कल घुमाने से आकाश में उड़ सकता था। राजा उस यन्त्र में विजया रानी को बैठा २ कर आकाश में उड़ने का अभ्यास

कराने लगा, जिससे कि रानी आपत्तिकाल में अपनी रक्षा कर सके। राजा की आशंका व्यर्थ न थी। दुष्ट काष्टांगार ने प्रगट विद्रोह किया। सत्यंधर ने उस संकटाकुल काल मे रानी को मयूर यंत्र मे बिठा कर उड़ा दिया और स्वयं काष्टांगार की सेना से युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

वह यंत्र राजपुर के बाहर श्मशान भूमि मे जा पहुँचा। राजन्! उस समय वहीं विजया रानी ने एक पराक्रमी पुत्र प्रसव किया। पूर्व संचित अशुभोदय थोड़ा सा भी दुखदायी होता है। यद्यपि वह पुत्र पुण्य का अधिकारी था, परन्तु जन्मते समय उसके किञ्चित् असाता का प्रसंग उदय में था। मनुष्य जो बोता है, उसका फल उसे भुगतना ही पड़ता है। यह दूसरी बात है कि अधिक शुभोदय उसको निष्फल बना दे। विजया रानी के उस पुत्र के विषय मे यही घटित हुआ—उसका शुभोदय भी उसके पीछे २ चला आ रहा था। रानी ने उसका नाम जीवधर रक्खा और सेठ गन्धोत्कट ने उसका पालन पोषण किया। वही जीवंधर वह मुनिराज हैं, श्रेणिक जिनके तुम दर्शन कर आए हो। बाल्यावस्था मे आर्यनन्दि नामक जैनाचार्य के निकट उन्होंने शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा-दीक्षा पाई थी। जैन गुरू की दयामयी शिक्षा पाकर वह एक सच्चे वीर बने थे। दुखित-दलित लोगों की सेवा करने में उन्हे रस आता था। ग्वालों की गउओं को भीलों से वह छुड़ाते थे। काष्टांगार की क्रूर दृष्टि से बचने के लिए वह राजपुर से चले गये थे। मार्ग मे उन्हों ने हाथियों के एक झुण्ड को दावानल मे जलने से बचाया—चंद्राभा नगर की राजकुमारी को सर्पदंश से निर्विष करके प्राणदान दिया और तापसों के आश्रम में पहुँच कर उन्हे सच्चे धर्म का श्रद्धानी बनाया। उनकी दयादृष्टि रंक और राव पर एक समान थी। घूमते घामते जब वह क्षेमपुरी के बाहर जा रहे थे तब उन्हें अपने

वस्त्राभूषण किसी पात्र को देने की इच्छा हुई। एक शूद्र उन्हें मिला उसे उन्होंने धर्म का स्वरूप समझाया—वह प्रतिबुद्ध हुआ। जीवंधर ने उसे गृहस्थ धर्म धारण कराया और उसे अपने वस्त्राभूषण दे डाले। जीव का यह सुधार सबसे बड़ा उपकार है। जीवधर मनुष्य ही क्या पशुओं का भी हित साधते थे। लोग गली मे पड़े हुए दुखी-दरिद्री कुत्तों को देखकर उन्हें दुरदुराते हैं और कष्ट देते हैं, परन्तु मानवता का पुजारी उनमें 'देव' के दर्शन करता है। राजकुमार जीवंधर अपने मानवधर्म को जानते थे। मार्ग मे उन्हें एक मृत-प्राय' कुत्ता मिला। जीवंधर ने उसकी सुश्रूषा की और जब देखा कि वह मर रहा है तो उसे 'णमोकार महामन्त्र' सुनाया। कुत्ता समभावों से मरा और यक्ष जाति का देव हुआ। भगवान् महावीर ने जीवन विज्ञान के साथ ही मृत्यु का ज्ञान भी लोगों को कराया था। लोगों को मरने से भयभीत नहीं होना चाहिये। चोला बदलना वैसा ही है, जैसा कि जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को उतार फेंकना। अतएव जब अन्त समय निकट आये तो विधिपूर्वक समाधि धारण करके समता भाव से प्राणविसर्जन करना उचित है। समाधि-स्थित मुमुक्षुवीर ममता-मोह को जीतता है और सबसे क्षमा चाहता है एवं सबको क्षमा करता है। जीवंधर कुमार इस सत्य को जानते थे। उनका जैनी जीवन था। इसीलिए उन्हों ने निरीह पशु का अन्त समय सुधार दिया—उसकी आत्मा का उत्थान हो गया। श्रेणिक! जीवंधर कुमार महान् पराक्रमी और वीर पुरुष थे। अनेक राजाओं से उनका सम्बन्ध हुआ—वह शक्ति सम्पन्न हुए—काष्ठागार की दुष्टता उन्हें ज्ञात हुई। जीवधर ने उसे दण्डित किया और स्वयं राज्याधिकारी हुये। न्यायपूर्वक उन्होंने शासन किया। पर राजकाज करते हुए भी वह धर्म-तत्व को भूले नहीं। एक मुनिराज के निकट उन्हों ने श्रावक के

व्रत लिए। एकदा वह बसन्त ऋतु के समय जल क्रीड़ा कर रहे थे। उन्होंने देखा, बन्दरों के दो झुंड आपस मे लड़कर लहूलुहान हो रहे हैं। उन्होंने व्यक्ति के स्वार्थ की नृशंसता अनुभव की—संसार की कुटिल रीति-नीति से वह घबड़ाये। उसी समय उन्होंने सुना कि भगवान् महावीर राजपुर के बाहर सुरमलय उद्यान में अवतरे हैं। सम्राट् जीवधर उनकी शरण मे पहुचे और दिगम्बर मुनि हो गये। वह कर्मवीर थे – रणांगण में अनेक सुभट शत्रुओं के छक्के उन्होंने छुड़ाये थे, वही अब कर्मवैरियों से मोर्चा लेकर उन्हे निष्प्रभ कर रहे हैं। वह महान् श्रुतज्ञानी हैं और भ० महावीर के साथ ही साथ इसी विपुलाचल पर्वत से मोक्षधाम को प्राप्त करने वाले हैं।" श्रेणिक उन मुनिराज का ऐसा माहात्म्य सुनकर प्रसन्न हुए और लौटते मे उन्होंने उनकी अभिवन्दना की – सत्संगति का लाभ लेने के लिये वह उनके निकट विरम रहे। श्रुतज्ञानी जीवधर मुनिराज से उन्होंने वीर-प्रवचन का महत्व और जैन गणित-शास्त्र की विशेषता जानी। जैन वाङ्मय ग्यारह अङ्ग-ग्रन्थों और चौदह पूर्वों मे विभक्त है। उसके चार अनुयोगः (१) द्रव्यानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) करणानुयोग और (४) प्रथमानुयोग लोक के सब ही विषयों का प्रतिपादन करते हैं। द्रव्यानुयोग में दर्शनशास्त्र और तत्व ज्ञान की विवेचना होती है। चरणानुयोग मुनियों और ग्रहस्थों के धर्म-नियमों का प्रतिपादन करते है, जिनमे शौच विज्ञान, पाकशास्त्र और वनस्पति विज्ञान आदि विषयों का सूक्ष्म वर्णन गर्भित होता है। करणानुयोग के ग्रंथ लोक विज्ञान तथा गणित शास्त्र का विवेचन करते हैं। और प्रथमानुयोग पुराण, कथा वार्ता और इतिहास से ओतप्रोत होते हैं। उनमे कर्म सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप झलकता है – विवेकी उनका अध्ययन करके कर्म-वैचित्र्य का अनुभव करते हैं। लोक के प्रत्येक

विषय पर सर्वज्ञ तीर्थङ्कर महावीर ने वैज्ञानिक प्रकाश डाला था—द्वादशाङ्ग वाणी में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने उसे ग्रंथवद्ध करके सुरक्षित वना दिया था। क्षयोपशम विशेष के अधिकारी मुनिवरों की तीक्ष्ण स्मृति मे वह भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग सात सौ वर्ष तक सुरक्षित रहा। उन श्रुतधरों द्वारा लोक का महती कल्याण हुआ परन्तु उपरान्त वैसे मेधावी मुनि पुंगवों का अभाव होने के कारण वह महावीर वाणी लुप्त हो गई। जो सुरक्षित अंश शेष रहा वह प्रथम शताब्दि के मध्य गिरिनगर मे लिपिवद्ध कर लिया गया। जीवधर मुनिराट् ने उस श्रुत को अपनी प्रवीण बुद्धि में पूर्णत. धारण किया था। श्रेणिक ने उनसे जैन गणित का विस्तार सुनकर अपने को धन्य माना। द्वादशाङ्ग रूप जिनेन्द्र महावीर की वाणी में गणित का अपूर्व विकास हुआ। लोक के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए उसका प्रतिपादन हुआ। लोकाकाश मे जीव आदि द्रव्यों का गमनागमन है। वह लोक उस मनुष्य के आकार का है कि जिसका सिर न हो और वह दोनों पैर फैलाये और कोन्हियों को मोड़कर कमर पर हाथ रक्खे हुए खड़ा हो। वह लोक तीन भागों में विभक्त है:—(१) ऊर्ध्व, (२) मध्य, (३) अधो। ऊर्ध्वलोक में ज्योतिषी देवों के विमान—चद्र, सूर्य, नक्षत्र, तारा आदि एवं स्वर्ग पटल अवस्थित हैं। मध्यलोक मे मनुष्यों का वास मुख्यत से है—हमारा जगत इसी में है। अधोलोक हमारे जगत से नीचे है। वहाँ उत्तरोत्तर प्रकाश का अभाव है। नारकी जीव अंधकार में ही रहते हैं। इस लोक और जीवादि द्रव्यों का परिमाण वतलाने के लिये ही अनन्त, असंख्यात और संख्यात नामक गणिताङ्कों का प्रयोग तीर्थंकर महावीर ने किया था। यह अनुभव की वात है कि पुराने जमाने के आदमियों और जानवरों की आयु-काय अव से कहीं ज्यादह और वड़ी होती थी। वे वड़ी

आयु-काय वाले मनुष्य अपने आवास आदि भी वडे वनाते थे। उस समय के पर्वत, वृक्ष, नदी, नाले सभी वड़े चढ़े होते थे। पाठक, पहले पढ़ चुके हैं कि काल चक्र के प्रभावानुसार इस क्षेत्र में कैसे २ परिवर्तन होते हैं। भूगर्भविद्याविशारदों ने अपने अन्वेषणों द्वारा इस मान्यता को स्पष्ट कर दिया है कि पुरातन काल के मनुष्यादि जीव आयु काय में अवसे कहीं ज्यादा बड़े और लम्बे होते थे। १ अस्तु भ० महावीर ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिये ही सर्वोत्कृष्ट गणित शास्त्र का उपदेश दिया था। श्रेणिक ने उसे इस प्रकार समझा था। अनन्त संख्या सर्वोत्कृष्ट है और उसका प्रयोग ग्यारह प्रकार से निम्नप्रकार होता है:—

(१) **नाम-अनन्त**—नाम मात्र का अनन्त। यद्यपि वस्तु अनन्त न हो परन्तु उसकी विशालता को वतलाने के लिए बोल चाल में उसे 'अनन्त' कहना 'नामानन्त' है।

---

१ भूगर्भशास्त्र की गवेषणाओं से प्राचीन काल के बड़े २ शरीर वाले जन्तुओं का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। उक्त खोजों से पचास २ साठ २ फुट लम्बे प्राणियों के पाषाणावशेष (Possils) पाये गए हैं। इतने लम्बे कुछ अस्थिपञ्जर भी मिले हैं। वे जितने अधिक दीर्घकाय के अस्थि पंजर व पाषाणके शेष होते हैं; उतने ही अधिक प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। उधर प्राणीशास्त्र का यह नियम है कि जिस जीव का जितना भारी शारीरिक परिमाण होगा उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी। प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि सूक्ष्म जीवों की आयु बहुत अल्पकाल होती है। हाथी सब जीवों में बड़ा है, इससे ही उसकी आयु सब जीवों से बड़ी है।

(२) स्थापना-अनन्त—अन्य मे स्थापित (Attributed) किया हुआ अनन्त। यह भी वस्तुत. अनन्त नहीं है, परन्तु इसका प्रयोग किसी दूसरे पदार्थ मे अनन्ततत्व को स्थापित करके किया जाता है। जैसे पासा या कौड़ी को अनन्त कहना।

(३) द्रव्यानन्त—अप्रयोगित ज्ञान सम्बन्धी अनन्त। इस अनन्त का प्रयोग उन व्यक्तियों के प्रति होता है जिन्हे अनन्त का ज्ञान है, परन्तु वह वर्तमान समय में उसका प्रयोग नहीं करते हैं।

(४) गणनानन्त—गणितशास्त्र में प्रयोजित अनन्त।

(५) अप्रदेशिक अनन्त—अनन्तसूक्ष्म (Dimension Pess) एक परमाणु को अप्रदेशिकानन्त कहते हैं।

(६) एकानन्त—एक पार्श्ववर्ती अनन्त। जैसे एक सीधी रेखा के एक छोर की ओर देखने से वह अनन्त दीखे।

(७) उभयानन्त—दो पार्श्ववर्ती अनन्त। जैसे एक सीधी रेखा जिसके दोनों छोर अनन्त हैं।

(८) विस्तारानन्त—विस्तार की अपेक्षा से अनन्त क्षेत्र को व्यक्त करने के लिए अनन्त का प्रयोग करना।

(९) सर्वानन्त—क्षेत्रजन्य अनन्तत्व (Spatial infinity)

(१०) भावानन्त—अनुभवजन्य केवलज्ञान (सर्वज्ञता) में प्रयोजित अनन्त। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महावीर का ज्ञान 'भावानन्त' था।

(११) शाश्वतानन्त—अनादि निधन, जो धर्मादि द्रव्यों मे रहता है।

उपर्युक्त प्रकार एक से अधिक रूप मे अन्तरहित संख्या के ज्ञापक 'अनन्त' पद का प्रयोग हो सकना सम्भव है। साधारणतः अनन्त पद का प्रयोग 'गणनानन्त' रूप मे प्रायः होता है, जो गणना के लिए पर्याप्त और सुगम है। इसके तीन भेद किये गये हैं : (१) परीतानन्त, (२) युक्तानन्त, (३) अनन्तानन्त और यह तीनों ही जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट होते है। जघन्य असंख्यातासंख्यात संख्या को तीन बार वर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होती है उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव और लोकाकाश, इनके प्रदेश तथा अप्रतिष्ठित वनस्पति के प्रमाण को मिलाकर उत्पन्न हुई राशि को पुन. तीन वार वर्गित संवर्गित करना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि मे कल्पकाल के समय, स्थिति और अनुभागबंधाध्यवसाय स्थानों का प्रयोग तथा योग के उत्कृष्ट अविभाग प्रतिच्छेद मिला कर उसे पुनः तीन वार वर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होगी वह **जघन्य परीतानन्त** कहलाती है। इसको वर्गित संवर्गित करने से **जघन्य युक्तानन्त** होता है और जघन्य युक्तानन्त का वर्ग **जघन्य अनन्तानन्त** है। **उत्कृष्ट अनन्तानन्त** केवल ज्ञान प्रमाण है। असंख्यात अङ्क भी तीन प्रकार का होता है :—परीत, युक्त और असख्यात। इन तीनों मे से भी प्रत्येक पुनः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद रूप है। **जघन्य-परीत-असंख्यात** का प्रमाण अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामक चार कुण्डों को द्वीप समुद्रो की गणनानुसार सरसों से भर-भर कर निकालने के प्रकारवत् है। जघन्य युक्तासख्यात से एक कम **उत्कृष्ट परीतासंख्यात** का प्रमाण है। इन दोनों के बीच के 'मध्यम' हैं। **संख्यात** के केवल तीन भेद हैं : जघन्य,

मध्यम, उत्कृष्ट। गणना का आदि एक मान्य है, परन्तु वह 'एक' केवल वस्तु की सत्ता को स्थापित करता है—उससे वस्तु के भेद प्रकट नहीं होते। वस्तु के भेद की सूचना दो से प्रारम्भ होती है। इसलिए वस्तुत दो को 'सख्यात' का आदि मानना उपयुक्त है। यह 'दो' ही जघन्य संख्यात है। जघन्य-परीत-असंख्यात से एक कम 'उत्कृष्ट सख्यात' होता है। इनकी मध्य-वर्ती सख्यायें 'मध्यम संख्यात' हैं। संख्यात अङ्क गणना ही लौकिक है—मनुष्य इसे अपने व्यवहार में लाता है—यह श्रुत ज्ञान का विषय है। असख्यात और अनन्त अङ्क गणना लोकोत्तर गणित है। अल्पज्ञ मनुष्य को उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। वह अवधिज्ञान का प्रत्यक्ष विषय है। विशेष ज्ञानी ऋषिवर ही उसका अनुभव पाते हैं। अनन्त की गणना केवल-ज्ञान (Omniscience) का प्रत्यक्ष विषय है। संख्यात अंक-गणना २४ अंक प्रमाण निम्न प्रकार है—

(१) एक, (२) दश, (३) शतक, (४) सहस्र, (५) दशसहस्र, (६) लक्ष, (७) दशलक्ष, (८) कोटि, (६) दशकोटि, (१०) शत-कोटि, (११) अर्बुद, (१२) न्यर्बुद (१३) खर्व, (१४) महाखर्व, (१५) पद्म, (१६) महापद्म, (१७) श्रेणी, (१८) महाश्रेणी, (१६) शंख, (२०) महाशंख, (२१) क्षित्य (२२) महाक्षित्य, (२३) क्षोम, (२४) महाक्षोम।

परन्तु संख्यात गणना का अन्त २४ अंकों में ही नहीं समझ लेना चाहिए। उत्कृष्ट सख्यात इससे बहुत बड़ी चीज है। यह उत्संख्यक गणना १५० अंक बल्कि उससे भी अधिक अंक प्रमाण है। इस गणना के अनुसार आज प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव के निर्वाण की गिनती सुगमता से की जा सकती है। आप उसे यूं समझिये.—

४१३४५२६३०३०८२०३१७७१४९५१२१९१९९९९९९९९९९९९-
९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९६०४९५ अर्थात् ४ पद्म, १३ नियल, ४५ खर्व, २६ अर्बुद, ३० कोटि, ३० लक्ष, ८२ सहस्र और ०३१ महामहाशंख, ७७१ परार्द्ध, ४९ पद्म, ५१ नियल, २१ खर्व, ९१ अर्बुद, ९९ कोटि, ९९ लक्ष ९९ सहस्र और ९९९ महाशंख, ९९९ परार्द्ध, ९९ पद्म, ९९ नियल, ९९ खर्व, ९९ अर्बुद, ९९ कोटि, ९९ सहस्र और ९९९ शंख, ९९९ परार्द्ध, ९९ पद्म ९९ नियल, ९९ खर्व, ९९ अर्बुद, ९९ कोटि ६० सहस्र और ४९५। सारांश यह है कि संख्यात अङ्कगणना लोक व्यवहार को चलाने के लिये जैन वाङ्मय में अपूर्व और परिपूर्ण है। श्रुतज्ञानी मुनि जीवन्धर ने उसका महत्व करणानुयोग के शास्त्रों का अध्ययन करके प्राप्त किया था और श्रेणिक उनके मुख से उसका विस्तार सुनकर प्रसन्न हुए। तीर्थंकर महावीर प्रणीत गणित विद्या यद्यपि आज संपूर्ण अप्राप्त है, परन्तु जो भी प्राप्त है वह अपूर्व है और उनके निखिल विश्व-ज्ञान की द्योतक है।

राजर्षि उदयन की वैयावृत्ति ।

'सव्वन्नू सोम-दंसण अपुणब्भव भवियजण-मणाणन्द ।
जय चिन्तामणि जयगुरु जय जय जिण वीर अकलंक ॥'

'जय ! जय ! अकलंक-वीर, जिन-महावीर की जय !' रानी प्रभावती जब इस प्रकार जयघोष करती हुई श्री महावीर चैत्य-धाम में प्रविष्ट हुई तभी उन्हे संतोष हुआ। वह राजा चेटक की पुत्री और भ० महावीर की मौसी थीं। सिन्धु-सौवीर के सम्राट् उद्यन की वह पट्टरानी थीं। वह सम्राट् कई-सौ जन-पदों के अधिनायक थे—कई सौ मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे।※ उनका महान् प्रताप था। वीतभय नगर उनकी राजधानी थी, जिसे रोरकनगर भी कहते थे। इतने बड़े सम्राट् थे वह, परन्तु बहुत ही सरल-स्वभावी और निरभिमानी! "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" की उक्ति को उन्होंने मिथ्या प्रमाणित कर दिया था। उनके राज्य में नर-नारी ही क्या पशु तक निर्भय विचरते थे। उनका राजनगर इसीलिये वीतभय के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि वहाँ निरंतर अभयदान देने के लिये सम्राट् उद्यन विद्यमान थे।

※ "तेणं कालेणं तेणं समएणं सिन्धु-सोवीरेसु जणवएसु वीयभए नामं नगरे होत्था, उदायणे नाम राया, पभावई देवी।...... से णं उदायणे राया सिन्धु सोवीर-पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीयभय पामोक्खाणं तिण्ह तेवट्ठाणं नयर सयाणं महसेण-पामोक्खाणं दसण्हं रायाणं बद्ध मउडाणं विइण्ण सेय चामर-वायवीयणाणं अन्नेसिं च राईसर-तलवर-पामईणं आहेवच्चं कुणमाणो विहरइ।"

—प्राकृत कथा संग्रह।

सम्राट् उदयन और सम्राज्ञी प्रभावती का भ० महावीर से जन्मजात स्नेह था। उसपर भगवान् थे लोक विभूति। अतः वह राजदम्पति बड़ा लालायित था कि कब भगवान् महावीर का पदार्पण वीतभय नगर में हो। वे दोनों उनके अनन्य भक्त थे। भक्त ही नहीं वीर-शासन के अपूर्व प्रभावक थे। रानी प्रभावती की धर्मनिष्ठा ने ही राजा उदयन को धर्म का रसिक बनाया था। रानी के आग्रह से उदयन ने एक नयना-भिराम चैत्यालय निर्माण कराकर उसमें भगवान् महावीर की सुवर्ण-प्रतिमा विराजमान की थी। एक दिन उदयन ने कहा, "चलो प्रिये ! गीत-संगीत का रस लेवे।" रानी अनमनी-सी रही। भावुक उदयन के दिल को ठेस आई। रानी ने कहा, "मैं भला क्यों रूठूंगी ? पर सोचो तो आर्यपुत्र ! यह आधी उम्र तो यूं ही इन्द्रियों की सेवा करने में बीत गई, जिसका पुरस्कार बुढ़ापा आगे दृष्टि पड़ रहा है। किसी गैर की सेवा करते तो वह भी ऐसा कृतघ्न न निकलता ! यही सोच कर दिल ऊब रहा है—मन उचट रहा है।" उदयन बोला, "अच्छा, अब समझा तुम्हारी व्यथा। चलो, चैत्यालय मे जिनेन्द्र महावीर की शान्ति-छवि की प्रभा से अपने मन को शान्त करो!" राजदम्पत्ति जिनालय गये और जिनेन्द्रभक्ति मे वह पग गये। उपरान्त उन्होंने वीर-संघ के अग्रणी श्रमण के दर्शन किये और उनसे धर्मतत्व का उपदेश सुना। उन्होंने समझा कि, "धर्मतत्व अपना और पराया हित साधने में है। और स्व-पर-हित अपनी स्वा-भाविक दशा को प्राप्त करना है, जो चिन्दानन्द-परमात्म-स्वरूप है। इसलिये स्वयं अपना और अपने से भिन्न प्राणियों का हित आत्म बोध कराने में है, जिससे वे परमात्म-स्वरूप चीनने के लिये प्रयत्नशील हों। यही सबसे बड़ा उपकार है। अतएव जो तुम महान् हो तो अपना और पराया महान् हित

साधो ! कर्मवीर हो, धर्मवीर बनकर भी चमको !" उदयन ने मस्तक नवाया-गुरु ने आशीर्वाद दिया । रानी ने पूछा,'तपोधन ! इन्द्रियों और शरीर का हमने पोषण किया—उनका उपकार साधा, परन्तु इसका पुरस्कार तो बुढ़ापा दिखाई पड़ रहा है। यह अनीति कैसी ?" इन्होंने समझा, "निस्सन्देह शरीर पर-पदार्थ है—अपना नहीं है। उसका पोषण अवश्य परोपकार है। आत्मा से सर्वनिकट सम्बन्धी शरीर ही है। परन्तु यह तो सोचिये उसके आश्रित हो जाना—उसके इङ्गित पर बन्दर जैसा नाच नाचना क्या परोपकार है ? यह तो दासता है और दासता दुखदायी है। दासता को दूरसे दण्डवत् करना विवेकी का कर्त्तव्य है। विवेकवान् सम्यक्त्वी दया का आगार और वीर्य एव शौर्य का भंडार होता है। वह दास नहीं स्वाधीन रहता है। अपना भला करता है और लोक कल्याण की हित-कामना में अपने को खपा देता है। सेवा धर्म का वह पुजारी दीन-हीन, रोगी-शोकी, रंक-राव, सबको समदृष्टि मे देखता है। घृणा को वह जीत लेता है-तृष्णा को वह लात मार कर निकाल देता है। सज्जनों का वह भक्त बनता है और दुर्जनों को सुधारने के लिये उसकी प्रेम-तलवार सदा सुती रहती है। पहले वह अपना—अपनी आत्मा का उपकार करता है—अपने को सत्य-धर्म के रंग मे रंग लेता है। फिर वह अपने शरीर को संवारता है, क्योंकि वह जानता है कि हृष्टपुष्ट और स्वस्थ शरीर ही धर्म साधने का आधार है। जब तक शरीर की पूर्ण उन्नति नहीं कर ली जायगी -वज्रवृषभनाराच संहननादि नहीं होंगे मुक्ति नहीं हो सकती। अत. शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ और वलिष्ठ रखने के लिए संयमित आचार विचार और निरामिष शुद्ध भोजन एवं नियमित दैनिक जीवन व्यवहार रखना आवश्यक है।'

सम्राट् ने जिज्ञासा की कि 'यह कैसे संभव है ?' उत्तर में

उन्होंने समझा कि, "मनुष्य के लिये संसार मे कोई कार्य दुर्लभ नहीं है। लोकोद्धारक भ० महावीर ने जीवन विज्ञान का ठीक निरूपण किया है। जिज्ञासु उसे समझे और देखे संयमी जीवन विताना कितना सुगम है। दूरसे विशाल पर्वत की ऊँचाई अलंघ्य दिखती है और कायर पुरुष उसे देख कर घवड़ाते हैं; परन्तु वीर घवड़ाता नहीं है। वह उस पर्वत को लांघने का दृढ़ संकल्प करता है और उत्साहपूर्वक उस पर चढ़ जाता है। चढ़ने में उसका उत्साह वढ़ता है—उसे अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। पर्वत शिखर पर पहुँचते ही उसका आनन्द असीम होता है—श्रम वह भूल जाता है। ठीक यही बात धर्म-रसिक मुमुक्षु की है। वह मोक्षमार्ग मे अग्रसर होते ही वाह्य श्रम और कठिनाई को भूल जाता है। भ० महावीर ने संयम धारण करने के लिये ग्रहस्थ अवस्था से ही अभ्यास करना आवश्यक वताया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण इसीलिये किया गया है कि ग्रहस्थ अपनी आत्मोन्नति का अनुपात रक्खे और उसमें क्रमश. उन्नति करता जावे, जिससे वह एकदम घवड़ा न जावे। पहली **दर्शन-प्रतिमा** धारण करते ही श्रावक अष्टमूल गुण धारण करता और सात व्यसन एवं अभक्ष्य का त्याग करता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन अष्ट अंगों सहित पालता है। जव वह अपने को इतना संयम पालने के योग्य पालेता है तव वह दूसरी **व्रत प्रतिमा** नासक कक्षा मे पदार्पण करता है। **इस** प्रतिमा मे अतिचार रहित अहिंसादि पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत वह मुमुक्षु पालन करता है। वह व्रती होकर संतोषपूर्वक जीवन यापन करता है। तीसरी **सामायिक प्रतिमा** में वह प्रात', मध्यान्ह और सायंकाल को नियमित रूप से सामायिक करता है। सव जीवों के प्रति उसके हृदय मे सम-

भाव जागृत होता है। आर्त-रौद्र दुर्ध्यान उसके पास नहीं फटकने पाते। इस प्रकार वह नियमित अभ्यास करके समभावी होने का प्रयत्न करता है। चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है और इसमे अशन एवं आरंभ त्याग करके ध्यान और उपवास किये जाते हैं। साधारण गृहस्थ के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अपना आत्मबल विकसित किये विना ही और धर्म के मर्म से अनभिज्ञ रहते हुए ही अनायास अनशनादि उपवास और तप को कर सके। इसलिए ही इस प्रतिमा मे जब उसका आत्म-बल विकसित हो चलता है तब वह प्रत्येक मास की अष्टमी और चतुर्दशी को—महीने मे केवल चार दिन ही प्रोषधोपवास धारण करता है। उस दिन यदि शक्ति हुई तो वह सर्वथा आहार जल का त्याग करके अनशनोपवास करता है अथवा जल लेता है। यदि सामर्थ्य न हुई तो वह एक वार आहार लेता है। उस दिन वह दिन रात धर्मध्यान मे समय बिताने के लिए जिनेन्द्र-भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, रात्रि जागरण अथवा एकान्त श्मसानादि-भूमि में मुनिवत् आचरण करके ध्यान माढ़ता है। अब वह अपने में त्यागभाव की मात्रा बढ़ाता है—जिव्हालम्पटता को जीतने के लिए क्रमश. खानपानादि में संयम और प्रत्याख्यान को पालता है। इसीलिए पाचवीं सचित्त त्याग प्रतिमा मे वह सब ही सचित्त पदार्थों जैसे हरे पत्र-प्रवाल-कंद-फल-बीज और अप्रासुक जल का भी त्याग करता है। छठी प्रतिमा 'रात्रिभुक्त-त्याग' में वह रात मे सर्व-प्रकार के आहार का त्यागी होता है और दिन मे मैथुन त्याग का अभ्यास करता है। अभी तक उस मुमुक्षु गृहस्थ के स्पर्शन इन्द्रिय-भोग (Sex appetite) पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, किन्तु इस प्रतिमा में पैर रखते ही वह आधा ब्रह्मचारी हो जाता है—अपनी स्त्री से वह दिन में संभोग

नहीं करता। सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करते ही वह मैथुन मात्र का त्याग करके मनसा-वाचा कर्मणा ब्रह्मचारी हो जाता है। वह काम कथा से भी विरक्त रहता है। सर्वथा ब्रह्म मे लीन रहने का अभ्यास करता है। परन्तु अभी उसने मोह-ममता पर लगाम नहीं लगाई है। इसीलिये वह सांसारिक काम धंधे से विलग नहीं होता—आरम्भ का त्याग नहीं करता है। किन्तु ब्रह्म में रमने का अभ्यासी होने के कारण वह दूसरे कदम पर ही मोह ममता पर लगाम लगाता और आरभ का त्यागी हो जाता है। आरंभ त्याग प्रतिमा में वह निरारम्भ होकर धर्म का पालन करता है। किन्तु इस कक्षा में वह अपने ममताभाव को सर्वथा नहीं जीत पाता और अपनी सम्पति आदि रखता ही है। परन्तु शीघ्र ही वह उसका भी त्याग करता है। परिग्रहत्याग प्रतिमा में वह वस्त्रमात्र रखकर सब प्रकार की वस्तुओं का त्याग कर देता है—उनमें ममता-भाव भी नहीं रखता है। दशवीं प्रतिमा अनुमति त्याग है, जिसमें वह त्यागी श्रावक ससार सम्बन्धी बातों मे अपनी सम्मति भी नहीं देता है—वह ससार से सर्वथा उदासीन होकर स्व-पर-उपकार करने में रस लेता है। ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को धारण करते ही वह औद्देशिक भोजन और गृह का त्याग कर देता है। खंडवस्त्र धारण करके क्षुल्लक निर्ग्रन्थ बन जाता है अथवा कोपीन (लंगोटी) लगाकर ऐलक होता है। वह मुनियों के साथ रहने लगता है और व्रताचार का पालन करता है। इस प्रकार क्रमशः संयम का पालन करता हुआ वह अपने को इस योग्य बना लेता है कि साधुपद को धारण करे। साधु अवस्था मे वह पूर्णतः अहिंसादि महाव्रतों का पालन करके मोक्ष सुख को पाता है। इस क्रम से मुमुक्षु अपनी उन्नति करने मे कठिनाई नहीं अनुभव

करता है। नग्न रहने की दुर्धर तपस्या वह इस क्रम से ही पालन करता है। जब तक वह लज्जा को जीतने की क्षमता अर्थात् पूर्ण इन्द्रियनिग्रहता नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह वस्त्र का सर्वथा त्याग नहीं करता—मुनिव्रत धारण ही नहीं करता। वस्तुत. बाह्य दिगम्बर भेषका सम्बन्ध मुमुक्षु की आभ्यन्तर दशा से है—जब वह उस दशा को प्राप्त कर लेता है कि जिसमे सोते हुए भी उसके काम विकार नहीं होता तब वह मुनिव्रत धारण करता है। उसे धारण करके मुमुक्षु फिर पीछे पग नहीं बढ़ाता। बिल्कुल प्रकृति जैसा प्रकृति का वह हो रहता है। समतारस में भीगा हुआ वह जीवमात्र का हित साधता है। यह है मुनि का असि-धारा-व्रत! सम्राट्! शक्ति को न छिपा कर मनुष्य को सम्यक्चा-रित्र धारण करना उचित है।" सम्राट् उदयन और सम्राज्ञी प्रभावती ने उन तपोधन को नमस्कार किया और उनसे उन्होंने गृहस्थ के बारहव्रत धारण किये। उदयन अब दृढ़ सम्यग्दृष्टि बन गये। सम्यक्त्व की पूर्णता आठ अंगों के विकास से स्पष्ट होती है। उदयन उनके पालने में अभ्यस्त थे। वह पूर्ण निशङ्क थे—जिनेन्द्र महावीर के वह अनन्य भक्त थे—वीर वचन में उनको जरा भी शङ्का नहीं थी। आकांक्षा को उन्होंने जीत लिया था। निर्विचिकित्सा-भाव के लिये वह जगप्रसिद्ध थे। सच्चे देव, सच्चे धर्म और सच्चे गुरु के अतिरिक्त वह किसी को अपने हृदय आसन पर नहीं बैठाते थे। 'अमूढ़दृष्टि' यही तो होती है। साधर्मियों की कमजोरियों को छिपाकर वह उनकी त्रुटियां दूर करा कर उपगूहन अंग का पालन करते थे। कदाचित् कोई सद्धर्म से विचलित होता तो वह उसे अपने धर्म में स्थितिकरण कराते थे। भव्य जीवों पर उनकी वत्सलता असीम थी—साध-र्मियों से वह गऊवत्स-वत् प्यार करते थे और धर्म की प्रभावना करने के लिये वह सदा बद्धपरिकर थे। उनकी वह कामना थी

कि जिनेन्द्र महावीर उनके नगर मे पधार कर ज्ञान वा प्रकाश फैलावे, जिससे धर्म की प्रभावना हो। यो तो उदयन इन सब अंगो को पालते थे, परन्तु निर्विचिकित्सा भाव उनका अपूर्व था—घृणा पर उन्होने विजय पा ली थी। वह लोक के पदार्थों का ठीक स्वरूप जानते थे—शरीर की दुरवस्था से वह परिचित थे—वह तो निरा अशुचिता का पिंड है, उससे राग और द्वेष ही क्या? मुमुक्षु तो समभावी होता है। अमित दया का स्रोत उसके हृदय से वहता है। सेवा धर्म का रसिक वह सत्पात्रों की वैयावृति मे विशेषत. अपने को खपा देता है वैसे साधारण रूप मे वह जीवमात्र का उपकार करता है। उदयन मे यह सब वाते थीं। भ० महावीर के भक्त वह आदर्श श्रावक थे। एक देव एक दफा उनको परखने आया। वह मुनिवेषी वन गया। उदयन और प्रभावती ने बडी भक्ति से उसे पड़गाहा और शुद्ध आहार दिया। मुनिवेषी तो उदयन की परीक्षा करने आया था उसने वमन कर दिया। उदयन ने घृणा नहीं की, वल्कि वह पश्चाताप करने लगे। आत्मशोधन की ओर उनकी दृष्टि गई। 'आहार मे क्या त्रुटि हुई जो साधु को इस व्यथा ने आ घेरा?' उदयन रह रह कर यही सोचते। मुनिभेषी देव तो परीक्षा करने पर तुला हुआ था। उसने वड़ा दुर्गधमय वमन किया—स्वयं उदयन के ऊपर ही वमन कर दिया। उस दुर्गंधि मे मनुष्य का टिकना दूभर था, परन्तु राजा-रानी निर्निमेष भाव से उस देव को सच्चा मुनि समझे हुये सेवा करने मे तत्पर थे। उन्होंने जल से मुनिराज का शरीर धोया। देव भी उदयन की धर्मपरायणता देखकर दंग रह गया। उसने अपना देव का स्वरूप प्रगट किया। उनके सेवा भाव की उसने खूब ही प्रशंसा की। ग्लानि को जीतने मे उदयन प्रसिद्ध हो गये। लोगों ने सोचा, दीनदुखी-रोगी-शोकी जीव कैसी भी दुरवस्था मे क्यों न हों उनसे घृणा नही करना चाहिये—शक्ति

के अनुसार उनके दुखों को मिटाना चाहिये और पूज्य साधु महानुभावों की तो विनय पूर्वक वैयावृत्य करना अपना सौभाग्य समझना चाहिये। भ० महावीर की शिक्षा इस प्रकार मूर्तिमान् हो उनके सामने चमक रही थी! उदयन उसके एक कर्मठ पुजारी थे।

एक दिन उदयन ने प्रोपधोपवास धारण किया था—वह एकान्तवास और धर्म चिन्तन में निमग्न थे। उनके परिणाम समताभाव और वैराग्य परिणति मे उत्तरोत्तर वृद्धि पा रहे थे। उन्होंने सोचा, 'धन्य होगा वह दिन, जब पतितपावन प्रभू महावीर इस वीतभयनगर में पधारेंगे और धन्य होगी वह वेला जब उन श्रमणोत्तम निर्ग्रन्थराज वर्द्धमान ज्ञातृपुत्र के निकट मुनि-व्रत धारण करूंगा!' उदयन की यह हार्दिक भावना थी। हृदय की लगन अकारथ नहीं जाती। उदयन की पुण्य-भावना इतनी प्रबल थी कि भ० महावीर को उसने आकर्षित कर लिया। उनका समोशरण वीतभयनगर में आया—उदयन ने राजसी स्वागत करके प्रभूको नमस्कार किया। पुत्रको राजभार सौंपना चाहा, परंतु वह पिता से भी एक कदम आगे था—उसने कहा, "मुझे नहीं चाहिये यह कांटों से भरा राजपट्ट! आत्मस्वातंत्र्य का भक्त मुझे भी बनने दीजिये, पिता!" उदयन प्रसन्न थे। अपने भानजे केसीकुमार को उन्होंने राजा बनाया और स्वयं भ० महावीर के निकट जाकर मुनि हो गये। रानी प्रभावती भी आर्यिका हो गईं। उदयन पूर्ण संयम, तप और ध्यान का आश्रय लेकर मुक्त परम आत्मा हो गये। उनका आदर्श भ० महावीर की शिक्षा का व्यवहारिक रूप स्पष्ट कर देती है—यही उनकी विशेषता है। श्रेणिक यह सब कुछ जानकर बहुत प्रसन्न हुए थे।

मङ्खलि गोशाल और पूरणकाश्यप-प्रसंग

"सिरि वीरणाहणतित्थे बहुस्सुदो पाससंघगणिसीसो ।
मक्कडि पूरण साहू अण्णाणं भासए लोए ॥"

—दर्शनसार ।

भगवान् महावीर के तीर्थ मे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के संघ के किसी गणी का शिष्य मस्करी पूरण नामक साधु था। उसने लोक मे अज्ञान मिथ्यात्व का उपदेश दिया। श्री देवसेनाचार्यजी ने उपर्युक्त गाथा मे यही व्यक्त किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जब भ० महावीर सर्वज्ञ हो गये तब मस्करिपूरण इस आकांक्षा से उनके समवशरण मे पहुँचा कि उसे गणधर पद प्राप्त होवे, परन्तु उसको हताश होना पड़ा। वह रुष्ट होकर श्रावस्ती चला गया और वहाँ आजीविक सम्प्रदाय का नेता बन गया—लोगों मे उसने अपने को तीर्थंकर प्रगट किया। यह प्रसंग भ० महावीर के धर्म प्रचार से पहले का है। उपरान्त यह पता नहीं चलता कि धर्म-विहार में उनका साक्षात् मस्करि से हुआ हो! जो स्वयं अभिमान और मिथ्यात्व का पुतला बन गया हो, उसका यह सौभाग्य कहाँ कि वह तीर्थंकर भगवान् की निकटता प्राप्त करे? भगवान् के समवशरण मे प्राय: भव्य जीव ही प्राप्त होकर अपना आत्मकल्याण करते हैं—जिनका मिथ्यात्व क्षीण हो चला हो वह भी सर्वज्ञ प्रभ के सत्यपरक आलोकमें आ जाते हैं। भ० महावीर का विहार तो जीवमात्र के कल्याण के लिये हो रहा था।

श्वेताम्बरीय शास्त्र "भगवती सूत्र" में मङ्खलि पुत्र गोशाल का वर्णन है। उसमें लिखा है कि कोल्लग में जब भ० महावीर छद्मस्थावस्था में विचर रहे थे, तब उन्होंने गोशाल की प्रार्थना स्वीकार करके उसे अपना शिष्य बनाया। महावीर और गोशाल साथ २ छै वर्ष तक पणिअभूमि में रहे।[१] किन्तु श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' में भ० महावीर पणियभूमि में केवल एक वर्ष रहे लिखे हैं।[२] उधर उनके 'आचाराङ्गसूत्र' में लिखा है कि भगवान छद्मस्थदशा में बोलते नहीं थे—मौन का अभ्यास करते थे।[३] अतएव यह जी को नहीं लगता कि भ० महावीर ने गुरुपद प्राप्त करने के पहले ही मङ्खलिगोशाल को अपना शिष्य बना लिया हो, सचमुच 'गोशाल' को भ० महावीर का शिष्यत्व पाने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ।[४]

दिगम्बरीय शास्त्रों के मस्करिपूरण और श्वेताम्बरीय मङ्खलि-गोशाल नाम एक व्यक्ति के द्योतक हैं, क्योंकि दोनों संप्रदायोंके शास्त्रों में उन्हे आजीविक मत के नेता लिखा है। गोशाल के सिद्धान्त भी प्राय दोनों शास्त्रों में एक-से मिलते हैं। दिगम्बराचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने मस्करिके मत की गणना 'अज्ञानमत' में की है।× यही बात श्वेताम्बरीय 'सूत्रकृताङ्ग' (२।१।३४५) में भी लिखी है। बौद्धग्रन्थ 'सामञ्ञफल सुत्त' में गोशालका मत इस ढंग का ही निर्दिष्ट किया है। उसमें लिखा है कि 'अज्ञानी और ज्ञानी-संसार में भ्रमण करते हुये समान रीति से दु:खका अन्त करते हैं।'※ बौद्धों ने मङ्खलिगोशाल की

---

१. भगवतीसूत्र १५   २. कल्पसूत्र १२२

३. आसू. JS.I, pp 80-87

४. डॉ० बारुआ भी स्वाधीनरूप में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

× गोम्मटसार देखो।   ※ दीनि० भा० २ पृ० २३-२४

गणना छै मुख्य धर्मप्रवर्तकों मे की है। उनके अनुसार मस्करि (मङ्खलि) गोशाल और पूरण काश्यप दो भिन्न व्यक्ति थे। किन्तु बौद्धग्रन्थ "अङ्गुत्तरनिकाय" मे पूरण को गोशाल का शिष्य-सा प्रगट किया है और उसके छै अभिजात सिद्धांत को पूरण का बतलाया है।१ संभव है कि सिद्धान्तों के सादृश्य को पाकर दोनों मतप्रवर्तकों ने उपरान्त आपस मे समझौता कर लिया हो। यही कारण है कि देवसेनाचार्य मस्करि और पूरण का एक साथ उल्लेख कर रहे है।

जो हो, भ० महावीर से इन मत प्रवर्तकों का विशेष सम्पर्क रहा प्रतीत नहीं होता। वे दोनों ही अपने आजीविक सम्प्रदाय का प्रचार करने मे जुट गये थे और कुछ सफल भी हुये थे। किन्तु जिस समय भ० महावीर का धर्मप्रचार हुआ तो आजीविक–श्रावक वस्तुस्थिति से परिचित होकर जिनेन्द्र की शरण मे आये। अधिकांश आजीविक जैनी हो गये और जो बच रहे थे वह भी कई शतियों के पश्चात् दि० जैन सघ मे अन्तर्हित हो गये। मूलत. उनका निकास जैनधर्म से हुआ भी था। आजीविक नेता मस्करि गोशाल और पूरण जैनमुनि तो थे ही, परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्त भी जैनों के 'पूर्व' नामक अङ्गग्रन्थों से लिये थे।२ आजीविक साधुओं का नग्नभेष, सल्लेखनाव्रत के सदृश नियम आदि बाते जैनियों के समान ही थीं। उनका 'आजीविक' नाम भी उनका मूलत. जैन होने का द्योतक है, क्योंकि जैनसाधु के लिए 'आजीवो' नामक दोष अर्थात् किसी प्रकार की आजीविका करने से विलग रहने का उपदेश है।३

---

१ अनि० भा० ३ पृ० ३८३ २ संजैइ०, भा० २ खंड १ पृ० ६७—७१

३ 'धादीदूदनिमित्ते आजीवो वणिवगेद्दयादि।'—मूलाचार।

आजीविक भिक्षु मंत्र एवं ज्योतिष विद्याओं के सहारे आजीविका भी कर लेते थे,४ यह बात कई उल्लेखों से स्पष्ट है। इस प्रकार वह भ्रष्ट जैन साधु प्रतीत होते है।

मक्खलि गोशाल और पूरणकाश्यप भ० महावीर से आयु में अधिक थे और उनके सर्वज्ञ होकर धर्मप्रचार करने के पहले से ही अपने २ मतों का प्रचार करने लगे थे। इस प्रकार आजीविकों ने जिस जैन साहित्य और जैनधर्म से अपने सिद्धान्त निर्माण में सहायता ली थी, वे भ० महावीर से प्राचीन थे। जैनशास्त्र स्पष्टत: मक्खलि गोशाल और पूरण को भ० पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा से सम्बन्धित बतलाते हैं। ऐसी सूरत मे उनपर भ० महावीर के उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ सकता, अलबत्ता उनके साधक जीवन के प्रयोगों का मूक-प्रभाव उन पर पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि भ० महावीर ने 'नग्नत्व' (दिगम्बर भेष) आजीविक नेता मक्खलि गोशाल के अनुरूप धारण किया था, परन्तु ऐसे विचारक यह भूल जाते हैं कि तीर्थङ्कर-परम्परा में दिगम्बरभेष सर्वमान्य रहा है—'नग्नत्व' ही 'जिनकल्प' हैं। उस पर जिस समय मक्खलिगोशाल साधक महावीर के पास पहुँचा था उस समय वह वस्त्र पहने हुये था और भगवान् के शरीर पर वह 'देवदूष्य' वस्त्र भी नहीं था, जिसकी कल्पना श्वेताम्बरीय शास्त्रों में की गई है।१ इस दशा मे भ० महावीर गोशाल की नकल करके कैसे दिगम्बरत्व धारण करते? वह तो पहले से ही दिगम्बर मुनि थे। कतिपय आजीविक सिद्धान्तों का मेल भ० महावीर के धर्म से इसीलिये दिखता है कि मूलत. इन मत प्रवर्तकों ने प्राचीन जैनधर्मसे अपने सिद्धान्तों

---

४ प्रो० बारुआ कृत 'आजीविस' भा० १ पृ० ६७—६८

१ उवासग दसाओ, हार्नले संस्करण, परिशिष्ट पृ० २

के निरूपण में सहायता ली थी।४ अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि मंखलि गोशाल की मान्यताओं का प्रभाव भ० महावीर पर पड़ा था।

---

४ "The Digambaras appear to have been regarded as an old order of ascetics and all of these heretical teachers betray the influence of Jainism in their doctrines".—Indian Antiquary, Vol. IX page 161.

"The preceding four Tirthankaro (Mankhali Goshal, Purna Kassapa & others) appear all to have adopted some or other doctrines or practices of the Jaina system, probably from the Jains themselves ....It appears from the preceding remarks that Jain ideas and practices must have been current at the time of Mahavira and independently of him. This combined with other arguments, leads us to the opinion that the Nirgranthas (Jainas) were really in existence long before Mahavira, who was the reformer of the already existing sect."—Prof. Hermann Jacobi, Indian Antiquary IX 162.

भ० महावीर और म० गौतम बुद्ध

'सिरि पासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तिमुणी ॥६॥
तिमिपूरणासणेहि अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्ठो ।
रत्तंवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥७॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय दुद्ध-सक्करए ।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥८॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं ।
इदिलोए घोसित्तो पवट्टियं सव्व सावज्जं ॥९॥
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं ।
परि कप्पिऊणं णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥१०॥

—दर्शनसार

भ० महावीर के समकालीन प्रसिद्ध पुरुषों मे शाक्य श्रमण गौतम बुद्ध का नाम उल्लेखनीय है। जैन प्रसग में वह इसलिये और भी महत्व का है कि कहीं २ लोग गौतम बुद्ध को भगवान महावीर से अभिन्न समझते हैं और जैन धर्म को वौद्धधर्म की ही शाखा समझने की गलती करते हैं। निस्सन्देह आज दुनिया मे वौद्ध धर्मानुयायियों की संख्या अत्यधिक होने से म० गौतमबुद्ध

का नाम विश्वविख्यात है—चीन और जापान जैसे बड़े राज्य आज उनके भक्त है। किन्तु एक समय भ० महावीर के भक्त भी अगणित बड़े २ राजा-महाराजा थे। उन राष्ट्रों के दैनिक मनुष्य जीवन की तुलना यदि परस्पर की जावे तो जैन धर्म और बौद्ध धर्म की मान्यताओं का अन्तर स्पष्ट हो जावे। आज चीनी और जापानी बौद्ध होते हुये भी आमिषभोजी है, परन्तु संसार मे कोई भी जैनी आमिष भोजी नहीं मिलेग --जैनी पूर्ण शाकाहारी है। इसी से जैन और बौद्ध मतो का मतभेद स्पष्ट हो जाता है। यथार्थतः जैन और बौद्ध दो पृथक और स्वतंत्र मत थे। बौद्धधर्म की स्थापना शाक्यपुत्र गौतम ने की, परन्तु जैन धर्म तो उससे बहुत पहले से प्रचलित था। अतः दोनों मत एक नहीं हो सकते—न वह एक थे और न अब है।

महावीर और गौतम यह दोनों पृथक नाम है। दोनों क्षत्रिय पुत्र अवश्य थे, परन्तु एक थे इक्ष्वाकुवंशी ज्ञातृपुत्र और दूसरे कपिलवस्तु के शाक्य पुत्र! भ० महावीर का जन्म कुण्डग्राम मे हुआ, जबकि गौतम लुम्बनिवन मे जन्मे थे। गौतम की माता उनके जन्मते ही स्वर्गवासी हो गई थीं, परन्तु ज्ञातृपुत्र महावीर की माता उनके वैराग्य तक जीवित रहीं थीं। गौतम के पिता शाक्यनृपति शुद्धोदन थे—महावीर के पिता नृप सिद्धार्थ थे। भ० महावीर ने विवाह नहीं किया-वह बाल ब्रह्मचारी रहे। इसके विपरीत गौतम शाक्यपुत्र का यशोदा नामक राजकुमारी के साथ विवाह हुआ, जिनसे उन्हे राहुल नाम का पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। भ० महावीर के वैराग्य का कारण जरा और मरण के भयानक दृश्य नहीं बल्कि ससार स्वरूप की यथार्थ दृष्टि और लोक कल्याण की पुनीत भावना थी। गौतम जरा से जर्जरित वृद्ध को मृत्यु के मुख मे पड़ता देखकर भयभीत हो जाते है और सत्य की खोज मे चुपचाप रात को निकल जाते है।

महावीर वर्द्धमान यह लुकाछिपी नहीं करते। वह अपने कर्त्तव्य को चीन्हते हैं और स्पष्टरूप में अपने गृहत्याग करने का निश्चय घोषित करते हैं—मातापिता के मोहपाश को जर्जरित करके वह निशङ्क वीर उसी प्रकार वन का रास्ता लेते हैं जिस प्रकार एक कर्मठ योद्धा रणक्षेत्र के लिये पयान करता है। वह जैन मुनि की नियमित साधना में निमग्न हो जाते हैं—भटकते नहीं। निश्चल साधना करके सत्य प्रकाश को पाते हैं। म० गौतम बुद्ध घर से निकल कर एक नहीं अनेक साधुओं की संगति करते हैं—वह जिज्ञासु बने अनियमित रूप में इधर से उधर सत्य को ढूंढते हैं। वह दिगम्बर मुनि का कठोर जीवन भी बिताते हैं। परन्तु तपश्चरण के काठिन्य से घबड़ा जाते हैं। उनको विश्वास हो जाता है कि "इन कठिनाइयों से परिपूर्ण असह्य मार्ग द्वारा मैं उस अनूठे और उत्कृष्ट पूर्णज्ञान को, जिसे मानवबुद्धि समझती नहीं प्राप्त नहीं कर पाऊँगा। क्या यह सम्भव नहीं कि इसके प्राप्त करने का कोई अन्य मार्ग हो? दुख बुरा है। अति (Excess) दुख है। तप एक अति है—इसलिये दुखवर्द्धक है। उसके सहन करने में कोई लाभ नहीं।" ❀ किन्तु गौतम यह भूल गये कि वास्तव में प्रबल इच्छा बुरी है और नियमित जीवन का अभाव और भी बुरा है। गृहस्थाश्रम की साधना केवल विवाह कर लेने में नहीं है, बल्कि उसकी साधना तो संयम एवं अन्तः ब्रह्मचर्य पालन करने में अन्तर्निहित है। कुमार महावीर वर्द्धमान ने गृहस्थाश्रम में साधना की थी—श्रावक के बारह व्रतों को उन्होंने पाला था। इस नियमित अभ्यास से वह इच्छा-राक्षसी को परास्त करने में सफल हुए थे। शैलशिखर पर पहुँचने के लिये सीढ़ी की

❀ ERE, II, p. 70

आवश्यकता होती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अभाव मे कोरी तपस्या दुख ही सिरजती है। जैन जीवन मे अज्ञान क्रिया का निषेध है और शक्ति से अधिक चारित्र न पालने के लिये भी मुमुक्षु सावधान कर दिया गया है। किन्तु गौतम ने शायद इस ओर ध्यान नहीं दिया। वह शरीर के मोह मे फँस गये और आराम से नया मार्ग ढूँढने में लगे। जैनग्रन्थ 'दर्शन-सार' में जिन बुद्धकीर्ति मुनि का उल्लेख है वह गौतमबुद्ध का ही द्योतक है। उसमें लिखा है कि "श्री पार्श्वनाथ के तीर्थ मे सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर मे पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो महाश्रुत अर्थात् बड़ाभारी शास्त्रज्ञ था। मुर्दा मछलियों के आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भृष्ट हो गया और रक्ताम्बर धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की। फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मास मे भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नहीं है। जिस प्रकार जल एक द्रव्य अर्थात् तरल पदार्थ है, उसी प्रकार शराब है वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकार की घोषणा करके उसने ससार मे सम्पूर्ण पापकर्म की परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, इसतरह के सिद्धान्त की कल्पना करके और उससे लोगों को वश मे करके—अपने अनुयायी बनाकर वह मरा।" इस उद्धरण मे देवसेनाचार्य ने देखी और सुनी बातें लिखी हैं। उन्होंने अपने समय के बौद्धश्रमणों मे जैसे आचारनियम प्रचलित देखे उनका उल्लेख इस ढग से किया कि मूलतः उनका प्रचार गौतमबुद्ध के द्वारा हुआ समझा जावे। बौद्धग्रन्थ 'विनयपिटक' ❀ के उल्लेखों से इस बात का समर्थन

❀ महावग्ग (६।२३।२) में भिक्षु के मांस खाने का उल्लेख

होता है कि गौतम बुद्ध के निकट मृतमांस और मछली निषिद्ध और अभक्ष्य नहीं थे। वैसे बौद्ध सूत्र 'लङ्कावतार' में अहिंसा का विधान है, परन्तु वह उपरान्त का सुधार समझा जाता है। मध्यकालीन भारत में तान्त्रिक प्रभाव के वशीभूत होकर बौद्ध भिक्षु मांस-मदिरा की वासना में बह गये थे। यही कारण प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन बुद्धकीर्ति द्वारा मृत मछली-मांस और मदिरा सेवन का आदेश रक्ताम्बर धारण करने वाले बौद्ध भिक्षुओं को दिया गया प्रगट करते हैं। गौतमबुद्ध के क्षणिक-वाद की ओर भी वह इशारा करते हैं। उस पर, यह तो स्वयं गौतम बुद्ध ने कहा है कि बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले अपने पूर्व जीवन में उन्होंने नग्न रहने, सिर के बाल नोंचने और खड़े २ एकबार दिन में भोजन करने की क्रियाओं का अभ्यास किया था।[१] यह क्रियायें जैन मुनिचर्या में अग्रगण्य हैं। बुद्ध जीवन में जो इस समय का वर्णन मिलता है, उसका साम्य देवसेनजी के वर्णन से है।[२] अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि म० गौतम बुद्ध एक समय दि० जैन मुनि भी रहे थे। यही नहीं, उनके प्रमुख शिष्य मौद्‌गलायन (मौडलायन) भी पहले श्री पार्श्वनाथ जी की तीर्थ परम्परा के साधु थे।[३] यही कारण है कि जैन और

है। (VT. p. 80) उसी में नवशैक्षिन मन्त्री द्वारा म० बुद्ध और १२५० भिक्षुओं को मांस भोजन कराया लिखा है। (६। २५। २) page 90. 'महावग्ग (६। ३१। १४) में मछली खाने का विधान है यदि वह भिक्षु को उद्देश्य करके न पकड़ी गई हो।—.p. 117

१ Discourses of Gautama Budha (Saunder's Gautama Budha page 15).

२ भमबु०, पृ० ४८—५२

३ 'रुष्ट. श्री वीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः।

बौद्ध शास्त्रों के वाक्यों में बहुत सादृश्य मिलता है। दोनों ही मत ईश्वर कर्तृत्ववाद, जन्मतः वर्णगत ऊँच-नीच के मद (घमंड) पशु वलिदान और जीव हिंसा करने का निषेध करते हैं। परन्तु इस साम्य के साथ ही दोनों ही मतप्रवर्त्तकों की उपदेश शैली और तत्वनिरूपण भिन्न है। गौतमबुद्ध आत्मा, लोक और परलोक के विषय मे एक स्पष्ट मत नहीं देते—वह उन्हे 'अव्यक्तानि' कह कर टाल देते हैं।[1] कहीं आत्मा और परलोक का अस्तित्व मान लेते हैं और कहीं पानी के फेन की तरह उसे क्षणभंगुर बताते हैं। यदि वह नयवाद का आश्रय लेकर यह कथन करते तो विरोध न भासता, क्योंकि ऋजसूत्रनय की अपेक्षा द्रव्य का निरूपण समयवर्ती है। द्रव्य मे परिवर्तन प्रति समय होता रहता है—यदि इस अपेक्षा से द्रव्य को क्षणवर्ती कहा जाय तो वेजा नहीं है। किन्तु गौतम वुद्ध ने इस प्रकार के नयवाद का निरूपण नहीं किया था। जब उन्हे वालतप से अरुचि हो गई—जो होना ही चाहिये थी, तब वह एक दूसरा ही सुखमार्ग ढूंढने लगे। वोधिवृक्ष तले उन्होंने वैसा 'मध्यमार्ग' ढूंढ लिया—वह ब्राह्मणों के क्रियाकाण्ड और जैनों के कठोर संयमी जीवन के वीच एक प्रकार का राजीनामा था। साधुओं से उन्होंने कहा, 'दिगम्बर भेष धारण करने की जरूरत नहीं—शरीर से विल्कुल विरक्त न हो कर उसकी सार-सभाल रक्खो—उसे वस्त्रों से ढको, तैल मर्दन करो, अच्छा भोजन दो।' इस प्रकार के सरल साधु-जीवन द्वारा जब परम सुख मिलता

शिष्य. श्री पार्श्वनाथस्य विदधे वुद्ध दर्शनम् ॥६॥
शुद्धोदन सुतं वुद्धं परमात्मानमब्रवीत्।' श्री अमितगति व श्रमनु०, पृ० २२

१ डॉयलॉग्स ऑव़ दी वुद्ध (S. B. B. Vol. II) पृ० २५४

हो तो कोई क्यों संयमी जीवन की कठिनाई को मोल ले ? इस पर म० गौतमबुद्ध की मीठी वाणी और मोहक मुखाकृति ने जनता को मोह लिया था। लोग मंत्रमुग्ध हुए उनके उपदेश को ग्रहण करते थे—तर्क सिद्धान्त को वहाँ गुंजाइश नहीं थी।

एक खास बात इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य यह है कि यद्यपि भ० महावीर और शाक्यमुनि गौतम समकालीन थे, परन्तु उनका कभी परस्पर साक्षात नहीं हुआ। म० बुद्ध ने कभी जैन तीर्थङ्कर से मिलने का प्रयत्न नहीं किया और न उन्होंने कभी महावीर जी की तीव्र आलोचना की, प्रत्युत बौद्ध शास्त्रों मे कई स्थलों पर स्पष्ट कहा गया है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र को लोग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहते हैं—वह सम्माननीय तत्त्ववेत्ता हैं।[1] निस्सन्देह महावीर अपनी नियमित और वैज्ञानिक साधना का मीठा फल पूर्ण ज्ञान पाने मे सफल हुए थे। इसलिए नहीं कि उन्हे उसको पाने की म० बुद्ध की तरह तीव्र आकांक्षा थी—वह आकांक्षा से परे थे। उदासीन भाव से उन्हों ने मौन साध कर तपस्या की। मनोविज्ञान के आधार से जीवन के दाव-पेचों का अध्ययन किया और आत्मिक विज्ञान का वह शुद्ध रूप प्रकट किया जिसमे कर्ममल सर्वथा धुल जाता है—आत्मा पूर्णज्ञान की पुनीत प्रभा प्रकट करता है। फलतः महावीर वर्द्धमान त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ हुए। बौद्ध भी शाक्यसिंह गौतम को सर्वज्ञ कहते हैं, परन्तु वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि म० बुद्ध की सर्वज्ञता हर समय उनके साथ नहीं रहती थी—वह जब जिस बात को जानना चाहते थे तब उस बात को ध्यान से जान लेते थे।[2] जैनदृष्टि से उनका यह ज्ञान पूर्णज्ञान न हो कर अवधिज्ञान प्रगट होता है। पूर्णज्ञानी धर्मतत्व का

---

१. भमबु० पृ०   २ मिलिन्द-पण्ह (SBE) भा० ३५ पृ० १५४

निरूपण वैज्ञानिक रीति से करेगा। वह किसी भी विषय को 'अव्यक्त' कहकर टालेगा नहीं।

सचमुच तीर्थङ्कर भगवान् के जीवन में केवलज्ञान प्राप्ति की घटना अपूर्व है। सामान्य बुद्धि शायद उसका महत्व न आँक सके! किन्तु जो विचक्षण मनीषी है और बाल-रवि के अरुणोदय में दिव्य-दर्शन पाते है, वह समझ सकते हैं ज्ञानसूर्य के प्रभावक उदय का महत्व। भ० महावीर के महान् व्यक्तित्व मे वह ज्ञानसूर्य प्रगट हुआ जिसके दर्शन पाने के लिये बड़े २ योगी लालायित रहते है! आत्मा के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन गुण इसी समय प्रकाशमान होते है, जो अव्यय आत्माल्हाद के पूरक बनते है। वे कृतकृत्य महायोगिराट् स्वयं सुखी होते है और लोक को सुख वितरण करते हैं। यही कारण है कि कैवल्यपद पाते ही तीर्थंकर महावीर सर्वमान्य हो गये। बौद्धग्रन्थ 'संयुत्त निकाय' (भा० २ पृ० ६४) में महावीर प्रभू का यह विशेष प्रभाव स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है। महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन पर भ० महावीर की सर्वज्ञ दशा का इतना प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है कि भ० महावीर के धर्मप्रचार करते रहने तक कर्मक्षेत्र में उनके दर्शन कठिनता से मिलते हैं। यही अवसर है कि बौद्ध संघ मे विद्रोह के बीज उगने लगे थे। कोई बौद्ध भिक्षु साधुत्व के लिये नाग्न्य (दिगम्बरत्व) को आवश्यक समझ कर नग्न रहने लगे, तो कोई मांस-मछली का निषेध करने लगे थे।[१] म० गौतमबुद्ध के ५० से ७० वर्ष की मध्यवर्ती

---

१. 'महावग्ग' (८। २८) में लिखा है कि उस समय कुछ बौद्ध भिक्षु नग्न भेष में उनके पास आये और नाग्न्य (Nakedness) की प्रशंसा और महत्ता बताने लगे। बुद्ध ने इसका निषेध किया और कहा कि तीर्थंकरों की तरह नग्न नहीं रहना चाहिये। कुछ भिक्षु

जीवन घटनाओं का उल्लेख नहीं के बराबर मिलता है—यह काल प्राय. घटनाओं के उल्लेख से कोरा है।[१] इस अभाव का कारण भ० महावीर के धर्मप्रचार का प्रभाव है। बौद्ध ग्रन्थ 'सामगामसुत्तन्त' में एक प्रसंग इस अनुमान को पुष्ट करता है। उसमें लिखा है कि पावा में भ० महावीर के मोक्षगमन की वार्ता जब म० बुद्ध के शिष्य आनन्द ने सुनी तो वह खूब हर्षित हुए और बड़ी उत्सुकता से यह समाचार सुनाने के लिये म० बुद्ध के पास दौड़े गये। बौद्धभिक्षु आनन्द का यह हर्षभाव और उत्कण्ठा इस बात का द्योतक है कि बौद्ध समुदाय में भ० महावीर का अस्तित्व आतङ्क लाये हुए था। अवश्य ही बौद्ध सघ को भ० महावीर के धर्म प्रचार से हानि उठानी पड़ी थी। इसीलिये आनन्द प्रसन्न हुए कि मार्ग की एक बाधा दूर हुई!

बुद्धदेव को यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य पूर्ण ज्ञानी बनने की शक्ति रखता है। और उन्हे यह भी विश्वास था कि पूर्णज्ञानी बने बिना लोक का सच्चा हित कोई नहीं साध सकता। उन्हें पूर्ण ज्ञानी बनने की तीव्र इच्छा थी और चमकते हुये शब्दों में उन्होंने कहा था कि वह सर्वव्यापी श्रेष्ठ आर्य ज्ञानका महान् और विविक्त दर्शन है जो मनुष्यकी समझ मे नहीं आ सकता, इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने अपना मध्यमार्ग प्रगट

हाथ में भोजन करने लगे और कुछ तूंबी वा कमंडल रखने लगे। बुद्ध ने इनका भी निषेध किया। (VT. p. 245) देवदत्त ने भिक्षुओं को वन में रहने, मांस न खाने और अधिक संयमी जीवन बिताने पर जोर दिया था। (Ibid p.p. 324—325 & Saunders, GB., pp. 72—73)

१. विशप बिगनडेट सा० ने इस काल को (An almost complete blank) लिखा है।

किया। वुद्धदेव की यह दृढ़ता जैन तीर्थङ्कर के महान् व्यक्तित्व मे चमकते हुये ज्ञानसूर्य की ऋणी थी—जिनेन्द्र के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दर्शन से ही इस प्रकार की प्रशस्त आकाङ्क्षा सुदृढ़ वनती है। म० वुद्ध ने कई दफा निर्ग्रन्थ साधुओं से वातचीत की थी और उनके मुखसे उन्होंने सुना था कि निर्ग्रन्थराट् ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। उन्हे भी उस आर्यज्ञान को पाने को लालसा हुई और अपने ढंग से उन्होंने अपनी मनःतुष्टि कर ली। उस ज्ञान को पाने के लिये उन्होंने कड़े से कड़ा तपश्चरण वर्षों किया—क्षीण शरीर होने पर भी उन्होंने अपने प्रयत्न को नही छोड़ा। जैनतीर्थङ्कर के अतिरिक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसका दृष्टांत वुद्धदेव के दिल पर इतना प्रबल प्रभाव डालता। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ जी की परम्परा से उन्होंने जैनधर्म के इस दावे का प्रत्यक्ष अनुभव पाया था कि प्राणी पूर्णज्ञानी—सर्वज्ञ हो सकता है। तीर्थङ्कर महावीर के जीवन मे वह पूर्ण ज्ञान-सूर्य उदय हुआ ही था। अतः स्वयं वुद्धदेव और उनके सघ पर भ० महावीर का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था म० वुद्ध ने 'विनयपिटक' मे कई नियमों का विधान तीर्थकों-मुख्यतः जैनियों के अनुरूप किया लिखा है। उदाहरणत. अष्टमी-चतुर्दशी को संघ सम्मेलन और उपदेश करना, वर्षा ऋतु मनाना, जीवों की रक्षा करना, वर्षा ऋतु के अन्त मे आलोचना करना जो 'पवारना' कहलाती थी।[१] वर्षा ऋतु मनाने का प्रसंग जैन प्रभाव को खूब व्यक्त करता है। पाठक, उसे जरा देखिये। 'महावग्ग' (३। १। २) में लिखा है कि वौद्ध भिक्षु वर्षा ऋतु नही मनाते थे। वर्षा मे भी इधर उधर चलते फिरते थे। जनता को यह व्यवहार अखरा। लोग कहने लगे, 'यह

१, VT. (SBE XIII), p. -

शाक्यपुत्तियभिक्षु कैसे हैं जो शीत और ग्रीष्म कालोंकी तरह वर्षाऋतु में भी गमनागमन करते है ? वह नये किलों को पैरों तले रौंदते हैं, वनस्पतिकाय जीवों की विराधना करते हैं, अनन्त सूक्ष्म जीवों के प्राणों का व्यपरोपण करते हैं। तीर्थक श्रमण इस ऋतु मे एकान्तवास करते हैं—उनका गमनागमन सीमित हो जाता है।'[1] बुद्धदेव जब इस बात को जानते हैं तो वर्षा ऋतु पालने का नियम बना देते हैं। इस उद्धरण में हरितकाय, वनस्पति और सम्मूर्छन जीवों की विराधना का उल्लेख महत्व-शाली है। जैनसिद्धान्त मे इनका उल्लेख है और जैनी इनकी रक्षा का पूरा ध्यान रखता है। 'हरी' (हरित्काय) न खाने का नियम जैनियों के छोटे बच्चे भी करते हैं। इस प्रकार के उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय जनता मे जैनधर्म के सिद्धान्त विशेप प्रचलित थे और उनका प्रभाव बौद्धसंघ पर पड़ा था।

भ० महावीर का निर्वाण म० गौतमबुद्ध के जीवनकाल मे हुआ था—बुद्धदेव भगवान् के निर्वाण के पश्चात् सभवत दो से पाच वर्ष तक जीवित रहे थे। बौद्ध ग्रथों में स्पष्ट लिखा है कि जब बुद्धदेव तथागत शाक्यभूमि को जा रहे थे, तब उन्होंने जाना था कि पावा मे ज्ञातपुत्र महावीर का निर्वाण हो गया था। इस प्रकार भ० गौतम बुद्ध का सम्बन्ध भ० महावीर से स्पष्ट होता है। बुद्धदेव बौद्ध धर्म के सस्थापक हुये, जबकि भ० महावीर प्राचीन तीर्थङ्कर परम्परा के अन्तिम रत्न थे—उन्होंने जैनधर्म की स्थापना नहीं की, बल्कि उसका पुनरुत्थान किया। उनके धर्मोपदेश एव प्राचीन निर्ग्रन्थ परम्परा से म० बुद्ध ने बहुत कुछ लिया—यही कारण है कि उनके वाक्यों में जैन-सिद्धातों की झलक दिखती है।

★

---

१. Vinaya Texts (SBE. XIII) pp 239—298

भगवान् का मोक्षलाभ और निर्वाण-धाम।

'त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशय प्रणामामहितः।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरण ज्योतिरुज्वलद्धामहितः॥'

—श्रीसमन्तभद्राचार्य.।

'हे वीर' तुम सुरासुरों से वन्दित हो और हो परिग्रह आदि ग्रन्थियों से रहित, उस पर भी लोक के परम हितू हो और निरावरण ज्योति अर्थात् चायक ज्ञान (केवलज्ञान) से प्रकाशमान उज्ज्वलधाम-मोक्षस्थान को प्राप्त होने वाले हो।' निस्सन्देह श्री समन्तभद्राचार्यजी ने इन शब्दों में ठीक निर्देश किया है। तीर्थंकर भगवान् के दिव्य जीवन मे पंच कल्याणक सुअवसर अनुपम है। मोक्षकल्याणक उनमें सर्व अन्तिम है। यह अवसर व्यक्तिगत दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इस अवसर पर ही पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्य व्यक्त होता है—व्यक्ति शरीर के कैदखाने से मुक्ति पाता है—उसके वन्धन हमेशा के लिये टूट जाते है। भ० महावीर धर्मामृत वर्षा करके कृतकृत्य हो चुके थे। उनको सिर्फ शरीर वन्धन से मुक्त होना शेप था—वह सर्वज्ञ थे, इसलिये आयु कर्म के अवसान पर उनकी मुक्ति निश्चित थी। इस सुअवसर पर उनकी आत्मा ने संसार परिभ्रमण का अन्त हमेशा के लिये कर लिया। उन्होंने सिद्ध परमात्मा के दिव्य जीवन का श्रीगणेश किया—महती आत्मपुरुपार्थ की शाश्वत अभिव्यक्ति का सुअवसर उन्हे नसीव हुआ। सिद्धावस्था की विशुद्धता, विज्ञानता, अव्यावाधिता और आत्माल्हादिता का उपभोग करने के लिये वह समर्थ हुये। परमसुख-भोग, अविछिन्न शान्ति एवं अनन्त वीर्य पराक्रम का आनन्द वहाँ

ही है। वह आनन्द अनुभव अतीन्द्रिय है—इसलिये कहने सुनने का विषय नहीं है। समाधिलीन योगी ही उसका रसास्वादन करते हैं।

यूँ तो संसार में सब ही प्राणियों का भौतिक जीवन एक दिन समाप्त होता है, परन्तु वह समाप्ति एक अन्य संसारी जीवन का आरम्भ होती है—संसारी जीव के लिये चतुर्गति परिभ्रमण करना अनिवार्य है। किन्तु भ० महावीर के संसारी जीवन का अन्त विशिष्ट था—वह 'फिर संसार में न आने के लिये हुआ था।' उसमें जन्म-मरण के पाश कट गये, जो भवभ्रमण के कारण हैं। यही कारण है कि हम और आप कहते हैं कि 'भगवान ने मोक्षलाभ' किया।

भ० महावीर गणधर आदि चतुर्विधि संघ के साथ विहार करते हुये एक अच्छे से दिन विहार प्रान्त के अन्तर्गत पावा नामक स्थान पर पहुँचे। वह मनोरम स्थान प्रकृति सुलभ छटा से युक्त था। वहाँ स्वच्छ सलिल सरोवर नयनाभिराम था। उसके मध्य सर्व वनराशि सम्पन्न सुगंधित समीरण से संवाहित एक भूमिस्थल था। वह राज्य उपवन था—'मनोहर' उसका सार्थक नाम था। भगवान् उसके मध्य एक वृक्ष के नीचे विराजमान हुये।

पावा के राजा हस्तिपाल ने भगवान् के शुभागमन की शुभवार्ता सुनी—वह हर्षातिरेक में थिरकने लगे। इस सुअवसर की वह बाट जोह रहे थे। उन्होंने नगर में आनन्दभेरी दिलाई—समस्त पुरवासी आनन्द विभोर हो वीर वन्दना के लिये उत्सुक हो राज्योद्यान को गये। पावा के राजमार्ग स्वच्छ और शोभा से खिल उठे थे—वहाँ की गलियों में गुलाबजल छिड़का गया था। राज मंदिरों, भव्य भवनों और वृक्षों तक पर रंगबिरंगी पताकायें एवं दीपमालिकायें लटकाई गई थीं। बहुमूल्य वस्त्रा-

भूषणों से सुसज्जित राजपरिवार ने अपनी प्रजा के साथ भक्ति-प्लावित हृदय से भगवान् की वन्दना की। उनसे अन्तिम धर्मोपदेश सुना और अपने को कृतकृत्य हुआ माना। अतः भगवान् ने सभा को छोड़ दिया— उनका समवशरण विघट गया। वह एकान्त मे शुक्लध्यान की परिपूर्णता मे निमग्न हो गये! उन्होंने योगनिरोध दिया–निश्चल कायोत्सर्ग अवस्था मे वह लीन रहे। वह सदेह ध्यान ही वहाँ खड़े थे।

भगवान् का उत्कृष्ट आत्म-प्रभाव चहुँ ओर व्याप्त था। सब ही प्राणी परम समताभाव का अनुभव कर रहे थे—उन्हें सुख और शान्ति का आनन्द मिल रहा था, सब ही वैर-विरोध विसार चुके थे। सिंह और हिरण भी साथ २ घूम रहे थे। प्रकृति ने नवलरूप धारण करके अपना उल्लास प्रकट किया था। पृथ्वी ने हरी २ घास और रंगविरंगे फूलों को धारण करके मानों भगवान् के चरणों की पूजा की थी। चहुँ ओर सुवासित मन्द पवन चल रहा था। वह स्थान "जय-जय" की ध्वनि से गूंज रहा था। सारांशतः सुन्दर वनोपवन और आनन्दविह्वल मनुष्यों से वेष्टित पावापुरी साक्षात् अमरावती का भान करा रही थी।

निर्मल परमावगाढ़ सम्यक्त्व के धारक वह सन्मति भगवान् समस्त कर्मों को निर्मूल करके कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्त समय मे जब कि चन्द्र स्वाति नक्षत्र पर था मुक्ति को प्राप्त हुये। उनके अव्याबाध अतिशय अनन्त सुखरूप सिद्ध पद को प्राप्त करते ही देवों के सिंहासन हिल उठे—उन्होने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान् का मोक्ष कल्याणक हुआ है। वह हर्षातिरेक मे उठे—मस्तक नमाया और भगवान् के पवित्र और अनुपम शरीर की भक्ति पूर्वक पूजा करने के लिये पावा जा पहुँचे। इन्द्र ने आनन्द नाटक रचा और उत्सव मनाया।

भगवान् का निर्वाण प्रगट घटना थी—उसके दर्शन करने

का सौभाग्य सबही भाग्यशाली जीवों को प्राप्त हुआ था। कहते हैं कि जब भगवान् की परमोत्कृष्ट शुद्धात्मा अवशेष अघातिया कर्मों का नाश करके लोक शिखिर पर स्थित सिद्ध-शिला की ओर जा रही थी उस समय कृष्णपक्षीय रात तिमिरा-च्छन्न-काली चादर में छुपी पड़ी थी; परन्तु निर्वाण की विशिष्टता ने उस काली चादर की धज्जियाँ उड़ादीं! चहुँ ओर अपूर्व दैदी-प्यमान प्रकाश फैल गया! ज्ञान ज्योति का दिव्य आलोक सबने प्रत्यक्ष देखा। लोक में वह एक चमत्कार था, जो असाधारण और सहज-सुलभ नहीं है। देवेन्द्र ने भगवान् की पूजा करके उनके शरीर की अन्त्यक्रिया की और उस स्थान को चिन्हित कर दिया! उपरान्त वहाँ एक स्तूप बना दिया गया था।

भगवान के निर्वाण समय उत्तरीय भारत के काशी-कौशल के अठारह गणराजाओं ने और मल्लगणतन्त्र राजसंघ के नौ राजाओं ने एवं लिच्छवि गणराजसंघ के नौ राजाओं ने विशेष उत्सव मनाया था—घी के दीपक जलाकर उन्होंने हर्ष प्रगट किया था। पावापुरी दीपावली से चमचमा रही थी, मानो यही कह रही थी कि "यथार्थ ज्ञान का प्रकाश-पुंज अब संसार में नहीं है, पौद्‌गलिक-पार्थिवता का अस्थायी प्रकाश टिमटिमा रहा है!' चहुँ ओर से लोग भगवान् के निर्वाण स्थान की पतितपावन रज मस्तक पर लगाने आये और सबने ही उस दीपोत्सव में भाग लिया। श्री जिनसेनाचार्य ने इस प्रसंग का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया,
सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावानगरी समंततः,
प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥२३॥

ततश्च लोकः प्रति वर्षमादरा-
—त्प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते ।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं,
जिनेन्द्रनिर्वाण विभूति भक्तिभाक् ॥ २१॥

इति हरिवंशपुराणः

अर्थात्—"उस समय भ० महावीर के निर्वाण कल्याणक के उत्सव के समय सुर-असुरों ने महादेदीप्यमान जहा तहां दीपक जलाये—रोशनी की, जिससे पावानगरी अति सुहावनी जान पड़ने लगी और दीपकों के प्रकाश से समस्त आकाश जगमगा उठा। भगवान् के निर्वाण दिन से लेकर आज तक श्री जिनेन्द्र महावीर के निर्वाण कल्याण की भक्ति से प्रेरित हो लोग प्रतिवर्ष भरतक्षेत्र में दिवाली के दिन दीपों की पंक्ति से उनका पूजन स्मरण करते है।" सचमुच दिवाली भ० महावीर की पवित्र स्मृति को प्रतिवर्ष पुनर्जीवित करती है।

भ० महावीर के पदार्पण से पावा पवित्र हो गया और तीर्थङ्कर का निर्वाणधाम होने से वह यथार्थतः 'अपापापुरी' वन गया। आज भी असंख्य यात्रीगण निर्वाणमदिर मे भ० महावीर की वीतराग-छवि के समक्ष ध्यान का सहारा लेकर सुखानुभव करते हैं। उस निर्वाणधाम का वातावरण परम शान्ति का आगार है। यात्री एक अलौकिक आनन्द वहाँ पहुँचते ही पाता है। काका कालेलकर ने उस पुण्यभूमि के दर्शन करके लिखा है कि हरे २ खेतों के विस्तार में पावापुरी के शुभ्र मंदिर कैसे शोभा देते हैं? इस जगह एक आर्यहृदय के जीवन-काल का अन्त हुआ था और यहीं से भ० महावीर के गणधर अहिंसा का संदेश लेकर दश दिशाओं मे फैल गये थे। जिसने इस स्थान को

'अपापपुरी' का नाम दिया उसे अतिशयोक्ति करने की आदत थी, ऐसा कोई नहीं कह सकता। अहिंसा, अपरिग्रह, और तपस्या अगर पाप को हटाने मे समर्थ न हो, तो मनुष्य को कभी पुण्य के मार्ग का सेवन करना ही नहीं चाहिये।

"रास्ते की एक बड़ी सर्पाकृति मोड़ पार करके हम जलमंदिर के महाद्वार के पास जा पहुँचे। दूसरे तीर्थस्थानों मे जैसी एक तरह की घबड़ाहट होती है, वैसी यहां नहीं हुई। यहा सब कुछ शान्त और प्रसन्न था। नया महाद्वार और उस पर बना हुआ नक्कारखाना, जो अब तक पूरा नहीं हुआ है, जलमंदिर तक बना हुआ चौड़ा पुल—सब कुछ एक खास किस्म के लाल पत्थर से पटा हुआ है। पुल के दोनों तरफ़ बगीचे हैं और तालाब के अन्दर कमल के पत्ते 'सारे तालाब को ढक देना उचित होगा या नहीं' इसके अनिश्चय में सहजभाव से डोल रहे हैं। नीचे घाट के सामने वाला मंदिर पुल से ठीक समकोण मे नहीं है, यह विशेषता तुरन्त ही ध्यान खींचती है। इस लिए कुछ अटपटा-सा लगता है। परन्तु अन्त में मनमे यही निर्णय होता है कि इसमें भी एक प्रकार की विशेष सुन्दरता है! सचमुच पावापुरी का जलमंदिर आल्हाद-दायक है। यहां पावापुरी में धान के खेतों के बीच शोभा देने वाला यह कमल कासार अपनी स्वाभाविकता से राज करता है और इसमें बना हुआ जल-मंदिर किसी लोभी मनुष्य की तरह सारे द्वीप को व्याप नहीं लेता है। उसने अपने चारों तरफ घूमने-फिरने के लिये काफी खुली जगह रख छोड़ी है और अपरिग्रह का वातावरण बनाया है। मदुरा के विशाल मंदिरों मे अगर भव्यता है, तो पावापुरी के इस छोटे से मंदिर में अणिमा और लावण्य की सिद्धि है।

"अब की बार पावापुरी के सरोवर मे साँप न देख सकने से कुछ निराशा हुई। साप जब पानी मे नाचता है, तब वह दृश्य

मछलियों के विहार से कहीं अधिक कलात्मक होता है। और पावापुरी को छोड़कर दूसरे किस स्थान मे ऐसा दृश्य देखने को मिलने वाला था? संध्या की शांति का समय था। हम सीधे मंदिर के भीतर पहुँचे। अहिंसा का साक्षात्कार करने वाले तपस्वी महावीर का कुछ क्षण के लिये ध्यान करके मैं बाहर निकला और गुंधा हुआ आटा लेकर मनोविनोद के लिए मछलियों को चुगाने द्वीप की सीढ़ियों के पास गया। मछलियों का आकार कलापूर्ण होता ही है। खासकर जब वे झुण्ड मे इकट्ठी होती है और क्रीड़ा करती है अथवा खाने के लिये छीना-झपटी करती हैं, मोड़ों और ऐंठनों का नृत्य एक जीवित काव्य बन जाता है।"

निस्सन्देह पावापुर जीवित काव्य है। हिंसानन्दी व्यक्ति भी उसके पवित्र आलोक में अपनी निर्दयता भूल जाता है! क्या वंसी में धोखे से मछली को फंसा लेने मे वह कलामय आत्मा को आल्हादकारी नृत्य देखने को मिल सकता है जो जल मंदिर के चबूतरे की कोर पर से मछलियो को आटा चुंगाते हुए नसीब होता है? कदापि नहीं! अहिंसा की दिव्यता और विशेषता वताने के लिए ही मानो वह मत्स्यादि पूर्ण सरोवर वहां शोभित है। स्व० श्री जुगमन्दर लाल जी जैनी जज ने इस विषय मे लिखा था कि "पावापुरी धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण प्यारी है। मुख्यमंदिर जिसमे भ० महावीर के पवित्र चरण चिन्ह विराजमान हैं, कमल पत्रों और अन्य जलज लता-वल्लरियों से अलंकृत एक तालाव के मध्य अवस्थित है। पानी के मध्य अनेक मछलियां तैरती नजर आती है और उनका रतिपूर्ण तैरना मनोरंजन का सलौना दृश्य है। कभी २ एक वड़ी मछली छोटी मछलियों के गिरोह पर झपटकर उन्हे तितर वितर करके पानी मे भीतर दौड़ जाने के लिये वाध्य करती है। इस समय

तालाव मे कमल नहीं खिल रहे थे, परन्तु अनुमान कीजिये जरा, कैसा चित्ताकर्षक दृश्य तालाव का होता होगा जव श्वेत और रक्तवर्ण के कमलदल उसके समतल को अलंकृत करते होंगे एवं उसकी स्वच्छ तली में मछलियॉ कमल नालों के तंतुओं में किल्लोलें करतीं तैरतीं दिखाई पड़ती होंगी ! सूर्य भी उस समय उस जल विन्दु को जो मछलियों के किल्लोल-नृत्य से कमलदल पर आन पड़ा हो, अति मनोहर गुलावी रंग के मोती में परिवर्तित करता नजर आता होगा ! हमारे भगवान् के पवित्र मंदिर तक पत्थर का पुल वंधा हुआ है। इस मंदिर मे एक छोटी कोठरी है, जिसमें पूर्वाभिमुखी तीन ताक हैं। वीच वाले ताक मे भ० महावीर के चरण चिन्ह अङ्कित हैं। इस ताक से इधर-उधर की ओर के दूसरे ताकों में क्रमशः गणधर इन्द्रभूति गौतम और सुधर्म स्वामी की चरणपादुकायें प्रतिष्ठित हैं। इन पवित्र चरण चिन्हों के दर्शन करने से जिस शान्ति और शुचिता का आनन्द मिलता है वह वचन अगोचर अनुभव की चीज है। अवकास पाने पर मित्रगण पावापुरी की यात्रा कर देखे—वहाँ भगवान् के परोक्ष परन्तु साक्षात् चरणों तले वैठने का सौभाग्य प्राप्त करें। उनकी प्रकाशमान उंगलियॉ आज भी सनातन सत्य-मार्ग को व्यक्त कर रहीं हैं और उनकी हितमित वाणी व्यथित यात्री को शान्ति, सुख और सत्य के पावन धाम की ओर पग वढ़ाने को ललचा रही है !"

निस्सन्देह सिद्धत्व प्राप्त महावीर की शुद्ध आत्म ज्योति का प्रकाश उस पुनीत स्थल पर ही दिपता है—वहॉ से तो सीधे भगवान् महाप्रयान करके निरावरणधाम को पहुँचे थे—उनका वह दिव्य मार्ग अव भी ज्ञानदृष्टि के लिये जाज्वल्यमान है। उस पर नैसर्गिक सौन्दर्य अपूर्व उल्लास और उत्साह का सृष्टा है। भगवान् के सिद्धिपरक चरणों की छाया में वैठना मानों

अमर सुख का अनुभव लूटना है— मुक्ति द्वार का ताला खोलना है। धन्य है—पवित्र है वह निर्वाणधाम, जहाँ प्रभू के चरण-चर्चित है। प्रिय पाठक, अवश्य ही—

उधर आते पग उधार, मस्तक से नमि लेना,
दर्शन कर पवित्र चरण के, स्वातम लख लेना !
है वह पावन ठौर, वहाँ है महिमा दिपती,
उस सम और न ठौर, मही जहाँ सुन्दर दिखती ॥

भगवान् का निर्वाण-काल

"णिव्वाणे वीर जिणे छव्वाससदेसु पंचवरसेसु ।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥"

—त्रिलोकप्रज्ञप्ति,

भगवान् महावीर का निर्वाण कब हुआ ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर देना कठिन है। भगवान को हुये आज लगभग ढाई हजार वर्ष हुये है। इतनी पुरानी बात को कोई कैसे बतादे ? जैन समाज मे इस शती के प्रारम्भ से वीर निर्वाण की मान्यता सन् ५२७ ई० पू० से मानकर प्रचलित है। इसका आधार जैकोबी सदृश पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत हो सकता है। यह गणना निर्भ्रान्त है, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु आज यही लोकमान्य हो रही है। आधुनिक जगत भ० महावीर के समय से बहुत दूर आगया है, परन्तु उसके जो अधिक निकट थे वह भी वीर-निर्वाण-काल के विषय मे एक निश्चित मत नहीं रखते थे। 'त्रिलोक प्रज्ञप्ति' जैसे प्राचीन ग्रन्थ में भी निर्वाणकाल विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख है। उसमे लिखा है कि [१] "वीर भगवान् के मोक्ष के बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये, तब यहॉ पर शक नामका राजा उत्पन्न हुआ। अथवा भगवान् के मुक्त होने के बाद ६७८५ वर्ष ५ महीने बीतने पर शक राजा हुआ।

---

१. "वीर जिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठि वास परिमाणो ।
कालंमि अदिक्क ते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥८६॥
अहवा वीरे सिद्धे सहस्स णवकंमि सगसयब्भहिये ।
पणसीदिमि यतीदे पणमासे सगणिओ जादो ॥८७॥
॥ पाठान्तरं ॥

वीरेश्वर के सिद्ध होने के १४७९३ वर्ष बाद शक राजा हुआ, यह भी पाठान्तर है और यह भी मत है कि वीर भगवान् के निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ महीने बाद शक राजा हुआ।"
इतने पर भी यह निश्चित है कि वीर निर्वाण की पुण्यमई घटना को लक्ष्य करके समय का निर्देश करने की परिपाटी प्राचीन है। वह एक सम्वत् का ही प्रतिरूप है, क्योंकि वीर निर्वाणाब्द ८४ का एक शिलालेख बाड़ली नामक ग्राम से मिला है, जिसमे 'माध्यमिका नगरी' मे किसी कार्य के होने का उल्लेख है। ईस्वी पूर्व चौथी शती से दूसरी शती तक माध्यमिका मे जैनधर्म का प्रावल्य था १। वहाँ से वीर निर्वाण द्योतक उल्लेख मिलना इस बात की साक्षी है कि वीर निर्वाणाब्द का प्रयोग तब भी जैन जनता द्वारा हुआ था। किन्तु हत्भाग्य से ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है जिसके आधार से वीर निर्वाणाब्द की निश्चित गणना निर्भ्रान्त सिद्ध हो सके।

इस दशा में केवल एक मार्ग ही अवशेष है और वह है भ० महावीर का सम्बन्ध उनके समकालीन महापुरुषों से स्थापित करना। उनके समकालीन प्रख्यात् पुरुषों मे म० गौतमबुद्ध, सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार और अजातशत्रु प्रमुख थे। म० गौतमबुद्ध के विषय मे ज्ञात है कि उनकी आयु अस्सी वर्ष की थी और उनका परिनिर्वाण सम्राट् अजातशत्रु के राज्यकाल के आठवें वर्ष में हुआ था। पालीपिटक ग्रंथों के अन्तर्गत 'जटिल-सुत्त' मे ही पहले २ भ० महावीर का उल्लेख हुआ मिलता है।

चोद्दस सहस्स सगसय तेणउदीवास काल विच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥८६॥
॥ पाठान्तरं ॥ त्रिप्र०

१. राइ० १।३१८

वहाँ उन्हें बुद्ध से आयु व दीक्षा में अल्पवयस्क लिखा है और बुद्ध को इस समय अपना धर्म प्रचार करते हुये सात वर्ष हो चुके थे। इस विवरण से स्पष्ट है कि म० बुद्ध भ० महावीर से उम्र में बड़े थे—उनका जन्म भ० महावीर से पहले हो चुका था। कितने वर्ष पहले हुआ, यह बताना कठिन है। तो भी यह प्रगट है कि म० गौतमबुद्ध के जीवन में प्रायः ५० से ७० वर्ष के मध्यवर्ती काल की जीवन घटनायें नहीं-सी मिलती हैं। इस अभाव का कारण म० बुद्ध के जीवन पर भ० महावीर की सर्वज्ञ दशा का प्रभाव हो सकता है। सचमुच बात भी ऐसी ही जंचती है, क्योंकि जब भ० महावीर सर्वज्ञ होकर धर्मोपदेश करने लगे थे तब म० बुद्ध की आयु लगभग ४८ वर्ष की होना सम्भव है। बुद्धदेव की ५० वर्ष की अवस्था से वीर-धर्म-चक्र प्रवर्तन का प्रभाव अवश्य कार्यकारी हो चला था। यह बात तो स्वयं बौद्धग्रंथों से प्रगट है कि भ० महावीर के सर्वज्ञ होने के पहले ही म० गौतमबुद्ध अपने 'मध्यमार्ग' का प्रचार करने लगे थे [1]। और म० गौतमबुद्ध के प्रसंग में यह लिखा जा चुका है कि गौतमबुद्ध के जीवनकाल में ही भ० महावीर का निर्वाण हो चुका था। उस समय गौतमबुद्ध सामगाम में मौजूद थे। पावा के चड नामक व्यक्ति ने इस दिव्य घटना को देखा था। वह जल्दी से मल्लदेश की राजधानी सामगाम को गया और

---

१. मज्झिमनिकायमें 'निगंठपुत्त संचक' के कथानक से स्पष्ट है कि बुद्धदेव के धर्म प्रचार के समय म० महावीर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण नहीं हुए थे। (PTS. 1, 225) 'संयुत्तनिकाय' (११६८) में लिखा है कि बुद्ध अपने को 'सम्मासंबुद्ध' कैसे कहने लगे, जबकि निगंठनातपुत्त अपने को वैसा नहीं कहते। इससे भी यही स्पष्ट है कि म० महावीर बुद्ध के धर्मप्रवर्तन समय छद्मस्त ही थे।

वहाँ बुद्धदेव के मुख्य शिष्य आनन्द को यह खबर सुनाई। आनन्द ने इस घटना के महत्व को झट अनुभव कर लिया और कहा, 'मित्र चंड, यह समाचार तथागतके समक्ष लाने के योग्य है, अतः हमे उनके पास चलकर यह खबर देना चाहिये।' वे बुद्ध के पास गये, जिनने एक बड़ा उपदेश दिया।[१] अत. यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध के जीवन मे ही वीर निर्वाण घटित हुआ था।

बौद्धजगत में गौतमबुद्ध का परिनिर्वाण संवत् प्रचलित है। उसकी गणना ई० पू० ५४३ से की जाती है। स्व० विन्सेटस्मिथ सा० ने भी म० बुद्ध की परिनिर्वाण तिथि ईस्वी पूर्व ५४३ लिखी है।[२] "महाबोधी सोसायटी कलकत्ता" ने इसी मत के अनुसार बुद्ध संवत् प्रचलित लिखा है। अतएव ५४३ ई० पूर्व के पहले भ० महावीर का निर्वाण हुआ मानना उचित जंचता है। परन्तु म० बुद्ध के परि निर्वाण-तिथि के विषय मे भी एक मत नही है इसलिए इस गणना के अनुसार निश्चित मत भी निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।[३]

श्रेणिक बिम्बसार और भ० महावीर के सम्बन्ध पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि वह भ० महावीर से आयु मे अधिक थे, क्योंकि बौद्धग्रथों से म० बुद्ध और उनका समवयस्क होना सिद्ध है[४] और यह हम देख ही चुके है कि म० बुद्ध भ० महावीर से आयु मे बड़े थे। शायद यही कारण है कि जैन ग्रन्थो मे

---

१. पासादिक सुत्तन्त, Dialogues of Buadha, III, 112.

२. Early History of India, (IV. ed.) p. 34

३. पहले हमने बौद्ध परिनिर्वाण के आधार से वीर निर्वाण ई० पूर्व ५४५ में निश्चित किया था, परन्तु उसे निर्भ्रान्त मत नहीं कह सकते हैं।

४. वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना पृ० १

श्रेणिक के प्रारम्भिक जीवन मे भ० महावीर का उल्लेख नही मिलता। चेलनी के साथ उनका विवाह हो जाता है और वह चेलनी के सदुद्योग से यशोधर मुनिराट् के सम्पर्क मे आकर जैनधर्म के प्रेमी बनते हैं। इस घटना के उपरान्त वह भ० महावीर के समवशरण में पहुँचते हैं। इस समय उनकी आयु अधिक होना चाहिये, परन्तु भ० विजयकीर्ति द्वारा रचित 'श्रेणिक चरित्र वचनिका' मे भ० महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति के समय श्रेणिक की आयु मात्र २६ वर्ष की लिखी है। उसमें यह भी लिखा है कि श्रेणिक को देश निकाला १२ वर्ष की अवस्था मे हुआ था।[१] इस छोटी उम्र में ऐसा कठोर दंड दिया जाना उचित नहीं जचता। यह दंड राज्याधिकार के हेतु दिया गया था। प्राचीनकाल में राज्याभिषेक २७-२८ वर्ष से पहले नहीं होता था। अत. यह सभव है कि यह उल्लेख श्रेणिक के राज्यकाल का हो, क्योंकि 'राज' का वर्णन करते हुए यह लिखा गया है। अब यदि श्रेणिक की सिंहासनारोहण तिथि ई० पू० ५८२ मानी जावे[२] तो ई० पू० ५५६ में भ० महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ सिद्ध होता है और तीसवर्ष विहार एवं धर्मोपदेश काल के घटाने पर ई० पू० ५२६ मे उनका निर्वाण प्रगट होता है। आजकल जैनियों में इस गणना

---

१. यह ग्रन्थ रोहतक के शास्त्र भंडार में विराजमान है और सं० १८२७ का रचा हुआ है। उसमें लिखा है:—

"श्रेणिक नीति संभाल कर करे राज अधिकार।
बारह वर्ष जु बौद्धमत, रह्यो कर्म वश धार ।५२॥
बारह वर्ष तने चित धरो, नदग्राम यह मारग करो ॥
श्रेणिक वर्ष छबीस मंझार, महावीर केवल पद धार।५६॥१५॥

२. संजइ० २।१ पृ० १८

के अनुसार ही वीर निर्वाण प्रचलित है। उस गणना के आधार निम्नलिखित गाथायें व श्लोक हैः—

(१) सत्तरि चदु सद जुत्तो, तिण काला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठ वरस सोडस वासेहि भम्मिण देसे ॥१८॥

नंदिसघ पट्टावली (जै०सि०भा० ४।७५)

(२) सत्तरि चदु सद जुत्तो, तिण काले विकमो हवइ जम्मो।
अठवरस बाल लीला, सोडस वासेहि भम्मये देसो ॥
रस पण वीसा रज्जो कुणंति मिच्छोपदेश संजुत्तो।
चालीस वरस जिणवर धम्मे पालेय सुर पयं लहियं ॥

विक्रम प्रबंध।

(३) जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिं अवंति वई अभिसित्तो पालयो रायो ॥
सट्ठी पालग रन्नो पण पण्णसंयतु होई नंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसंचिअ पुस्समित्तस्स ॥
बल मित्त भानुमित्ता सट्ठी बरिसाणि चतं नरवाहणो।
तह गद्दी भल्लरन्नो तेरस वरिसा सगस्स चउ ॥

तीर्थोद्धार प्रकीर्ण

(४) पण छस्सयवरसं पणमासजुदं गमिय वीर णिव्वुइदो।
सग राजो तो कक्की चदुणवतिय महिय सगमासं ॥

—त्रिलोकसार

इन मान्यताओं के आधार से दिगम्बर और श्वेताम्बर-दोनों ही आम्नाय के जैनी विक्रमाब्द से ४७० वर्ष पहले अर्थात्

ई० पूर्व ५२७ मे वीर निर्वाण मानते हैं, परन्तु पहले दो प्रमाणों मे स्पष्ट कहा गया है कि विक्रम के जन्म से ४७० वर्ष पहले वीर स्वामी का निर्वाण हुआ था—इसी कारण विक्रम के राज्यारोहण काल के १८ वर्ष मिलाने से विक्रमाब्द से ४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मानना उपयुक्त है। श्री वसुनन्दि श्रावकाचार में विक्रम सं० ४८८ वर्ष पूर्व महावीर स्वामी के निर्वाण का उल्लेख है। इस अवस्था में ई० पू० ५४५ मे वीर निर्वाण प्रमाणित होता है। इस प्रकार वीर निर्वाण की ठीक तिथि का पता पा लेना सुगम नहीं है। केवल यह दो मत ही नहीं हैं, वल्कि आधुनिक विद्वानों के और भी कई मत हैं, जिनका निरसन अन्यत्र किया गया है।[1] ऐसी अवस्था में केवल यह निश्चित

---

१. हमने "भ० महावीर का समय" नामक ट्रैक्ट (बिजनौर १९३२) में इन मतों का खंडन किया है। वे यह हैं:—

(१) शक राजा के उत्पन्न होने से ४६१ वर्ष पहले वीर निर्वाण हुआ था। (त्रिलोक प्रज्ञप्ति देखो) साधारणतया शकराजा से भाव शकसंवत् प्रवर्त्तक का लिया जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं। यह शकराज क्षत्रप नहपान था।

(२) शकराजा से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले वीर निर्वाण हुआ था। (त्रिलोकसार) यह शकारि शालिवाहन (गौतमीपुत्र शातकर्णी) है।

(३) ई० पूर्व ४६८ वर्ष पहले महावीर स्वामी मुक्त हुये थे। यह मत प्रो० जार्ल कार्पेन्टियर का है। उन्होंने विक्रम से ६०५ वर्ष पहले वीर निर्वाण मानने की गलती की है।

(४) विक्रमाब्द से ५५० वर्ष पहले वीर प्रभू मोक्ष गये थे। यह मान्यता पं० नाथूरामजी प्रेमी की है, परन्तु इसके लिये यह प्रमाणित होना आवश्यक है कि विक्रमाब्द विक्रम की मृत्यु से प्रचलित है। श्री देवसेन और अमितगतिजी के उल्लेख अपर्याप्त हैं।

है कि भ० महावीर का निर्वाण म० गौतम बुद्ध के जीवनकाल मे हुआ था। उस समय श्रेणिक बिम्बसार स्वर्गवासी हो चुके थे। और अजात शत्रु कुणिक मगध के राज सिंहासन पर आसीन थे। वीर निर्वाण के पश्चात् जब इन्द्रभूति गौतम गणधर राजगृह पहुँचे, तब अजात शत्रु राजा था और वह उनकी शरण मे आकर श्रावक हुआ था। अतएव यह मानना अधिक सुरक्षित है कि सम्राट् कुणिक अजातशत्रु के राज्य-सिंहासनारूढ़ होने के चार छै वर्ष मे भ० महावीर का निर्वाण हुआ था। उस समय म० गौतम बुद्ध जीवित थे। हाल मे श्री गोविन्द पैइ ने बौद्ध ग्रन्थों के आधार से भी यही सिद्ध किया है कि ईस्वी पूर्व ५०१ से पहले ही म० गौतम बुद्ध के जीवन काल मे वीर निर्वाण की पुनीत घटना घटित हुई थी। उनके मतानुसार भ० महावीर का जन्म सोमवार के दिन २७ फरवरी (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) ई० पूर्व ५६८ को हुआ था और निर्वाण कार्तिक कृष्णा अमावस्या को सोमवार की रात के अन्तिम पहर (१३ सितम्बर) के समय अथवा मंगलवार की पौ फटते ही १४ सितम्बर ई० पूर्व ५२७ को घटित हुआ था।※ उनका यह मत प्रचलित वीर निर्वाण संवत् के अनुरूप है।

---

(५) शकाब्द से ७४१ वर्ष पहले भगवान का निर्वाण हुआ। इस मत का प्रतिपादन दक्षिण भारत के १८ वीं शती के कतिपय शिलालेखों में हुआ है। यह मत विक्रम से ६०५ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मानने की गलती का ऋणी है।

※ भ० महावीर स्मृति ग्रन्थ आगरा पृ० ९१--१००

भगवान् का दिव्योपदेश और निर्मल चारित्र !

'श्री सन्मति केवल उदय, नास्यो तम अज्ञान ।
विश्वनाथ प्रणमौ सदा, विश्व प्रकाशक भान ॥१॥
अब प्रभु दिव्यध्वनि भई, स्वर्ग मुकति सुखदाय ।
चतुर वदन आरम्भ किय, सप्तभंग समुदाय ॥२॥'

—श्री वर्द्धमान पुराण

मानव इतिहास मे महापुरुषों के शुभागमन विषयक प्रकरण अनूठे हैं। जिस प्रकार शरद् ऋतु का निर्मल पूर्णचन्द्र और उसकी शरद् ज्योत्स्ना सारे वर्ष भर में अपना अनोखापन और अपूर्व आल्हाद विस्तारती है, उसी तरह महापुरुषों का अवतरण लोक के लिये विशेष और अपूर्व आल्हादकारी है। निस्सन्देह इतिहास में कोई भी प्रकरण ऐसे प्यारे और उत्तम नहीं दिखते जैसे वे कि जिनमें उस समय के किसी धर्मप्रवर्तक या आचार्य के शुभागमन का वर्णन हो। भव्य-कुमुद ऐसे निर्मल पूर्णचन्द्र को पाकर खिल उठते है और उनके आलोक में गौरव और सुख अनुभव करते हैं। उन महापुरुषों की निर्मल वाणी लोककल्याण का कारण होती है—लोग उसे सुनकर अवधारण करते हैं और उनके पग-चिन्हों का अनुसरण करके अपने को कृतार्थ मानते हैं। चुम्बक पत्थर के समान लोक जगत-गुरु के निकट स्वयं आकृष्ट हो जाता है—उन्हे किसी को न्योता देने की आवश्यकता नहीं होती।

भ० महावीर का पतितपावन चरित्र उनकी महानता को स्वयं व्यक्त कर रहा है—उसकी विशेषता शब्दों की ऋणी नहीं है; कदाचित् वह अवक्तव्य ही है। उसका दिग्दर्शन कराना

साधारण कार्य नहीं है—है वह अवश्य प्यारा और पावन ! महावीर अतिवीर तीर्थंकर थे। वह साक्षात् ज्ञान और चारित्र-रूप थे। अर्हत् के छयालीस गुण उनमे प्रकाशमान थे। वह सशरीरी सर्वज्ञ शुद्ध-बुद्ध-परमेश थे। परमात्मदशा के सब ही गुण उनमे दृश्यमान थे।

कहते है कि महान् चरित्र के माप तीन है अर्थात् (१) शरीर बल, (२) मानसिक उत्तमता और (३) नैतिक चारित्र की निर्मलता। तीर्थङ्कर महावीर का चरित्र इस माप मे सौटंच सोने की तरह चमकता हुआ प्रगट होता है। उनका शरीरबल लोक में अनुपम था—वह वज्रवृषभनाराच संहनन युक्त अद्वितीय था। उनका शरीर-बल और सौन्दर्य चक्रवर्ती और कामदेव को लज्जित करता था। वह सुन्दर सुवासित सात हाथ का शरीर स्वर्णवर्ण का था। भ० महावीर ने उसका ठीक उपयोग किया—वह बाल ब्रह्मचारी रहे। यह थी उनकी शारीरिक उत्कृष्टता ! श्वेत दुग्ध सा रक्त उनकी नसों मे बहता था ?

भगवान् की मानसिक उत्कृष्टता इसी से अंदाजी जा सकती है कि वह जन्म से ही मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक थे। इस उत्कृष्टता को उन्होंने लगातार कई जन्मों के अध्यवसाय से प्राप्त किया था। उनके लिये वैसे साधन सुगम नहीं थे; किन्तु उन्होंने अपने को उन साधनों के योग्य बनाया था—इसी मे उनकी महावीरता थी। साधन सुलभ होने पर हर कोई उन्नति कर जाता है; परन्तु इसमे विशिष्टता कुछ नहीं। महावीर के चरित्र में विशिष्टता इसीलिये है कि वह जीवन की निम्नतम श्रेणी मे पड़े हुये थे, परन्तु अपने सद्प्रयत्नों से उसी तरह चमके जिस प्रकार हीरा खराद पर चढ़कर चमकता है। सोचिये जरा, कहाँ एक जंगली भील और कहाँ विश्वधर्म प्रणेता महा-

वीर ! मासोपजीवी भील अपने ही उद्योग से मानसिक उन्नति करके तीर्थङ्करत्व को प्राप्त करता है। और जन्म से ही त्रिज्ञान-धारी बनता है। मानसिक परिपूर्णता का अर्थ महावीर के निकट विवेक का जागृत होना था। शुष्क तार्किक बुद्धिवाद तो एक मानसिक वासना है—महीषी वासनालिप्त होता नहीं, वह विवेकी है। इसलिये ज्ञान का माप कोरा तर्कवाद नहीं है और न उससे मानसिक उत्कृष्टता प्राप्त होती है। मानसिक उत्कृष्टता का प्रमाण अमित कारुण्यवर्षक विवेक है। भ० महावीर उसके आदर्श उदाहरण थे। लगातार बारह वर्षों तक साधना में लीन रहकर उन्होंने वह उत्कृष्टपद पाया जो मनका ऋणी नहीं रहता। मन के आधार से प्राप्त हुआ ज्ञान साक्षात् आत्मज्ञान नहीं है। वह परावलम्बी है। भ० महावीर परावलम्बी नहीं रहे—वह सर्वज्ञ हुये—पूरे आत्मज्ञानी बन गये। उन्होंने मन पर विजय पाई। यही कारण है कि वे एक अद्वितीय प्रभावशाली वक्ता थे। उनके मुखकमल से सदैव सत्यामृत वर्षता था।

पाठक, अब स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि भ० महावीर सदृश विवेकी महापुरुष का नैतिक चरित्र कितना विशाल होगा। निस्सन्देह महावीर साक्षात् शील, धर्म और संयम की प्रतिमूर्ति थे। वह श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र को मोक्षसिद्धि के लिए एक साथ आवश्यक मानते थे। विविध-विषय-ज्ञान-पटु होना और बात है, लाखों किताबों को पढ़ डालना एक चीज़ है और उस ज्ञान को सम्यक् श्रद्धा की कसौटी पर कसकर चारित्र चंदन से चर्चित करके सुगंधित बनाना और चीज़ है। भ० महावीर कोई बात कहते पीछे थे, पहले उसे वह अपने अनुभव की वस्तु बना लेते थे। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों एक साथ उनके जीवन में चमकते थे। उनके जीवन की एक घड़ी भी व्यर्थ न जाती थी – उसमें उपर्युक्त तीनों रत्न प्रकाशित होते रहते थे।

उपदेश से उदाहरण का मूल्य अधिक होता है। जिस धर्म सिद्धांत को महावीर ने प्रतिपादा, वह उनके जीवन में जागृतरूप पा चुका था। यह विशेषतायें ही भ० महावीर की महानता को व्यक्त करती हैं। उनकी इस महानता का प्रभाव श्री जिनसेनाचार्य जी के शब्दों मे यूं है कि "जिन महानुभावों ने भ० महावीर का वचन सुना अथवा उन्हे प्रत्यक्ष देखा उसकी प्रकृति मिथ्या धर्मों से सर्वथा हट गई! उन्हे भगवान् का रूप देखने से और वचन सुनने से परमानंद हुआ!"

भ० महावीर आप्त—सच्चे उपासनीय देव थे-वह सर्वोत्कृष्ट गुरु थे। उनकी उपासना और पूजा उनके पगचिन्हों का अनुकरण करना है। उनका उपकार इसी में है कि उन्होंने हमे वस्तुतत्व का वोध कराया—सोते से जगाया और विवेक नेत्र दिया। उनका दिव्योपदेश लोक के लिये त्राण था। वह था भी अनुपम! उन्हे इच्छा नहीं थी कि वह जगद्गुरु वने! इच्छा को तो उन्होंने जीता था। मुमुक्षुओं का पुण्य प्रताप था वह कि उन्हे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा के मुख से धर्मोपदेश सुनने को मिला! वह निरक्षरी भाषा मे होता था। महावीर लोककी निधि थे। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी तक उनसे ज्ञान पाने के अधिकारी थे। फिर वह भला अपने को भाषा के वन्धन मे क्यों वांधते? उन का विश्वव्यापी-रूप किस तरह सीमित हो जाता? इसलिये वह ऐसे वोले जैसे प्रकृति की ध्वनि हो, जिसे हर जीव समझ ले। इसे कहिये 'आत्म-भाषा' (अपनी वोली), जिसे प्रत्येक जीव के लिये समझना सुगम है। मागधदेव प्रत्येक जीव को उसे समझने देने मे सहायक होता था। आज भी तो विज्ञान वेत्ता ऐसा उद्योग कर रहे हैं कि रेडियो स्टेशन से प्रचारित प्रोग्राम को प्रत्येक राष्ट्र और वर्ण का श्रोता उसे अपनी वोली मे समझ ले। 'ध्वनि विज्ञान' के सहारे ऐसा होना सभव ही है। किन्तु भ०

महावीर का जमाना पार्थिवता से परे था—वह आत्मज्ञानी स्वावलम्बी था ! इसलिए प्रत्येक आत्मा का सम्पर्क सीधा आत्मा से होता था—'अन्तर्ध्वनि' को कौन नहीं सुन और समझ सकता है ? महावीर मुंह से नहीं बोलते थे—उन्हे दुनियांदारी की बातें करनी ही नहीं थीं—वह कान से मुंह लगाकर बोलते ही क्यों ? उनका नाता किसी से नहीं था और था सब से ! 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' का सूत्र उनमें मूर्तिमान् हुआ था—जो वह थे वह लोक था ! अन्तर केवल आत्मविकास का था ! महावीर पूर्ण विकसित ज्ञान-सूर्य थे—उनका व्यवहार आत्मामई था—वह दुनियां की बातें बोलते ही कैसे ? जो उनके अन्तर में था, वही बाहर आया ! योगसाधना का फल उन्हें अन्तरध्वनि जनित आत्माल्हाद मिला ! उनके सम्पर्क में जो आया, वह भी उसका रस पा गया ! फिर भला कहिये, उनके पास आत्मज्ञानमई 'अन्तर्ध्वनि' के अतिरिक्त और क्या सुनने को मिलता ? अतएव जिन आचार्यों ने तीर्थङ्कर की वाणी को 'निरक्षरी' लिखा है, वह ठीक है उपर्युक्त अपेक्षा से ! किन्तु जिन दूसरे आचार्यों ने उसे 'अर्द्धमागधी-भाषा मई' लिखा है, वह मिथ्या नहीं है—सही है ! जिनेन्द्र की 'अन्तरध्वनि' वीतराग विज्ञान की परिपाटी—धर्मतीर्थ लोक मे चलना अनिवार्य है ! तीर्थङ्कर के गणधर इसीलिए होते हैं कि वह जिन मार्ग को प्रवाहित रक्खें। अतः गणधर महाराज के लिए जिनधर्म को जीवित रखने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि वह उस भाषा मे जिनेन्द्र की वाणी को ग्रथ बद्ध कर दें जिस भाषा को सब से अधिक मनुष्य समझ सकें ! दूसरे शब्दों मे यह कहिये कि जिन वाणी के प्रचार का माध्यम 'अर्द्ध मागधी' भाषा रही है। भ० महावीर का धर्मोपदेश मगध देश मे हुआ था, जहां 'मागधी भाषा' बोली जाती थी परंतु जिनवाणी समस्त आर्य-भव्य-लोक या

उद्धार करने के लिए जन्मी थी। अतः उसे 'अर्द्ध मागधी' भाषा का रूप दिया गया, जिसे कि मगध प्रान्त के अतिरिक्त अन्य देशों और प्रान्तों के मनुष्य भी समझ सकें! यह अर्द्धमागधी भाषा 'प्राकृत भाषा' का एक विशेष रूप है और जैन-आगम-ग्रंथ इसी भाषा में रचे हुये मिलते हैं। मालूम ऐसा होता है कि उस समय इस भाषा को सारे भारतवर्ष के लोगों के अतिरिक्त भारतवाह्य विदेशों के लोग भी समझते थे। मौर्यकाल में सम्राट् अशोक ने अपने धर्मलेख पालीप्राकृत में लिखाये थे और उन्हे विदेशों मे भी प्रचलित किया था। जो हो, भ० महावीर की दिव्य-वाणी का प्रचार अर्द्धमागधी-प्राकृत में किया गया था, जिसे अधिकांश लोक समझता था।

वह महावीर वाणी बारह अङ्ग ग्रंथों में रची गई थी—बारहवां 'दृष्टिवाद' नामक अङ्ग चौदह 'पूर्वगत' भागों में विभक्त था। इसलिये 'महावीर-वाणी' ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व संयुक्त कहलाती है। यह अङ्ग साहित्य है। इसके अतिरिक्त अङ्ग वाह्य प्रकीर्णक साहित्य इसी के आधार से रचा गया है। प्राचीनकाल मे ग्रंथों को स्मृति में सुरक्षित रखने की परिपाटी थी। लिपिका प्रचार था अवश्य, परंतु विनयभाव के वाहुल्य से उसका प्रयोग धर्मशास्त्रों को लिपिबद्ध करने में प्रायः नहीं होता था। इसी अनुरूप जैन आगम ग्रंथ भी ऋषि पुङ्गवों की पवित्र स्मृति मे सुरक्षित रहे। महावीर-वाणी के पूर्ण ज्ञाता—'श्रुतकेवली' मौर्यकाल तक जीवित रहे—भद्रवाहु स्वामी अन्तिम श्रुतकेवली थे! उपरान्त ऋषियों की स्मृति ज्यों ज्यों क्षीण होती गई त्यों-त्यों आगम-ग्रंथ भी लुप्त होते गये! आज महावीर-वाणी का बचा हुआ शतांश ही मिलता है। वह शेषांश 'गागर में सागर भर देने' की उक्ति चरितार्थ कर रहा है। वही हमे महावीर स्वामी के दिव्योपदेश का भान कराता है। उनके

दिव्योपदेश का साधारण भाव उससे इस प्रकार प्रगट होता है:—

"समस्त लोक मोह से अन्धा हो रहा है। वे जीव धन्य हैं जिन्होंने तृष्णारूपी विषवेल को जड़-से उखाड़ कर दूर फेंक दिया है। नाश या पतन अथवा दुखों की ओर बढ़ते हुये जीव की रक्षा करने में न भार्या समर्थ है, न वन्धुवर्ग समर्थ है, कोई भी समर्थ नहीं है। इन्द्रिय विषय एक वार नहीं, अनेक वार सेवन किये हैं, परन्तु इन इन्द्रिय विषयों से कभी तृप्ति नहीं होती। ज्यों ज्यों उनका सेवन करो त्यों त्यों वासना जगती है—तृषा बढ़ती है। तृषा से दुखी हुआ जीव हित और अहित को नहीं पहचानता—वह विवेकहीन होता है और संसार में रुलता है। उसे जन्म और मरण से कोई नहीं बचा सकता उसके लिये संसार दुखरूप है। वह यह जानता है—जन्म, जरा और मरणके दुखोंको भुगतता है, परन्तु आत्मभ्राति से कभी प्रशम में रत नहीं होता!'

"साधारण जीव शरीर को ही आपा मानने की ग़लती करते हैं और जिससे शरीर को आराम मिले, उसे अच्छा समझते हैं— इन्द्रिय वासना की पूर्ति मे उन्हें आनन्द आता है, परन्तु ऐसे इन्द्रिय विषयग्रस्त लोगों के जीवन में भी ऐसे अवसर आते हैं जिनमें उन्हें अपनी ग़लती का भान उनके हृदय की आवाज़ कराती है—इसे चाहे 'परम' ध्वनि कहिये अथवा विवेक या ज़मीर! इस प्रकार मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं—(१) मिथ्या अन्धकारमय, जिसमें स्वार्थ और इन्द्रियलिप्सा जैसे निशाचरों का साम्राज्य होता है, (२) प्रकाशमय जीवन, जो ज्ञानमई होता है। अतएव धर्म लौकिक और पारमार्थिक रूप में दो तरह का है। पहला धर्म दूसरे को दृष्टिकोण में रखकर चलता है। जो व्यक्ति इस धर्म को नहीं पहचानता वह मिथ्या अन्धकार में ठोकरें खाता है।"

'प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा जानता और मानता है कि प्रत्येक

प्राणी के शरीर मन्दिर मे दिव्य ज्ञानमयी आत्मदेव विराजमान है। अतएव प्रत्येक प्राणी को अपने समान जानो और किसी को भी पीड़ा न पहुँचाओ। न उन्हे मारो और न पराधीन बनाओ।"

"ज्ञानी धर्मात्मा यह भी जानता और मानता है कि प्रत्येक जीव स्वभाव से परमात्मा-रूप है। उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप गुण अव्यक्त हैं। उनका आंशिक विकास छद्मस्थों में प्रत्यक्ष दीखता है; जिससे उनका पूर्णत्व प्रमाणित है।"

"जैसे यह जीव कर्म करता है, वैसे ही फल भोगता है और अपने कर्मो के अनुसार ही देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नर्कगतियों में सुख-दुख भुगतता है।"

"यह याद रखिये कि प्रत्येक जीव स्वयं अपने जीवन का निर्माता है—वह अपने इस एवं भावी जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है। वह स्वभाव से स्वाधीन है।"

"जब यह संसारी जीव रत्नत्रय धर्म की आराधना करके अपने को कर्म-बन्धन से छुड़ा लेता है तब उसे ज्ञान-चेतना-जनित परमात्मभाव (निज भाव) नसीब होता है। वह मुक्त होता है।"

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही रत्नत्रयधर्म है और यही मोक्ष-मार्ग है। स्वाधीन बनने का यही रास्ता है।"

"अहिंसा सम्यग्दर्शन की आधारशिला, सम्यग्ज्ञान का पूरक नियम और सम्यक्चारित्र का प्राण है।"

"अतः जो सुखी होना चाहते हैं, उन्हें इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये। जीवन की आवश्यकताओं को सीमित बना कर उनके परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिये। संतोषी महासुखी होता है।"

"अपने मे धर्मवृत्ति जागृत करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह सब जीवों से मैत्रीभाव रक्खे, गुणवान् पुरुषों के प्रति प्रमोदभाव रक्खे, दुखी जीवों के प्रति दयाभाव रक्खे और जो द्रोही हों उनके प्रति उदासीन हो जावे !"

"हमेशा यह याद रक्खो कि जीव के लिए चार बातें अतीव दुर्लभ हैं। (१) मनुष्य जीवन (२) सम्यक् धर्म (३) सम्यक् श्रद्धा और (४) सम्यक् आचरण !"

"यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय जब अनायास मिली है, तो इसे व्यर्थ न गंवाना चाहिये—दुस्संगति में पड़ कर उसे नष्ट नहीं करना चाहिये, बल्कि आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना चाहिए।"

यह जिनेन्द्र महावीर के दिव्योपदेश का सार है। यह सीधा और सच्चा सर्वहितकर उपदेश है। इस में न तो जिन भगवान ने आज्ञा की है और न प्रार्थना। आज्ञा, प्रार्थना और भय-यह बलायें उनसे दूर हैं। यही कारण है कि भ्रम में पड़ कर लोग भगवान के यथार्थ उपदेश को समझने में गलती करते हैं। ऐसे लोग ऐशो आराम को ही मनुष्यत्व समझ बैठते हैं और संयमी जीवन को अनावश्यक मानते हैं। कई मनुष्यों ने तो आराम को ही मुक्ति माना है। परंतु इन्द्रिय वासना तृप्ति जनित सातारूप क्षणिक अनभव सच्चा सुख नहीं है, यह भूलकर वे लोग नीति-अनीति और धर्म अधर्म की कथायें बनाते हैं। मनुष्यों को नाना प्रलोभन देकर उन्हें सासारिक बन्धनों में फंसाते हैं। मनुष्य साहस और विवेक को भूल जाते हैं। वे वैसे ही मानवों के बीच में उत्पन्न हुये और वैसों ही के विचाररूपी अन्न से पले हैं। इसलिये वे इन संसार-बन्धनों को तोड़ने में डरते हैं ! किन्तु संसार वर्द्धक लौकिक नीति और लौकिक धर्म तोड़ने—उसका संहार करने और पदार्थों का सत्य स्वरूप बताकर लोगों

को क्रान्तिकारी साहसी बनाने के लिए ही जिनभगवान् का उपदेश है। वह प्रत्येक पदार्थ को प्रकाश में लाता है। यही कारण है कि अन्धकार मे रहने वाले उस पर यथाशक्य प्रहार करते हैं; परंतु वह ज्ञान-सूर्य अविचल प्रकाशित ही रहता है। असत्य के आवरण मे सत्य कभी भी लुप्त नहीं होता! योग और चमत्कार की बाते भी लोगों को बहकाने की चीजे हैं। मानव के लिये सारभूत पदार्थ तो मात्र उसका आत्म स्वभाव है। मन-वचन-काय योगों की विधिवत् प्रचलन क्रिया और उनकी विजय ही सच्चा योग है। वह परम कल्याण कर आत्म-स्थिति जिनेन्द्रोपदिष्ट सम्यग् श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र का पालन करने से ही नसीब होती है। जिनोपदेश का सार यही है। मानव समझे और आगे

श्री ऋषभदेव और भ० महावीर !

"स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले
स्वमञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥"

—श्री समन्तभद्राचार्य ।

"दूसरे के उपदेश बिना ही अपने आप मोक्षमार्ग को जानकर अनन्त चतुष्टयरूप होने वाले तथा परम दयालु होने से प्राणियों को मोक्षसुख के प्रथम प्रदर्शक अतएव हितकारक और यथावत् (ठीक ठीक) सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाली ज्ञानलक्ष्मी-रूप नेत्रवाले और सम्यग्दर्शनादि गुणों के समूहरूप किरणों से ज्ञानावरणादि कर्मान्धकार को हरने वाले चन्द्रमा के समान श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) भगवान् इस पृथ्वी पर सुशोभित हुये।"

ऋषभदेव इस पृथ्वी पर उस समय अवतीर्ण हुये जब यहाँ भोगभूमि का लोप हो गया था और कर्मभूमि का समय आया था। तब लोगों के लिये जीवन निर्वाह के वास्ते कर्तव्य-पाठ पढ़ना आवश्यक हो गया था। तब लोग अति भोले थे—मानव-जीवन की प्रारम्भिक आवश्यक बातों से भी अनभिज्ञ थे ! उन्हें एक पथप्रदर्शक नेता की आवश्यकता थी। भ० ऋषभदेव रूप में वह नेता उन्हें मिल गया। वह जगत के आदि गुरु हुये-आर्य सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने ही पल्लवित किया। ऋषभदेवजी ने ही मनुष्यों को उनके दैनिक कृत्य, असि, मसि, कृषि आदि जीवनोपयोगी कलाचातुर्य्य और शिल्प आदि लौकिक

कृत्य बतलाये। मनुष्य के पारलौकिक हित के लिये उन्होंने वस्तुतत्वमय यथार्थ आत्मधर्म का स्वरूप समझाया—यथार्थ परमसुख पाने का मार्ग बतलाया। वे स्वयं उस धर्म-मार्ग के पर्य्यटक बनकर जीवन्मुक्त परमात्मा हुये। इसीलिये जैन शास्त्रों मे वह इस कल्पकाल में धर्मतीर्थ के संस्थापक पहले तीर्थङ्कर कहे गये हैं। तत्वरूपमे धर्म उनके पहले भी विद्यमान था, परन्तु अपने समय की स्थिति के अनुसार उन्होंने उसका प्रतिपादन किया था—वह धर्म के आदि संस्थापक हुये।

ऋषभदेव चौदहवें कुलकर (मनु) नाभिराय के पुत्र थे—उनकी माता मरुदेवी थीं। वह क्षत्रियों के इक्ष्वाकु वंश के आदि पुरुष थे। उनके दो विवाह हुये थे–यशस्वती और सुनन्दा उनकी धर्मपत्नियाँ थीं। दोनों ही विदुषी महिलारत्न थीं। यशस्वती के भरत आदि पुत्र और ब्राह्मीपुत्री जन्मीं थीं और सुनन्दा की कोखसे बाहुबलि नामक पुत्र और सुन्दरी नामक कन्या का जन्म हुआ था। ब्राह्मी और सुन्दरी ने ही पहले-पहल त्यागमय जीवन बिताया था—वे साध्वी हुईं थी। उन्होंने तीर्थङ्कर ऋषभदेव के निकट आर्यिका के व्रत धारण किये थे और देश-विदेश में घूमकर लोक का कल्याण किया था। ऋषभ-देव ने सबसे पहले अपनी इन पुत्रियों को ही स्वर-लिपि और अङ्कगणित की शिक्षा दी थी। उस समय भ० महावीर का जीव ऋषभदेव जी का पौत्र मरीच था। वह भी मुनि हुआ था, परन्तु मार्गभृष्ट होकर मिथ्या-मत का संस्थापक बना था यह, लिखा जा चुका है। भरत लोक के पहले सार्वभौम सम्राट्-चक्रवर्ती हुये थे। अपने शासन की सार्वभौमिकता-एक छत्रता प्रगट करने के लिये वह अपने भाई बाहुबलि-से जूझ पड़े थे—परन्तु उनका युद्ध अहिंसक था। भरत परास्त हुये और अपमान को सहन न कर भाई के प्राणों के ग्राहक बने! बाहुबलि पुण्य-

वान् थे, उनका वाल बांका नहीं हुआ। प्रत्युत यह घटना उनके वैराग्य का कारण बनी—उन्होंने राज्य को तिलाञ्जलि दी और तपस्या करके मुक्त हुये। दक्षिण भारतके लोग अपने इस पहले सम्राट् का आदर विशेष करते हैं। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में बाहुबलि की वृहद्काय मूर्तियाँ एक नहीं, कई हैं। श्रवण वेल्गोल (मैसूर) की मूर्ति विश्वविख्यात् है। ऋषभदेव ने धर्मोपदेश देकर कैलाशपर्वत से मोक्षलक्ष्मी पाई थी।

हिन्दू शास्त्रों में ऋषभदेव को आठवाँ अवतार लिखा है। लिपिकौशल और ब्रह्मविद्या के उद्भावनके कारण ही हिन्दुओं ने उनकी गिनती अवतारों में की, प्रतीत होती है। ब्रह्मविद्या और ब्राह्मी लिपि ऋषभदेव से ही लोक को मिली—मानव संस्कृति के सुरक्षण के ये अपूर्व साधन थे। 'भागवत' में लिखा है कि 'जन्म लेते ही ऋषभदेव के अग में सब भगवत लक्षण झलकते, थे। सर्वत्र समता, उपशम, वैराग्य, ऐश्वर्य और महैश्वर्य से उनका प्रभाव बढ़ा था। वह स्वयं तेज, प्रभाव, शक्ति, उत्साह कान्ति और यश प्रभृति गुण से सर्वप्रधान बने थे। ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को राज सौंप परमहस धर्म सीखने के लिये ससार त्याग किया था। उन्होंने बताया था कि 'इन्द्रिय की तृप्ति ही पाप है। कर्म स्वभाव मन ही शरीर के बन्ध का कारण बन जाता है। स्त्री-पुरुष मिलने से परस्पर के प्रति एक प्रकार का प्रेमाकर्षण होता है। उसी आकर्षण से महामोह का जन्म है। किन्तु उस आकर्षण के टलने और मन के निवृत्ति पथ पर चलने से संसार का अहङ्कार जाता तथा मानव परमपद पाता है। 'भागवत' में लिखते हैं कि ऋषभदेव स्वयं भगवान् और कैवल्यपति ठहरते हैं। योगचर्या उनका आचरण और आनन्द उनका स्वरूप है। (५।४,५,६ अ०) *

* हिन्दी विश्व कोष, भा० ३ पृ० ४४४

'ऋग्वेद'—१'वराह पुराण'२—'अग्निपुराण'३ आदि ग्रंथों में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। उनका अपर नाम वृषभ था। लोग उन्हे आदिनाथ भी कहते थे। बौद्धग्रंथों मे भी ऋषभदेव ही जैनधर्म के संस्थापक कहे गये हैं। डा० स्टीवेन्सन सा० हिन्दू पुराणों मे वर्णित ऋषभदेव को जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर बताते हैं।४ डा० फुहरर ने मथुरा के स्तूपका अध्ययन करके निश्चय किया है कि एक अति प्राचीन समय मे श्री ऋषभदेव को अर्चन आदि अर्पित किये गये थे।५ स्व० श्री रामप्रसादजी चंदा ने सिंधु उपत्यका से प्राप्त मूर्तियों को तीर्थङ्कर ऋषभ के समान ही वतलाया था।६ अतः पाठक स्वयं समझ सकते है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेवजी का समय कितना प्राचीन है। वह रामचन्द्रजी से भी वहुत पहले-आर्य सभ्यता के अरुणोदय मे हुये थे। उनके बाद बाईस तीर्थङ्कर भ० महावीर से पहले हुये थे। रामचन्द्रजी २० वें तीर्थङ्कर के समयमें हुये थे।

इस प्रकार पाठकगण, देखे कि ऋषभदेव जी भ० महावीर

---

१ ऋषभंमासमानानां सपत्नानां विषासहिम्। इत्यादि- ऋग्वेद ८।८।२४

२. 'तस्य भरतस्य पिता ऋषभः, हेमाद्रे दक्षिणं वर्षं महद्भारत नाम शशास ॥' इत्यादि—

३. ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत्।
भरताद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत् ॥' अग्नि पु०

४. Stevenson, Kalpasutra, Intro.

५ मम पृ० २१

६. The standing deity figured on seals 3 to 5 (Pl. II) with a bull in the foreground may be the proto-type of Rishabha.—The Modern Review, August 1932.

से बहुत ही पहले हो चुके थे। किन्तु भ० महावीर के जीवन प्रसंग में उनका जिक्र करना इसलिये आवश्यक है कि कुछ लोग भ० महावीर को ही जैनधर्मका आदि प्रणेता समझते हैं, परन्तु यह ग़लत है। भ० महावीर ने जैनधर्म का पुनः प्रचार और उद्धार किया अवश्य, किन्तु जैनधर्म की स्थापना का श्रेय ऋषभदेव को ही प्राप्त है। वह जैनधर्म के इस युगकालीन संस्थापक थे।[१] किन्तु ऋषभदेवजी और महावीरजी के मत प्राय· एक समान थे—दोनों ने ही छेदोपस्थापना चारित्र का विधान जैनसंघके लिये किया था।[२] अर्थात् प्रत्येक व्रताचार पृथक-पृथक और विशद रूप में बताया था। सम्भव है उनकी प्रतिपादन शैली समय के अनुसार भिन्नरूप रही हो। यह तो स्पष्ट ही है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को गृह थावस्था में समाज व्यवस्था की रचना भी करनी पड़ी थी। उन्होंने स्वय गृहस्थाचार और दाम्पत्य जीवन का आदर्श लोक के सामने रक्खा था। भ० महावीर को इसकी आवश्यकता नहीं थी—उनके समयमें शीलधर्म की छीछालेदर हो रही थी—त्यागीजन भी भोग से अलिप्त न थे। इसलिये महावीर ने भोग को धता बताया--बाल ब्रह्मचारी रह कर योग का आदर्श उपस्थित किया! यूं ऋषभ और महावीर अपने-अपने समय के अनूठे महापुरुष थे।

---

१. 'ऋषभदेवजी हुये जिनसे जैनमत प्रगट हुआ।'—भाषा भागवत की सुखसागर टीका, स्कंध ५ अ० ६ पृ० ३०४।

'जैनधर्म ···का प्रचार ऋषभदेवजी ने किया था, इसकी पुष्टि के प्रमाणों का अभाव नहीं है।'—श्री वरदकान्त मुख्योपाध्याय, एम. ए.

विशेष के लिए "Jain Antiquary" (Vol. 1 No 2) में हमारा "The Founder of Jainisim" नामक लेख देखो।

२. मूलाचार।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि और भ० पार्श्वनाथ !

"हरिवंश केतुरनवद्यविनयदम तीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥"

—श्री समन्तभद्राचार्य ।

"हरिवंशके केतु, पंच विनयो के पालक, पंचेन्द्रिय विजयी, तीर्थनायक, शीलधर्म जलनिधि, अभव, अजर, जिनों मे हाथी के सदृश प्रधान आदि विशेषणों सहित श्री अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर हुये !"

नारायण कृष्ण ने जिस हरिवंश अथवा यदुवंश को सुशोभित किया था, उसी वंश के रत्न श्री अरिष्टनेमि थे । वह शौरीपुर मे राजा समुद्रविजय के यहाँ जन्मे थे । उनकी माता शिवादेवी थीं । जरासिंधु के साथ जव यादवों का युद्ध हुआ था, तब उसमे अरिष्टनेमि भी यादवसेना के साथ लड़े और विजयी हुये थे । आखिर यादव क्षत्रिय मथुरा और शौरीपुर को छोड़कर द्वारिकामे जा वसे थे । अरिष्टनेमि भी वहाँ ही गये थे । वह श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे । सदाचार और शौर्य मे वह सब यादवों से वड़े चढ़े थे । उनकी महान् विजय तो वह थी जब वह विवाह मडप से मुँह मोड़ कर गिरिनार के सहस्राम्रवन में तप तपने चले गये थे । रसभरी रमणी के मोहपाश को जीतना सुगम नहीं—अरिष्टनेमि को सहज ही रमणी रत्न मिल रहा था । किन्तु लोक को विश्वप्रेम का पाठ सिखाने के लिये उन्होंने उसे त्याग दिया । अरिष्टनेमि दूल्हा बने--उनकी वारात चढ़ी--राजा उग्रसेन की लाड़ली राजमती अपनी सौन्दर्य-राशि उन पर लुटा देने के लिये तैयार हुई--परन्तु अरिष्टनेमि तोरणद्वार से ही रथ मोड़ कर चलते वने । क्यों ? उन्होंने देखा बहुतसे पशु

बाड़े मे वन्द हुये बिलबिला रहे हैं। सारथी से यह जानकर कि वे पशु आगन्तुकों की महिमानदारी मे काम आयेंगे—आमिष भोजन उन्हीं का बनेगा! अरिष्टनेमि इसे सहन न कर सके--पशुओं को उन्होंने वंधनमुक्त किया और स्वयं लोकशिक्षक बनने की योग्यता पाने के लिये गिरिगिरनार की शिखर पर साधना में लीन हो गये। राजमती ने चाहा, वह वापस घर लौट चलें, परन्तु प्रभू नेमि को लोकका कल्याण करना था। लोक को द्यूत-सुरा और मासके विषैले-परिपाक से बचाना था। युधिष्ठिर के समान सत्योपासक द्यूतव्यसन में फसकर अपना सर्वस्व खो रहे थे—महिलाओं की प्रतिष्ठा लूटी जा रही थी--जिव्हालम्पटता की पूर्ति के लिये निरपराध पशु-पक्षियों के प्राण घोंटे जा रहे थे! यह करुण-दृश्य अरिष्टनेमि के युवक हृदय को मचला देने के लिये काफी था। उनका हृदय तड़पा—पशुओं का मूक आर्त-नाद उनके दिल में बैठा। उन्होंने घोर तपस्या की और कैवल्य-पद पाया। गिरिनार से उन्होंने अपना धर्मोपदेश प्रारम्भ किया--श्रीकृष्ण सदृश यादव उनके भक्त थे। लोकमे विहार करके उन्होंने अहिंसा धर्म का प्रचार किया और गिरिनार से ही मुक्त हुये। ब्राह्मणों के 'यजुर्वेद' अ० ६ मन्त्र २५ में सम्भवतः इन्हीं तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का उल्लेख है—वह नेमिनाथ जी के नामसे भी प्रसिद्ध थे। उस मंत्रमे इनका स्वरूप निम्न प्रकार वर्णित है—

"वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमाच विश्वभुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियात्ति विद्वान् प्रजां पुष्टि वर्धयमानो॥"

—अस्मै स्वाहा।

'अर्थात्—(स्वाहा) यह अर्चन उन (अस्मै) प्रभू नेमि (२२) वें तीर्थङ्कर ? को (समर्पित है, जो) (राजा) केवलज्ञान आदि के प्रभु (च) और (विद्वान) सर्वज्ञ (हैं) (स)

जिन्होंने वर्णित किया है (आवभूव) उसका यथार्थ रूपमे (सर्वतः) और ज्ञानके प्रत्येक योग्य सामञ्जस्य के साथ (वाजस्य) जो (ज्ञान) एक व्यक्ति के आत्मा का है (विश्वभुवनानि) इस लोक के प्रत्येक जीवधारी को और (उनके हितैषी उपदेश से) (पुष्टि) आत्मज्ञान की शक्ति (नु) तत्क्षण (वर्धयमानो) बढ़ती है (प्रजा) जीवों में ।'*

'यजुर्वेद' का यह वर्णन भ० अरिष्टनेमि की जीवन चर्या से ठीक बैठता है और उनके महान् व्यक्तित्व का पोषक है। जब श्रीकृष्ण जी की महानता मे हमें विश्वास है तो कोई कारण नहीं कि हम श्री अरिष्टनेमि के व्यक्तित्व में शङ्का करें। आधुनिक विद्वान् उनको एक ऐतिहासिक पुरुष मानते है १। जनसाधारण मे उनकी प्रसिद्धि जैन गुरू के रूपमें है—लोग कहते हैं कि जैनी बाबा नेमिनाथ को पूजते हैं—उन्होंने जैनधर्म चलाया; परन्तु यह लिखा जा चुका है कि इस युग में जैनधर्म की स्थापना तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने की थी। भ० महावीर से भ० अरिष्टनेमि का कोई सीधा सम्बन्ध प्रगट नहीं होता। यह अवश्य है कि अरिष्टनेमिजी के समय की जनता ज्यादा बहकी हुई हठीली नहीं थी—वह भोली और श्रद्धालु थी। जो पुरातन प्रथा उसे प्रचलित

---

* दिगम्बर जैन विशेषांक वीर सं० २४७३

१. "पार्श्वनाथ जी से पहले बाईसवें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ स्वामी भ० श्रीकृष्ण के सम्पर्क भ्राता थे।""भ० श्रीकृष्ण को यदि हम ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो हमें बलात् उनके साथ होने वाले २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ को भी ऐतिहासिक पुरुष मानना पड़ेगा।"

—श्री नगेन्द्रनाथ वसु, प्राच्यविद्या महार्णव इत्यादि

डॉ० फुहरर ने 'इपीग्रेफिया इंडिका' (भा० १ पृ० ३८९) में और डॉ० टॉमस ने 'मिडेविल क्षत्रिय क्लैन्स ऑव इण्डिया' की भूमिका में यही प्रगट किया है।

मिलीं, उन्हीं को उसने अपनाया। जैनशास्त्रों से स्पष्ट है कि बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ से ब्राह्मण वैदिक ऋषिगण अहिंसा मार्ग से भटक गये थे—उन्हें सुरा और मांसका चस्का पड़ गया था, इसलिये उन्होंने वेदों मे उनका विधान करके अपनी रसना-तृप्ति का साधन जुटा लिया था।[१] सुरा और मांस का प्रचार आर्य जनता में खूब हुआ था। भ० अरिष्टनेमि ने इस कुप्रथा के विरुद्ध प्रचार किया—लोगों को अन्ध अनुकरण से जगाया—उन्हें ज्ञान नेत्र दिया—अहिंसा का प्रचार हुआ अवश्य, परन्तु वह प्रतिक्रिया इतनी बलवती सिद्ध न हुई कि अहिंसा का साम्राज्य स्थापित कर देती! याज्ञवल्क्यके निकट आत्म-काम (Self-love) मुख्य था। वह कहते थे कि त्याग अवस्था में भी स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि भोगोपभोग की वस्तुओं को एकत्रित करना बुरा नहीं है।[२] जहाँ इस प्रकार का प्रचार हो, वहाँ अहिंसा और संयमके लिये कहाँ गुञ्जाइस? फिर भी अरिष्टनेमिजी अपने प्रचार में सफल हुये। उनके समयके भोले जीव जल्दी सन्मार्ग पर आगये। इसलिये ही उन्होंने सामायिक चारित्र का प्रतिपादन किया[३]— भ० महावीर के समान छेदोपस्थापना चारित्र—भेद प्रभेदरूप व्रताचार के वर्णन का उपदेश उन्हें नहीं देना पड़ा। हाँ, जिस अहिंसा धर्म के भव्य प्रासाद का नींवारोपण अरिष्टनेमि जी ने किया, उसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पश्चात् भ० महावीर ने ही ऊँचा फहराया।

---

१. हरिवंश पुराण में नारद-पर्वत संवाद देखो।

२. ए हिस्ट्री आव प्रे-बुद्ध० इण्डियन फिलासफी, पृ० १९२-१८०

३. बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
   छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥ ७-३२॥
   —मूलाचार

भ० पार्श्वनाथ तेवीसवे तीर्थङ्कर थे और वह भ० महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले हुये थे।१ बनारस के राजा अश्वसेन और रानी वामा के वह सुपुत्र थे। उन्होंने भी भ० अरिष्टनेमि का अनुसरण किया था—उन्हीं के समान वह भी कौमारावस्थामें ही गृहत्यागी हुये थे—बाल ब्रह्मचारी रहकर उन्होंने योग की उत्कृष्टता को प्राप्त करके सर्वज्ञ पद पाया था। कमठ-सदृश हठयोगियों के भ्रम को उन्होंने ज्ञान-दान देकर मिटाया था—जनता अहिंसा की ओट में हिंसा का अनुभव कर रही थी! भ० पार्श्वनाथ ने उसे मिटाने का उद्योग किया। उन्होंने अपना एक साधुसंघ अलग स्थापित किया उसमे भ० महावीर के संघ से यह विशेषता रक्खी कि—चारित्र नियमों को सैद्धान्तिक-साचे में नहीं ढाला। सीधेसादे भक्तों को तर्क की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि भ० पार्श्वनाथ तर्कज्ञान से अछूते थे—उन्होंने कोई सिद्धान्त प्ररूपा ही नहीं! तत्कालीन धार्मिक स्थिति उनके धर्मके सैद्धान्तिक रूपको प्रकट कर देती है।२ हाँ, यह मान्यता गलत प्रमाणित होती है कि भ० पार्श्वनाथ ने अपने साधु-शिष्यों को वस्त्र पहनने की आज्ञा दे दी थी और अहिंसा-अचौर्य-सत्य और अपरिग्रह रूप चार व्रतों का विधान किया था। वस्तुतः उन्होंने व्रतों के भेद निरूपे ही नहीं—सामायिक चारित्र विधान मे उनके भेदोपभेद रूप कथन करने की आवश्यकता ही नहीं थी। उन्होंने अहिंसा-व्रत का प्रतिपादन किया और उसी मे सभी व्रतों का समावेश कर दिया। इसलिये भ० महावीर ने उनके बताये हुये चार व्रतों

---

१. 'पार्श्वेस तीर्थसन्ताने पंचशद्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तर वर्त्यां महावीरोत्र जातवान्॥ २७६॥"

—उत्तर पुराण

२. देखो भगवान् पार्श्वनाथ पृ० ४७८-४७९

में एक शीलव्रत नहीं बढ़ाया, बल्कि उन्होंने अहिंसाव्रत का विवेचन भेदोपभेदरूप में करके उसके पाच रूप (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) ब्रह्मचर्य, (४) अचौर्य और (५) अपरिग्रह बताये। मूलत' भाव रूपेण इनमे अन्तर कुछ भी न था। किन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रों मे सवस्त्र साधुता को प्राचीनताका रंग देने के लिये उक्त प्रकार के अन्तर दोनों तीर्थंकरों के मतों में बताये गए हैं। दिगम्बर मान्यता इसके विपरीत है। यह हो भी नहीं सकता। बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती कि जब सवस्त्र दशा से ही मुक्ति पाना सुलभ था, तब कोई कैसे नग्न रहने की घोर परीषह सहन करता? भ० महावीर उसका निरूपण ही क्यों करते? धर्म विज्ञान मे काम की सूक्ष्म गति को जीतना परमावश्यक बताया है--नग्नता इस बात का प्रमाण है कि साधक ने लज्जा और वासना को जीत लिया है—उसको इन्द्रियउद्रेक किसी भी दशामे नहीं होता। श्वेताम्बरग्रंथ 'आचाराङ्गसूत्र' मे इसी कारण नग्न वेष को ही सर्वोच्च श्रमणदशा बताई है[१]। भ० गौतमबुद्ध के पहले से ही नग्न वेष साधुता का चिन्ह माना जाता था[२]। सवस्त्र वानप्रस्थ सन्यासियों के अतिरिक्त नग्न श्रमण सम्प्रदाय पृथक विद्यमान था। अत. यह नहीं कहा जा सकता कि भ० महावीर ने ही पहले पहल नग्नता को साधुपद के लिये आवश्यक ठहराया और स्वयं नग्न रहे। धर्मविज्ञान ही उसकी आवश्यकता को निरूपता है—अन्तर बाहर, सब ओर से मुमुक्षु को परिग्रह रहित नंगा रहना उचित है। जैनेतर साहित्य भी

---

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भा० १ पृ० ५५-५६

२ इण्डियन एंटीक्वेरी, भा० ६ पृ० १६२

दिगम्बर मान्यता का पोषक है१। अत: यह मानना ठीक है कि भ० पार्श्वनाथ नग्नवेषमे रहे थे और उनके साधु शिष्य भी नग्न रहते थे। बौद्धग्रंथ 'महावग्ग' मे ऐसे 'तित्थिय' श्रमणों का उल्लेख है जो नग्न रहते थे। यह श्रमण भ० महावीर से पहले के जैन साधु थे२। सचमुच भ० महावीर और भ० पार्श्वनाथ—दोनों ही दिगम्बर वेष मे रहे थे—मोक्ष पाने के लिये बाह्य लिङ्ग दिगम्बरत्व है- यह धर्म विज्ञान का सिद्धान्त है। प्रत्येक तीर्थङ्कर और मुनि इस दिगम्बर भेष मे रहता है। अब रही बात चार व्रतों की, सो यह श्वेताम्बर मान्यता भी तथ्यपूर्ण प्रतीत नहीं होती। मालूम ऐसा होता है कि प्राचीन बौद्ध शास्त्रों मे प्रत्येक धर्म प्रवर्तक की साधुता की द्योतक चार बातों का विधान देखकर भ० पार्श्वनाथ के विषय मे वैसा ही विधान कर दिया गया, किन्तु बौद्धग्रंथ मे 'चातुर्याम् संवर' का भाव चार व्रतों से नहीं है, बल्कि उसमे भ० महावीर की साधुता को बताने के

---

१. ऋग्वेद १०।१३६; वराहमिहिरसंहिता १६।६१ व ४२।४८, महाभारत ३।२६-२७; दिव्यावदान पृ० १६५; जातकमाला भा० १ पृ० १४५, विशाखा वत्थु धम्मपदत्थ-कथा, भाग १ खंड२ पृ० ३८४; डायलाग्स आव बुद्ध ३,१४, महावग्ग ८।१।५, ३।१,३८।१६; चुल्लवग्ग ४,२८,३; संयुत्तनिकाय २,३,१०,७

भारतीय पुरातत्व से भी जैनसंघ में दिगम्बरत्व की मान्यता स्पष्ट है। मोहन-जो दड़ों से प्राप्त ५००० वर्ष पहले की जैनियों सदृश मूर्तियां नग्न हैं। उस पर सब ही प्राचीन जिन प्रतिमायें नग्न मिलती हैं—श्वे० मान्यता की मूर्तियां भी पहले नग्न होती थीं।

विशेषके लिये हमारा अंग्रेज़ी लेख 'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी' १९२९-३० और 'प्रो० काने अभिनन्दन ग्रन्थ' (Prof. Kane) में देखो।

२. भ० महावीर और म० बुद्ध (सूरत) पृ० २३७-२३८

लिए उनकी साधना के चार नियमों का उल्लेख किया है।[१] वह भ० पार्श्वनाथ के चार नियम कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार श्वेताम्बर शास्त्रों की यह मान्यता निराधार है। इसके आधार से श्वे० अपने को प्राचीन पार्श्वसंघ से उद्भूत सिद्ध नहीं कर सकते। पार्श्वसंघ के साधुगण उपरान्त स्वतः वीर सघ में सम्मिलित हो गये थे!

किन्हीं विद्वानों की यह धारणा है कि भ० महावीर अपने पितृगण के अनुकूल भ० पार्श्वनाथ के भक्त थे और गृहत्याग कर वह पार्श्वसंघ में सम्मिलित हुए थे, परंतु समूचे जैन साहित्य मे ऐसी साक्षी उपलब्ध नहीं है जिससे यह बात सिद्ध हो। सब ही जैन ग्रंथों में यही लिखा है कि तीर्थङ्कर स्वयबुद्ध होते हैं—वह अपना मार्ग आप बनाते हैं और समयानुकूल तीर्थ की स्थापना करते हैं। भ० महावीर ने भी यही किया था। वह किसी भी सम्प्रदायके सघमें सम्मिलित नहीं हुये थे।

लोगों की यह भी धारणा है कि भ० पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के संस्थापक हैं, परन्तु पाठक पढ चुके हैं कि जैनधर्म के संस्थापक इस काल मे भ० ऋषभदेव थे। अतः पार्श्व या और किसी तीर्थंकर को जैनधर्म का संस्थापक कहना मिथ्या है। जैनियों की चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता प्राचीन है, जिनमें पहले भ० ऋषभदेव और सर्व अन्तिम भ० महावीर थे।

---

१. भ० महावीर और म० बुद्ध, पृ० २२२-२२७
और भ० पार्श्वनाथ, पृ० २४८-२५१

भ० महावीर और भारतीय दर्शन ।

"Yea ! His (Jina Mahavira's) religion is only true one upon earth,—the primitive faith of all mankind." —Rev. J. A. Dubois.

तत्वरूपेन धर्म-सिद्धान्त के दो रूप नहीं हो सकते—वस्तु का स्वभाव (Nature) वदलता नहीं है। वाह्य कारणों और सम्बन्धों की अपेक्षा उसका प्रतिभाष अन्यथा होना सम्भव है, परन्तु यह अल्पज्ञता का दोष है। इस दृष्टिदोष के कारण ही लोक मे अनेक मत-मतान्तर दिखते है। भ० महावीर ने उनके समन्वय के लिये अनेकान्त सिद्धान्त प्ररूपा है।

कहीं-कहीं यह मत फैला हुआ है कि समस्त भारतीय दर्शन वेदों से निकले है, किन्तु यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। जैनदर्शन तो वेदों से भी प्राचीन होना सम्भव है, क्योंकि उसमे अणुसिद्धान्त (Atomic Theory) और कर्मसिद्धान्त का वर्णन मौलिक और अति प्राचीन (Primitive) है।[1] कर्म सिद्धान्त मे व्यवहृत पारिभाषिक शब्द (Technical Terms) जैसे आश्रव-बंध-संवर-निर्जरादि जैनदर्शन में ही शब्दार्थ मे व्यवहृत हुये मिलते हैं—अन्यत्र उनका सद्भाव नहीं है।[2] आवागमन सिद्धान्त की मौलिकता कर्मसिद्धान्त पर अवलम्बित है—वेदों में आवागमन सिद्धान्त मान्य है, परन्तु उनमे कर्म सिद्धान्त नगण्य है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जैनदर्शन का उद्भव वेदों से हुआ है, अथवा जैनधर्म वैदिक धर्म की शाखा है। वैदिकधर्म

---

1. ERE, Vol. II pp. 199-200

२. इंसाइक्लोपेडिया ऑव रिलीजन एंड ईथिक्स, भा० ७ पृ० ४७२

ईश्वरकर्तृत्व और क्रियाकाण्ड प्रधान है, जैनधर्म अकर्तृत्ववादी वैज्ञानिक मत है—वह एक स्वाधीन धर्म है।[1] इसीलिये स्व० डुबोइ सा० के शब्दों में जैनधर्म ही भूमण्डल पर एक सच्चा और मनुष्यों का आदि धर्म है।

इस सत्यधर्म का सर्व अन्तिम उपदेश भ० महावीर ने दिया था। उनके सिद्धान्तों की तुलना भारतीय दर्शनों से करके आइये पाठक यह देखिये कि उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है? भारतीय दर्शनों में वेदान्त की गणना प्रमुख है। वेदान्त दर्शन दृश्यरूप जगत और उसके दर्शकको एक मानता है।[2] वह कहता है, 'ब्रह्मरूप जगत है—वह ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ और ब्रह्ममें ही लय हो जावेगा।[2] ब्रह्म से जन्म, स्थिति, नाश (जन्माद्यस्य यत इति २।२) होता है। ब्रह्म नित्य है—सर्वज्ञ है—सर्वव्यापी है—सदा तृप्त है, शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव है'—विज्ञानमई-आनन्दमई है।[3]' किन्तु भ० महावीर ने बताया है कि मुक्तात्मा परमब्रह्म अकर्त्ता और जगतसे भिन्न है। नित्य और तृप्त ब्रह्मसे कोई कार्य नहीं हो सकता और हो भी, तो द्वैतरूप—शुभाशुभरूप नहीं हो सकता। आनन्दमय ब्रह्म मे यह भाव कहाँ से आवे कि वह अनेकरूप हो जावे? दो भिन्न वस्तु होने से ही बध और मुक्ति बन सकती है—एक शुद्ध ब्रह्म में यह कैसे सम्भव हो? एकान्त रूप यह मान्यता नयों की अनभिज्ञता का परिणाम है। जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म है। स्वभाव से ससारी और

---

१. "जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण रूप नहीं है।" —प्रो० जैकोबी

२. श्यामकृत 'वेदान्त दर्पण' देखो, पृ० ३०

३. 'नित्यस्सर्वज्ञस्सर्वगतो नित्य तृप्त शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावा विज्ञानमानन्दब्रह्म।'—वेदान्त दर्पण

मुक्तात्मा दोनों एक समान हैं; परन्तु इतने पर भी यह भेद तो—व्यवहार नय के विषय को तो, दृष्टि में रखना ही होगा कि देही आत्मा-संसारी जीव शुद्ध ब्रह्म रूप होते हुये भी उससे भिन्न अशुद्ध है। इसलिये उसका संसार और वह एक नहीं हो सकते। निश्चयादिनयों से वेदान्त की मान्यताओं को देखा जावे तो समन्वय हो जाता है। मायादृष्टि ही संसार लिप्त ब्रह्म को शुद्ध ब्रह्म से पृथक भेदित नहीं होने देती और यह अविद्या है जो ब्रह्म को पृथक-पथक व्यक्तिरूप मे प्रदर्शित करती है। व्यक्तिरूप ब्रह्म ही तो अपना संसार बनाता है, इसलिये ही ब्रह्ममय संसार है। वरन् चेतन और अचेतन एक कैसे होवें ? तत्वरूपेण ब्रह्म शुद्ध-बुद्ध अवश्य है। वेदान्त को यदि इस प्रकार समझा जाय तो भ० महावीर के सिद्धान्त से उसका समन्वय हो सकता है।

सांख्य दर्शन के दो रूप मिलते हैं। कपिल ऋषि ने निरीश्वरवादी सांख्य मत का प्रतिपादन किया था। वह आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं और उसे अकर्त्ता एवं निर्लेप बताते हुए फल का भोक्ता बताते हैं। (अकर्तुरपि फलोपभोगो अन्नादि वत्)। पुद्गल (Matter) 'प्रकृति' नामसे उल्लिखित है, जिसका विकार अहंकार है। यह अहंकार ही कर्त्ता है—आत्मा कर्ता नहीं है। इतना ही नहीं, कपिल यह भी मानते हैं कि आत्मा में आनन्द धर्म नहीं है—इसलिये आनन्द रूप मोक्ष नहीं है।[1] यहाँ भी नय-वाद के अज्ञान ने गड़बड़ मचा दी है। निश्चयनयानुसार अथवा शुद्धरूपेण आत्मा अकर्त्ता और निर्लेप है; परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा, वह अशुद्ध है—पुद्गल से उसका अनादि सम्बन्ध है। पुरुष और प्रकृति के मेल से ही अहंकार उत्पन्न

---

१. 'अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ २४ ॥ ६'—सांख्य दर्शन

'नानन्दभि व्यक्ति मुक्ति निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥ ५ ॥ सां० दर्शन

हुआ है, जो जीव का वैभाविक स्वभाव कहा जा सकता है! शुद्ध पुद्‌गलमे अहकारादि दोष नहीं मिलते। इसलिये अशुद्ध जीव कर्त्ता और फल का भोक्ता है। वह आनन्दरूप है, यह मानव का दैनिक अनुभव बताता है।

पातञ्जलि—मान्य सांख्य सेश्वरवादी है। वह ईश्वर को क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से अस्पृष्ट मानते है और कहते हैं कि ईश्वर स्वेच्छा से निर्मित शरीर में अधिष्टान करके लौकिक और वैदिक सम्प्रदाय की वर्तना करता है एवं संसार रूप अङ्गार से तप्तायमान प्राणीगण के प्रति अनुग्रह वितरण करता है।[१] आत्मा को यह भी अपरिणामी मानते हैं। किन्तु जो शुद्ध रून ईश्वर आशय रहित है उसमें शरीर धारकर कृपा करने का भाव नहीं हो सकना है। शरीर तो अशुद्ध जीव अनादि से धारण करता आया है और वह स्वयं ही सुख दुख भोगता, कर्म करता और कर्म से मुक्त भी होता है। हाँ, शुद्ध निश्चय दृष्टि से वह शुद्ध-बुद्ध परम ब्रह्म ही है।

नैयायिक और वैशेषिक-यह दोनों दर्शन प्राय. एक समान हैं। उनकी मान्यता है कि यह जन्तु अज्ञानी है। इनका सुखदुख स्वाधीनता रहित है—वे ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग या नर्क में जाते हैं। मुक्तिप्राप्त जीव व विद्या के ईश्वर शिवरूप हैं, तथापि परमेश्वर के वश हैं—वे स्वतन्त्र नहीं हैं।[२] जगत जीवों का

---

१. 'परमेश्वरः क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः स्वेच्छया निर्माण कायमधिकाय लौकिक वैदिक सम्प्रदाय प्रवर्तकः संसारां-

२. अज्ञो जन्तुर नीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः।
ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥६॥
मुक्तात्मानां विद्येश्वरादीनाञ्च यद्यपि शिव त्वमस्ति तथापि परमेश्वर पारतन्त्र्यात्स्वातंत्र्यं नास्ति।
—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १२४-१२५

सुखदुख एक हद तक अवश्य स्वाधीन नहीं है, क्योंकि पूर्व कर्मबन्ध का परिणाम विना भोगे नहीं मिटता है। किन्तु यह कहना कि शुद्ध-बुद्ध ईश्वर की प्रेरणा से वह स्वर्ग और नर्क जाते हैं युक्तियुक्त नहीं। सामान्य पुरुष भी अपने बालकों को दुष्कर्म नहीं करने देता, तो सारे जग का पालक ईश्वर कैसे अपने आधीन जीवों को दुष्प्रवृत्ति करने देगा? यहाँ नय-प्रमाण की अज्ञानता भ्रमोत्पादक बनी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि आत्मा शुद्ध रूप मे ईश्वरतुल्य है और वही अनादि से पुद्गल ससर्ग मे पड़ी संसृति के चक्कर लगा रही है—इसलिए वही कर्त्ता और फलदाता है। उसके अतिरिक्त और कोई परमेश्वर नहीं है। मुक्तात्मा पूर्ण स्वाधीन है।

मीमांसादर्शन यद्यपि ईश्वर की सत्ता नहीं मानता है, परन्तु वह शब्द और वेद को अनादि अपौरुषेय मानता है उसके मतानुसार यज्ञादि कर्म करना ही धर्म है।[१] ज्ञानप्रवाह रूपमे अवश्य अनादि है; परन्तु शब्द को अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द पुद्गल (Matter) का विकार है। इसलिये वह होठ तालू आदि से बोले जाते हैं, जिससे उनकी उत्पत्ति पुरुष के आधीन ठहरती है। सर्वज्ञ जीवन्मुक्त परमात्मा से ही वह ज्ञान प्रकाशमान् होता है इसीलिये वह 'श्रुति' है। निस्सन्देह सशरीरी परमात्मा सामान्य पुरुष नहीं होते। यदि इसलिये उन्हे अपुरुष कहा जाय तो किंचित् ठीक भी है—वह विशिष्ट विज्ञानी पुरुषातीत महापुरुष हैं। इन महापुरुष के बताये हुये धर्म का अनुकरण करना श्रेय है। मूल मे ऋग्वेदादि उन्हीं के बताये हुये धर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन अलंकृत भाषा मे करते थे—उनमे पशुयज्ञादि हिंसाकर्म करने का विधान नहीं

---

१. वेदस्य अपौरुषेयतया निरस्त समस्त शंका कलंकांकुरत्वेन स्वतः सिद्धम्। —सर्वदर्शन संग्रह पृ० २१८

था। मूल मीमांसकों की मान्यता ऐसी ही हो, तो आश्चर्य क्या।

बौद्ध दर्शन भी ईश्वर को जगतकर्ता नहीं मानता, परन्तु वह सत् पदार्थों को क्षणभंगुर बताता है--१ संसार में कोई पदार्थ नित्य नहीं है। किन्तु यह मान्यता भी नयवाद की ऋणी है—अन्यथा सर्वथा एकान्तदृष्टि से सब पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो एक समय में जो आत्मा है, वह दूसरे समय में नहीं रहेगा--फिर उसके किये हुये कर्मों का फल कौन भोगेगा? इसलिये यह बात बनती नहीं है। हाँ, यदि हम ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा यह कहें कि पदार्थ क्षणिक हैं तो एक हद तक ठीक है—ऋजुसूत्र नय समयवर्ती है और यह स्पष्ट है कि पदार्थों में समयवर्ती परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि वे अपने मूल स्वभाव में ज्यों के त्यों रहते हैं। शायद म० बुद्ध ने लोगों को संसार से विरक्त करने के लिये पदार्थों की क्षणभंगुरता पर जोर दिया।

इस प्रकार पाठक महोदय, भारतीय दर्शनों का सम्बन्ध जिनदर्शन से प्रगट होता है और वह इस बात की दलील है कि उन दर्शनों की वास्तविकता को परखने के लिये भ० महावीर की दार्शनिक मान्यताएं खास महत्व रखती हैं। जिनदर्शन नय-प्रमाण-युक्त स्वयं परिपूर्ण है—वह वस्तु स्वरूप का ठीक परिज्ञान कराता है। चहुँ ओर से निराश होकर भी यदि जिज्ञासु जिनदर्शन का अध्ययन करे तो उसे परम सन्तोष प्राप्त होना शक्य है। सर्वदर्शनों के अन्वेषक विद्यावारिधि स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी ने यही लिखा है कि 'सत्यान्वेषण में जब धर्म की ओर पहुँचा जाता है और मान एवं माया को उठाकर ताक में रख दिया जाता है, तब जिज्ञासु देखता है कि जैनधर्म उन सर्व मतों में अनुपम है जो सत्य बताने का दावा करते हैं।'

---

१. यत् सत् तत् क्षणिकं—सर्व दर्शन संग्रह पृ० २०
(ब्र० शीतलप्रसाद कृत जैनधर्म प्रकाश से)

वीर-निर्वाणोपरान्त संघ और उसके भेद ।

"एकं समयं भगवो सक्केसु विहरति सामगामे । तेन खो, पण समयेण निग्गन्ठो नाठपुत्तो पावायं अधुना कालकत्तो होति, तस्स कालकिरियाय भिन्न निगंठ द्वेधिक जाता, भंडन जाता, कलह जाता विवादापन्ना अण्ण-मण्णम् मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति ।"

—मज्झिमनिकाय[1]

भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त जैनसंघ का नेतृत्व क्रमशः इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मा स्वामी ने किया था । वे केवलज्ञानी निर्ग्रन्थ श्रमण थे । उनके पश्चात् अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी और श्रुतकेवलियों मे सर्व अन्तिम भद्रबाहु स्वामी हुये थे । दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का उस समय कोई अस्तित्व नहीं था । इसीलिये दोनों सम्प्रदायों के शास्त्र भद्रबाहुजी को अन्तिम श्रुतकेवली मानने मे एकमत हैं । उनके पश्चात् दोनों सम्प्रदायों मे भिन्न भिन्न गुरु परम्परायें मानी गईं मिलती हैं । अतएव यह मानना सुसंगत है कि भद्रबाहु स्वामी के समय तक अर्थात् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल तक जैनसंघ मे विच्छेद की जड़ जमी नहीं थी । यूँ तो श्वेताम्बरीय शास्त्रों से विदित होता है कि भ० महावीर के जीवन कालमे ही जामालि ने संघ में एक विद्रोह खड़ा किया था, जो असफल रहा था । एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर के समक्ष एक छद्मस्थ श्रमण भला कैसे टिक सकता था ? किन्तु इस घटना से, यदि यह घटित हुई हो, यह बात स्पष्ट है कि जैनसंघ मे विद्रोह का विष तभी से घोला जा रहा था । लोक मे अदेखसका-दुर्भाव अपना घातक

प्रभाव सदा से दिखाता आया है। महापुरुषों के जीवन में ही लोग उनकी वाणी का विपर्यय करते नहीं चूकते, तो उनके पश्चात् तो उनकी वाणी और वचनों का मनमाना अर्थ करना कुछ भी अटपटा नहीं है। जैनसंघ में भी ऐसी ही घटना घटित हुई प्रतीत होती है। बौद्धों के 'मज्झिम निकाय गत सामगॉम सुत्तन्त' के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त जैनसंघ में कलह और विवाद खड़े होगये थे, जिनके कारण निर्ग्रन्थ जनसंघ फूट कर एक से अधिक भागों मे बंट गया था। मौर्यकाल में ही बौद्धों और जैनों ने पाटलिपुत्र में अपने २ संघों की सभा बुलाकर श्रुत-संकलन किया था। बौद्धों के पिटकत्रय की पहली आवृत्ति इस सभा मे ही अवतरित हुई। और जैनों ने अपनी सभा मे वीर-वाणी का सकलन किया। किन्तु मजा यह था कि इस सभा में पूर्ण श्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली भद्रबाहुजी उपस्थित ही नहीं हुये थे। इस प्रकार यह सभा एकाङ्गी हुई थी और इसमें ही फूट का बीज अकुरित होकर पल्लवित हो चला था।

बात यह हुई कि इसी समय एक दुष्काल आ उपस्थित हुआ। मगध और उसके आसपास बारह वर्षों का अकाल पड़ा—उत्तर भारत में अन्न-वस्त्र के लाले पड़ गये। स्थिति ऐसी विषम हुई कि भूखे भिखारी भेड़िये बन गये—वे जिसको भर पेट खाता-पीता देखते, उसी का पेट चीर कर अपनी ज्वाला शमन करते। भद्रबाहु स्वामी ने इस दुष्काल की सूचना पहले से ही संघ को दे दी थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जब यह सुना तो वह ससार की स्थिति से भयभीत हो गये। अपने पुत्र को राजभार सौंप कर वह मुनि हो गये। भद्रबाहु जी के साथ वह संघसहित दक्षिण भारत को प्रस्थान कर गये थे। वहाँ मैसूर प्रान्तार्गत कटवप्र पर्वत पर उन्होंने समाधिमरण किया था। इसी कारण

उस पर्वत का नाम उपरान्त चन्द्रगिरि प्रसिद्ध होगया और उस पर सम्राट् चन्द्रगुप्त की पावन स्मृति मे मंदिर और मूर्त्तिया निर्मित की गईं जिनमें सम्राट चन्द्रगुप्त के जीवन की घटनायें भी उकेरी हुईं हैं[1]। इस घटना के पश्चात् जब दक्षिण भारत से संघ लौटकर उत्तर भारत आया तो वह यह देखकर विस्मित हुआ कि दुष्काल की कठिनाइयों ने उत्तर भारत में रहे हुये निर्ग्रन्थ श्रमणों को शिथिलाचारी बना दिया है—वे लोग वस्त्रों का प्रयोग करने लगे है। आगन्तुक संघ ने उनका सुधार करना चाहा परन्तु वह शिथिलाचार को छोड़ न सका[2]। प्रमाद के वशमें हुआ जीव सत्य से भटकता ही है। उसपर, समय विषम हो चला था—भविष्य दूरुह होता दिख रहा था। इस कलिकाल मे निर्ग्रन्थ श्रामण्य का पूर्ण पालन एक प्रकार से असम्भव ही है। ऐसा सोचकर स्थूलभद्रादि जैनाचार्यों ने स्वकल्पित आचार नियमों का प्रतिपादन कर जैनसंघ को दो धाराओं मे बहने दिया। इसीलिये बौद्धों ने लिखा कि वीर निर्वाण के पश्चात् निर्ग्रन्थ आपस में लड़े झगड़े और बंट गये।

किन्तु इस बंटवारे का अर्थ यह नहीं कि मौर्यकाल में ही दिगम्बर और श्वेताम्बर जैसे दो भिन्न सम्प्रदाय खड़े हुये थे, प्रत्युत एक ही संघ में दो प्रकार के साधुगण अपनी - चर्या मे लीन थे। नग्न रहने की प्राचीन परम्परा को दोनों ही महत्व देते थे और दोनों ही नग्न रहते थे। हाँ, प्राचीन परम्पराके विद्रोही प्रगतिवादी समयानुसार प्रवृत्ति कर रहे थे। वे जब बाहर निकलते तो एक खंड वस्त्र कलाई पर लटकाकर नग्नता का

---

1. जै० शि० सं०, भूमिका और श्रवणबेल गोला देखो।
2. संजैइ० भा० २ खंड १ पृ० २०३-२१७

आवरण कर लेते थे और वह खंड वस्त्र सदा ही अपने पास रखते थे—वे पाणि पात्री भी नहीं रहे थे—उन्होंने भोजन पात्र भी ले लिये थे। भ० महावीर की प्राचीन कठोर तपश्चर्या के समक्ष यह शिथिलाचार था और यह धीरे धीरे ही बढ़ सकता था। यह लोग उस समय 'अर्द्धफालक' निर्ग्रन्थ कहलाते थे। श्री हरिषेणाचार्य जी ने इनका उल्लेख अपने 'कथाकोष' में किया है। उधर मथुरा के कंकालीटीला से ऐसे कितने ही आयाग पट प्राप्त हुये हैं, जिनमें साधुजन हाथ पर खंड वस्त्र लटकाये हुये उत्कीर्ण किये गये हैं—वैसे वे नग्न हैं। इनमें एक का नाम 'कण्ह श्रमण'[1] अङ्कित है, जो श्वेताम्बरीय परम्परा में एक मान्य आचार्य हुये हैं।

इस प्रकार मौर्यकाल से जैनसंघमें 'अर्द्ध फालक' नाम से कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमण प्रसिद्ध हो गये थे, जो यद्यपि रहते तो नग्न थे, परन्तु नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र रखते थे। उन्होंने

---

१. जैन स्तूप एण्ड अदर ऐन्टीक्टीज आव मथुरा, प्लेट नं० १० । आज कल यह पट्ट लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में है। संग्रहालयके भूतपूर्व अध्यक्ष श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने इसके विषय में लिखा था कि 'पट्टके ऊपरीभाग में स्तूपके दो ओर चार तीर्थंकर हैं, जिनमें तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालकृत) और चौथे सम्भवत म० महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं। पर तीर्थंङ्कर मूर्तियों पर कोई चिन्ह नहीं है। और न वस्त्र। पट्ट में नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण है जिसका नाम कण्ह श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथ में सम्मार्जनी और बाएं हाथ में एक कपड़ा (लंगोट ?) लिए हुए है। शेष शरीर नग्न है।'' (पत्र नं० १२ ता० ११।८।४३)

वीर वाणी के अङ्गोपाङ्ग शास्त्रों का भी मनमाना संकलन किया था। वीर वाणी द्वादशाङ्ग रूप में सर्वाङ्ग उपलब्ध नहीं हो रही थी—उसका लोप श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही हो गया था। फिर तो एक देश द्वादशाङ्ग वाणी के ज्ञाता ऋषिवर ही शेष थे, जो अपनी अपनी बात आगे ला रहे थे। कलिङ्ग चक्रवर्ती प्रसिद्ध जैन सम्राट् ऐल खारवेल ने कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का वृहद् सम्मेलन करके द्वादशाङ्ग जिनवाणी के उद्धार का प्रयत्न किया अवश्य [१] परन्तु उसका भी कोई सुफल नहीं हुआ। परिणामत: विरोधकी क्षीणधारा प्रबल होती गई और ईस्वी प्रथम शताब्दि में स्पष्ट होकर वह श्वेतपट अथवा श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गई।[२] प्राचीन जैन श्रमण जो नग्नता को श्रामण्य के

---

१ जर्नल आव दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३ पृष्ठ २३१ इत्यादि।

२. पाश्चात्य विद्वान् भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। श्रीमती स्टीवेन्सन ने "हार्ट आव जैनीज्म" (पृ० ३९) पर लिखा है कि "धीरे धीरे इन साधुओं की चर्या परिवर्तित होती गई और नग्न रहने की प्राचीन प्रथा छोड़ दी गई। इन साधुओं ने श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया।" (Gradually the manners and customs of the Church changed and the original practice of going abroad naked was abandoned. The ascetics began to wear the "white robe" अन्त में उन्होंने इस प्रसंग में अन्यत्र यही स्पष्ट किया कि ईस्वी प्रथम शती के लगभग श्वेताम्बरों की उत्पत्ति हुई—न कि दिगम्बरों की ("It is much more likely, however, that that the Swetambera party originated about that time and not the Digambara. Kalpasutra, Preface, p. xv.)

लिये आवश्यक मानते थे, अपने प्राचीन निर्ग्रन्थ नाम से ही प्रसिद्ध रहे[1]। वही निर्ग्रन्थ आगे चलकर दिग्वास अथवा दिगम्बर नाम से उल्लेखित किये जाने लगे। विरोधकी यह भावना यहाँ ही नहीं रुकी, प्रत्युत उसका बांध जो टूटा तो वह शत-धाराओं में वह निकली—दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों मे अनेक गणों और गच्छों का प्रादुर्भाव हो गया। किन्तु यह भेदभाव तो जैनत्व के अनुकूल नहीं है। जैन की महिमा उसके अनेकान्तरूप से है, जो सभी विरोधों का समन्वय करता है। फिर क्या कारण है कि जैन आज भी उस समन्वय-दृष्टि को नहीं अपनाते और लोक में अनेकान्त प्रभुता को मूर्तमान नहीं बनाते? क्या उन्होंने अनेकान्तधर्म नहीं पहिचाना है? भ० महावीर के अनुयायी के लिये तो 'अनेकान्ती' होना पहली शर्त है। अनेकान्त की प्रभुता जैन सबमें चमके—यह प्रत्येक विवेकशील जैन की कामना और प्रयास होना आवश्यक है।

---

1. मथुराके कंकाली टीलामे कुशाल का के प्राचीन लेखों में 'निर्ग्रन्थ आर्हतों' (जैनों) का उल्लेख है। नन्दि संघके आचार्य 'इन्द्रनन्दि का उल्लेख अहिच्छत्र के स्थम्भलेख में एवं गृहनन्दि आचार्य का उल्लेख पहाड़पुर के ताम्रपत्र (सन् ४७१ ई०) में हुआ है; जहाँ उनको निर्ग्रन्थ संघका आचार्य लिखा है। सर्वोपरि कदम्बवंश के राजा श्रीविजय शिवमृगेशवर्मा के ताम्रपत्र (५ वीं शती) के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर पहले 'निर्ग्रन्थ' कहलाते थे। उसमें लिखा है कि कदम्बनरेश ने कालवंग ग्राम का एक भाग अर्हत् भगवान् की पूजा के लिए, दूसरा भाग श्वेतपट महाश्रमण संघ के लिए और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के लिए प्रदान किया था—जैन हितैषी भा० १४ पृ० २२९।

संघ में यह विरोध श्रमणों के बाह्य भेष और क्रिया विशेष को लक्ष्य करके ही खड़ा किया गया, जो सचमुच धर्मभाव के अनुकूल नहीं है। उस पर मज़ा यह कि श्रामण्य के लिये अचेलकत्व अर्थात् नग्न रहना दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्रों में मान्य रहा है। दिगम्बर जैन शास्त्रों में इसे मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों मे एक माना है और वही जिन लिंग कहा गया है।[१] श्वेताम्बरीय 'आचाराङ्गसूत्र' मे भी भिक्षुके लिये परमधर्म आचेलक्य ही प्रतिपाद्य गया है, अर्थात् साधु को दिगम्बर वेष धारण करना आवश्यक बतलाया है।[२] उनके मतानुसार प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने इसी आचेलक्य धर्म का प्रतिपादन किया और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने भी उसी को धारण किया।[३] श्वेताम्बरीय शास्त्रों में राजा उदयन, ऋषभदत्त आदि मुनियों के विषय मे लिखा है कि उनको नग्न वेष धारण करना पड़ा था।[४] भ०

---

१. "जधजाद रूव जादं उप्पाडिद केसमं सुगंसुद्धं; रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥"

—प्रवचनसार ३।५

२. जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एव ...।' १५१—आचाराङ्ग; 'तं वोसज्ज वत्थमणगारे'—२१० आचाराङ्ग, प्रो० जैकोबी ने 'अचेल' शब्द का अर्थ नग्नता (nudity) किया है। (Jaina Sutras, S.B.E., I. p. 56)

३. कल्पसूत्र, Jaina Sutras S. B. E., Pt. I p.285

४. ऋषभदत्त के विषयमें कहा गया है कि जिस प्रयोजन के लिये उन्होंने नग्नता धारण की थी, उस अर्थ—निर्वाण को प्राप्त किया। ("जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ ।" भगवतीसूत्र, शतक ९ उद्देशक ३३) उदयन कथा में यही बात उदयन के विषयमें दुहराई गई है।

महावीर ने स्पष्ट कहा था कि निर्ग्रन्थ श्रमण को नग्नभाव, मुंड-भाव, अस्नान, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमि-शय्या, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना और आहार की वृत्ति का पालन करना अनिवार्य है।[१] ऐसे साधुओं को श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमे 'जिनकल्पी' लिखा गया है और इन नग्न मुनियों को वस्त्रधारी साधुओं से अधिक विशुद्ध माना है। ('आउरण वज्जियाणं विशुद्ध जिणकप्पियाणन्तु'—प्रवचनसारोद्धार भा० ३ पृ० १३) 'आचाराङ्ग' मे भी उसे ही सर्वोत्कृष्ट धर्म कहा है। इस प्रकार विरोध के लिये सिद्धान्त का झूठा सहारा लिया गया—उसकी व्यवहारिकता में ही विषमता उग आई। वैसे तो जैनेतर साहित्य और पुरातत्व भी यह ही साक्षी उपस्थित करता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण संघके साधु नग्न रहा करते थे।

जैनेतर साहित्यमें वैदिक और बौद्ध ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। ऋक्संहिता' (१०।१३६-२) मे 'मुनयो वातरसना." का उल्लेख

---

१. 'से जहानामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुण्ड-भावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणु वाहणाए, भूमि-सेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंमचेर वासे, लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाण णिग्गंथाण नग्गभावे जाव लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पद्वेहिंत्ति।" ठाणाङ्ग सूत्र (हैदराबाद संस्करण) पृ० ८१३ "सूत्रकृताङ्ग" (पृ० ७२) में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों को मुंडे सिर नगे फिरने वाला लिखा है। (णगिणापिंडोल गाहमा, मुंडाकदूविणट्ट गा) नग्नभाव (नग्गभाव) से मतलब बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा मुक्त ही होना है। यदि बाह्यभेष नग्न न हो तो परिग्रह से मुक्ति मिलना कैसे सम्भव होगा?

है और 'भागवत' से स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने जिन ऋषियों को दिगम्बरत्वका उपदेश दिया था, वे 'वातरशनाना' कहलाये थे। प्रो० अलब्रेट वेबर ने उक्त मंत्रवाक्य जैन मुनियों के लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया है[1]। 'जाबालोपनिषद' सूत्र ६ में 'यथा जातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः" उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' (आदि पर्व ३२६-२७) जैन मुनि को नग्न क्षपणक' कहा है। 'विष्णु'[2] और 'पद्म'[3] पुराणों मे भी जैन मुनि दिगम्बर कहे गये हैं। भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में जैन मुनिको पाणिपात्री दिगम्बर लिखा है।[4] इसी प्रकार 'वाराह मिहिर संहिता' मे जैन मुनियों को 'नग्नान्' और अर्हतदेव को 'दिग्वास' लिखा है।[5] 'पंचतन्त्र' में भी उनको नग्न बतलाया है।[6] ज्योतिषग्रन्थ 'गोलाध्याय' में भी वे नंगे लिखे गये है।[7] 'मुद्राराक्षस' नाटक में नग्न क्षपणक रूपमें जैन मुनि का उल्लेख है।[8]

बौद्धो के पिटक साहित्य मे निर्ग्रन्थ श्रमण अचेलक अर्थात् नग्न ही कहे गये हैं। 'जातक' कथा में भ० महावीर को अचेलक

---

१. इण्डियन ऐन्टीकेरी, भाग ३० पृष्ट २८०

२. ततो दिगम्बरो मुण्डो....'—विष्णु पुराण, तृतीयांश अ० १७ व १८

३. दिगम्बरेण....जैनधर्मोपदेशः.... दिगम्बर जैनधर्मदीक्षा दानम्।'

—पद्मपुराण प्रथम सृष्टिखंड १३

४. वेद पुराणादि ग्रन्थों में जैन धर्म का अस्तित्व, पृ० ४६

५. 'नग्नान् जिनानां विदुः' ॥ १९ ॥ ॥ ६१ ॥

'दिग्वासस्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥ ४५ ॥ ५८ ॥

—वराहमिहिर संहिता

६. 'नग्नीकृता मुण्डिता'—तन्त्र ४ व ५

७. गोलाध्याय ३।८—१०

8. Hindu Dramatic Works, p.10.

लिखा है।[१] वैशाली के निकट कन्डरमसुक जब निर्ग्रन्थ साधु हुये तो उन्होंने यावज्जीवन नग्न रहने का व्रत लिया[२]। बौद्ध टीकाकार 'अचेलक' का अर्थ 'नग्न' करते हैं। (अचेल कोड॰ तिनिच्चेलो नग्गो) इन दिगम्बर वेषी जैन मुनियों का प्रभाव जैनेतर साधुओं पर पड़ा था, जो नग्न रहने लगे थे।[३] विनय पिटक ग्रंथ 'महावग्ग' के उल्लेख से स्पष्ट है कि भ० महावीर से पहले के तित्थिय (तीर्थक) साधु भी नग्न रहते थे, जो मुख्यतः प्राचीन जैन साधु थे। "जातक घटकथा"[४]—"चुल्लवग्ग"[५] महावग्ग (८।१५।३८), संयुत्तनिकाय (२।३।१०।७) दिव्यावदान (पृ० १६५) दाठावंसो (पृ० १४) इत्यादि ग्रन्थों में निर्ग्रन्थों की नग्नता के द्योतक उल्लेख हैं। चीनी यात्री फाह्यान्[६]

---

१. जातक १।१८२
२. दीघनिकाय (P.T.S.) भा० ३ पृ० ६-१०
३. From Buddhist accounts in their canonical works as well as in other books, it may be seen that......in their description of other rivals of Buddha, that these in order to gain esteem, copied the Nirgranthas and went unclothed or they were looked upon by the people as Nirgrantha holy ones, because they happened to lose their clothes.
—Buhler, An Indian Sect of the Jainas p 36.
४. S B B. Vol. 1 p. 145
५. चुल्लवग्ग ८।२८।३
६. फाह्यान् पृ० ३१-४४ (The Niganthas were ascetics, who went naked—Beal, pp. 110-113.)

और हुएनत्सांग ने भी जैन मुनियों को नग्न लिखा था१। तामिल के प्राचीन साहित्य ग्रन्थों जैसे 'मणिमेखलै' और 'सिल प्पदिकारम्' मे उल्लेख है कि निर्ग्रन्थ संघ में जाकर मुमुक्षु दिगम्बर साधु हो जाते थे।२

भारतीय पुरातत्व से भी श्रामण्यका लक्षण दिगम्बरत्व ही प्रमाणित होता है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा से नग्न मूर्तियाँ मिलीं हैं, जो दिगम्बर जैन मूर्तियों के अनुरूप हैं।३ हाथीगुफा शिलालेख, कंकालीटीला मथुरा, अहिच्छत्र, पहाड़पुर, उदयगिरि (भेलसा) आदि के लेखों से स्पष्ट है कि जैन साधुजन नग्न रहते थे।४ सारांशतः जैन संघमें श्रमण गण सदासे ही दिगम्बर वेप मे रहते आये हैं। अतएव इस बात को लेकर ही संघ में विषमता उपस्थित किये रखना उचित नहीं। सम्यक्त्व की दृढ़ता सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रों को मानने एवं सात तत्वों में श्रद्धा रखना ही है। उस पर इस पंचमकाल में मुक्ति का द्वार सर्वथा बंद ही है। क्षुल्लक और ऐलक निर्ग्रन्थ वस्त्रधारी गृहत्यागी होते ही है; जो यद्यपि उदासीन श्रावक कहे गये हैं परन्तु जैनेतर साधुओं से कहीं श्रेष्ठ चर्या का पालन करते हैं। इस मतभेद के कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर-आपस में विरोध-भाव रक्खे, यह भ० महावीर की शिक्षा के अनुरूप नहीं है।

जैन संघमे विरोधभाव पनप जाने पर भी, वह विद्वेष का कारण नहीं हुआ था। जैनाचार्य मिलकर ही जैनधर्म के प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये हुये थे। मगधमे श्रेणिक बिम्बसार के वंशजों

---

१. The Lihi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked—St. Julien' Vienna, p 224

२. Studies in South Indian Jainism, pt. pp 47-48.

३. जैन सिद्धांत भास्कर, भा० १० पृ० ८७-८८

के उपरान्त नन्दवंश के राजा शासनाधिकारी हुये थे, जो प्राय जैन थे। सम्राट् नन्दवर्द्धन ने कलिङ्ग विजय करके कलिङ्ग जिन की प्रतिमा को लाकर राजगृह में स्थापित किया था। नन्द के राजमन्त्री राक्षस आदि भी जैन थे। उनके पश्चात भारत के भाग्य विधाता मौर्यवंश के सम्राट् हुये। इनमें सम्राट् चन्द्रगुप्त तो स्वयं मुनि होगये थे और सम्प्रति एवं सालिसूक ने जैनधर्म का प्रचार भारत के बाहर के देशों में भी किया था। सम्राट् अशोक के समान सम्प्रति ने भी अनेक धर्मलेख उत्कीर्ण कराये थे।१ साराश यह है कि यद्यपि वीर निर्वाणोपरान्त जैन संघमे आन्तरिक कलह उपस्थित हुआ, परन्तु वह इतना प्रवल नहीं था कि जैन श्रमण अपने धर्म को भूल जाते और लोकहित करने में अग्रसर न रहते। उन्होंने तत्कालीन शासन तन्त्र का पथ-प्रदर्शन किया और उसे अहिंसा से अनुप्राणित रक्खा। यही कारण है कि इस काल में भारत का गौरव वढा और उसकी प्रतिष्ठा विदेशी शासकों की दृष्टि में चढ़ी थी। विदेशों मे भी अहिंसा धर्म की प्रगति हुई और लोक भ० महावीर के दयामय उपदेश से अपना कल्याण कर सका। भारत में हिन्दूधर्म पर बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का विशेष प्रभाव पड़ा और उसने शाकाहार एवं अहिंसा को जैनधर्म से गृहण किया२। कण्वों ने यद्यपि पशुयज्ञों के प्रचलन का प्रयत्न किया, परन्तु वे उसमे सफल न हुये। भ० महावीर का अहिंसामई उपदेश भारतीयों के मन पर ऐसा चढ़ा कि पशुयज्ञोंकी पुनरावृति भारतमें हो न पाई।

---

१. संजैइ०, भा० २ खंड २ पृष्ठ ४-५

२. "इन (भ० महावीर) के धर्म के परिणामसे वैदिक धर्म में भी 'अहिंसा' परम धर्म माना गया, और शाकाहार सिद्धान्त अधिकांश हिन्दू जनता ने स्वीकार किया।"—के० जी० मशरूवाला लोक मान्य तिलक ने भी 'गीता रहस्य' में यही लिखा है।

वीर-संघ का प्रभाव और उपरांत के प्रसिद्ध जैनी राजा

भगवान् महावीर की तीर्थ-प्रवृत्ति समयकी एक बड़ी आवश्यकता की पूरक थी—लोकसमाज धर्म-विज्ञान का सच्चा रूप देखने को लालायित था। भ० महावीर ने उसकी लालसा पूरी की। परिणाम यह हुआ कि वीर-तीर्थ-प्रवर्तन होते ही उसका चमत्कारिक प्रभाव सर्व-व्यापक होगया। सत्य-ज्ञानकी पिपासी आत्माओं ने सर्व वर्णों से आकर भगवान् की सुधागिरा का पान करके अपनी आत्मतुष्टि की थी। कविसम्राट् स्व० डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों मे कहे तो उस समय "श्री महावीर-स्वामी ने गम्भीरवाद से इस प्रकार मुक्ति का सन्देश भारतवर्ष को सुनाया कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य की उपासना धर्म है। बाहरी साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड के पालने से मुक्ति नहीं मिलती, किन्तु वह सत्य-धर्म के स्वरूपमें आश्रय लेने से प्राप्त होती है। धर्म मे मनुष्य-मनुष्य का भेद कोई स्थान नहीं रखता। कहते हुये आश्चर्य होता है कि महावीरजी की इस शिक्षा ने समाजके हृदय मे बैठी हुई भेद-भावना को बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया और सारे देश को अपने वश में कर लिया!"

क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—आर्य, अनार्य—विद्वान्, श्रीमान्-रंक-राव, पशु-पक्षी, सभी भ० महावीर की शरण आये। सबने सच्चे सुख का स्वरूप पहचाना और सबको उसका भान हुआ। शायद इसी कारण कहीं २ जैनधर्म को वर्ण व्यवस्था का लोपक कहा जाता है, परन्तु यह मिथ्या है। भ० महावीर ने इतर वर्णों के प्रति जो अत्याचार किया जाता था, उसे मिटा दिया था—उन्हे भी मानवी अधिकार दिये थे और जनतामे उनका

मानवोचित सम्मान कराया था, परन्तु उन्होंने वर्ण व्यवस्था का लोप नहीं किया था। हाँ, उच्चता-नीचता का माप एकमात्र जन्म और कुल को नहीं माना था, बल्कि कर्म के आधीन मानवी जीवन की उच्चता-नीचता नियत की थी। कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही शूद्र—इसलिये अपने कर्म अच्छे रक्खो--अच्छे बनकर चमको और योग्य बनो। योग्य व्यक्ति ही सम्मान और उच्चपद पाता है।

पाठक पूर्व-पृष्ठों में पढ़ चुके हैं कि तत्कालीन भारत के सब ही राजा जिनेन्द्र महावीर के संघमें सम्मिलित हुये थे। सम्राट श्रेणिक बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, शतानीक, प्रसेनजित प्रभृति जैनधर्म के भक्त थे और अपनी प्रजा को धर्म-साधन की सुविधा दिये हुये थे। वैशाली-(विदेह) में उस समय असंख्य जैनी थे। अपितु, भारतके पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पर अवस्थित विदेशी यूनानियों में भी भ० महावीर के भक्तों का अभाव नहीं था। बौद्धग्रंथ 'मिलिन्द पण्ह' में लिखा है कि पांच सौ यूनानियों ने अपने राजा मिलिन्द (Menander) से निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर के पास चलकर अपने मन्तव्यों को उन पर प्रगट करने और शङ्काओं का समाधान करने के लिये कहा था।[1] यद्यपि यह उल्लेख ई० पूर्व द्वितीय शताब्दि से सम्बन्धित हैं, परन्तु इससे प्रगट है कि जैन धर्म का प्रचार यूनानियों में बहुत पहले से हो गया था। भ० महावीर के समय के लगभग यूनान देशके प्रसिद्ध तत्ववेत्ता पिथागोरस और पैर्हो (Pyrrho) भारत आये थे—उन्होंने संभवतः जैन साधुओं से आध्यात्मिक शिक्षा भी ग्रहण की थी। इन तत्ववेताओं ने यूनान में अहिंसा और ऐसे सिद्धान्त प्रचलित किये थे जो

---

१. Historical Gleanings, p. 78.

जैन सिद्धान्तों के समान थे।१ जैन कथाग्रन्थों से प्रगट है कि उस समय फणिक जाति के विदेशी भद्रजन भी भ० महावीरके संघमें सम्मिलित हुये थे२। ई० पूर्व द्वितीय शती के एक मूर्ति लेख से स्पष्ट है कि मथुरा में पार्थियन (Parthian) विदेशी जैनधर्म दीक्षित हुये थे और उन्होंने जिनमूर्तियाँ निर्माण कीं थीं।३

निस्सन्देह भ० महावीर के धर्म का प्रभाव उनके समय से ही चहुँ ओर फैला था। संघमे विरोध का जन्म होने पर भी, जैनधर्म का प्रभाव अक्षुण्ण रहा था। वीर निर्वाणाब्द ८४ सदृश प्राचीनकाल का एक शिलालेख इस बात की साक्षी है कि भारतकी कृतज्ञ जनता ने भगवान् के निर्वाण-काल की स्मृति मे एक अब्द भी प्रारम्भ

---

१. असहमतसंगम (Addenda,p. 3) & Encyclo- Bri: XII, p. 753. पिथागोरस ने जीव को अमर और आवागमन सिद्धान्त को माना था। मौनव्रत पालकर वह जैनों की तरह तप तपते थे। मास भोजन का उन्होंने निषेध किया और द्विदल भी नहीं खाते थे। जैनों में ही केवल द्विदल न खाने का विधान है। पैरहोने स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुसरण किया था, परन्तु वह उसको ठीक समझ न सका था।

२. आराधना कथा कोष, भा० २ पृ० २४३ व भ० पार्श्वनाथ, पृ० २०१–२०२।

३. 'There were Parthians at Mathura who had immigrated during the rule of the Kshatrapas and who, although they were converted to the Jaina faith, upheld the traditions of their native country."

H. Luders in the Bhandarkar Volume

किया था१। कुछ ऐसी प्राचीन मुद्रायें (सिक्के) भी मिली हैं, जो भ० महावीर के प्रभावको व्यक्त करती हैं। उन पर भ० महावीर का सिंह चिन्ह और जैन-लक्षण अङ्कित हैं।२ वैशाली (वसाढ) के ध्वंशावशेषों से एक ऐसा सिक्का मिला है, जिस पर चरण-पादुकायें और श्री गौतम गणधर का नाम लिखा है।३ सारांश यह है कि भ० महावीर का कल्याणकारी सन्देश अवश्य ही सारे देश में फैला था। भ० महावीर के पश्चात् भारतवर्ष मे हुये अनेक प्रमुख राजाओं में अधिकांश जैनधर्मानुयायी थे। महाराज नन्दवर्द्धन्, चन्द्रगुप्तमौर्य, अशोक, सम्प्रति, शालिसूक-मौर्य, ऐल खारवेल, विक्रमादित्य, नहपान, रुद्रसिंह अमोघवर्ष, कुमारपाल, मारसिंह आदि राजा जैनी थे। दक्षिणभारत के कदम्ब, चेर, चोल, पाण्ड्य, गंग, होयसल आदि राजवंशों मे आदर्श जैनी शासक हुये हैं, जो लोकप्रसिद्ध थे। उनके अनेक सेनापति और दंड नायक भी जैनी थे, जैसे श्रीविजय, चामुंड-राय, गंगराज, हुल्ल, इरुगप्प इत्यादि। चामुंडराय ने लगभग ८४ युद्ध लड़कर विरुद पद प्राप्त किये थे। लोक प्रसिद्ध श्रवण वेल-गोल की ५७ फीट ऊँची दि० जैनमूर्ति को इन्होंने ही निर्माण किया था। मेवाड़ के सच्चे भक्त वैश्यकुल दिवाकर भामाशाह भी जैनी थे, जिन्होंने राणाप्रताप की अतुल सहायता की थी और हल्दीघाटी के युद्ध में अपनी तलवार का जौहर दिखाया था। इन सब बातों के उल्लेख करने का यह स्थल नहीं है। पाठकगण इस विषय का परिचय हमारे ' संक्षिप्त जैन इतिहास" नामक ग्रंथ

---

१. जैनमित्र, वर्ष १२ अंक ११ पृ० १६२ व मध्यप्रांत—राजपूताना के प्रा० जैनास्मार्क पृ० ११०

२. ममा०, पृ० २१५–२१७

३. बंगाल-बिहार-ओडीसा प्रा० जैन स्मार्क, पृ० २७

से प्राप्त करें ! इस प्रसंग मे खास ध्यान देने की बात यह है कि जैनी राजाओं का शासनकाल भारतीय इतिहास मे स्वर्णयुग रूप मे चमक रहा है। कई जैनी राजाओं ने अपने साहस और शौर्य से भारत को विदेशियों के शासनभार से मुक्त किया था--उसे स्वाधीन बनाया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों के आक्रमण से भारत को मुक्त किया था। यह सम्राट् जैन श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे और अन्तमे अपने पुत्रको राज्यभार सौंप कर मुनि हो गये थे। गुरु और शिष्य दोनों ने ही दक्षिण भारत मे चंद्रगिरि पर्वत पर जाकर तपस्या की थी—वहाँ उनके चरण और स्मृति चिन्ह अंकित हैं !१ उपरान्त ऐल खारवेल ने इंडो-ग्रीक राजा मनेन्डर को भारत में आगे नहीं बढ़ने दिया था—वह खारवेल का सैन्यागमन सुनते ही मथुरा छोड़ कर चला गया था २। भारत को स्वाधीन बनाने का श्रेय फिर एक जैन सम्राट् को मिला। ऐसे ही शकों को परास्त करने वाले विक्रमादित्य भी जैनी थे और अवधमे मुसलमानों से सफल मोर्चा जैनी राजा सुहृदयध्वज ने ही लिया था।३ सारांश यह कि भ० महावीर के भक्त भारतके चमकते हुये रत्न थे, जो उनके धर्मप्रभाव को स्वयं प्रगट करते है !

गृहस्थ ही नहीं, अरण्यवासी दिग्गज विद्वान् सन्यासी और परिव्राजक भी भ० महावीर के धर्म से प्रभावित हुये थे। पाठक पढ़ चुके हैं कि भ० महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम प्रभृति जैनधर्म मे दीक्षित होने के पहले वैदिक सम्प्रदाय के उल्लेखनीय विद्वान् थे। वे अपने शिष्य समुदाय सहित भ०

---

१. संजैइ०, भा० २ खंड १ पृष्ठ २१९-२१८

२. पूर्व पुस्तक खंड २ पृ० ११ ९७

३ पूर्व पृ० १४१

महावीर के मत में दीक्षित हुये थे। इसलिये स्वामी समन्तभद्रजी का कथन युक्तियुक्त है कि भगवान् ने धर्मामृत रूपी प्रवाह बहाया था और एकान्त मिथ्यामतका खंडन कर के जिनागम का प्रचार किया था४। श्री गुणभद्राचार्य जी ने इसलिये यह ठीक लिखा है कि 'भ० महावीर-वर्द्धमान सदा वर्द्धमान व जयशील रहते हैं—वह भव्य जीवों को निर्मल मोक्षमार्ग में ले जाते हैं—उनका धर्मतीर्थ कलिकाल में भी बड़े विस्तार से प्रचलित हुआ है। इसलिये यद्यपि वह तीर्थङ्करों में सर्व अन्तिम हैं परन्तु उन्होंने अग्रिम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को भी जीत लिया है! आचार्य इसीलिये उनकी स्तुति करते हैं५।" अन्य आचार्यों ने भी इस सत्य को दुहराया है। कवि नवल यह भी अपनी काव्य-वाणी में यही बतलाते हैं —६

'शनैः शनैः प्रभु करें विहार, नाना देश ग्राम पुर भार।
सबको करें धर्म उपदेश, मुक्ति-पंथ भवि गहत महेश!
जिन सूरज जब किरण प्रकाश, मत अज्ञान भयो जग नाश!!'

निस्सन्देह जिनसूर्य-प्रभा से प्रभावित लोक आज तक प्रभुवीर के गुणगान गाता है। आजकल भ० महावीर के भक्त-गण भारत में ही सीमित हैं, परन्तु उनके समयमें और उपरान्त भी वह सारे लोक में फैले हुये थे। कुछ लोग ऐसा ख़याल करते हैं कि विदेशों में जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ, किन्तु यह मत

---

४. वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, १४२

५. 'श्री वर्द्धमानमिह जिनवर्द्धमानं, त्वं तं नये स्तुतिपथं पथि संप्रधीतं
यो ऽल्पोपि तीर्थकरमग्रिममप्य जैषीत्, काले कलौ च—
पृथुलीकृत धर्मतीर्थः ॥५४६॥'
—उत्तरपुराण पृ० ७१६

६. श्री वर्द्धमानपुराण, पृ० २११ (सूरत)

निर्भ्रान्त नहीं है; क्योंकि शास्त्रों मे यह स्पष्ट कहा गया है कि जिनेन्द्र महावीर ने समग्र आर्यखड मे आर्य अनार्य को समान-रूप से धर्मोपदेश दिया था[१] और आर्यखड में आधुनिक ज्ञात पृथ्वी का समावेश हो जाता है[२]। ईस्वी सातवीं शताब्दि तक भारत का विस्तार अफगानिस्तान और ईरान के लगभग तक फैला था—इन देशों मे उस समय जैन संस्कृति का प्रचार था। चीनी यात्री हुएन सांग ने अफगानिस्तान मे दि० जैनियों की वस्तियाँ देखी थीं।[३] इसका अर्थ स्पष्ट है कि इन प्रदेशों में जैनधर्म ७ वीं शताब्दि से भी पहले पहुँच चुका था। हमने अन्यत्र समग्र मध्य एशिया मिश्र आदि देशों मे जैन प्रभाव भ० पार्श्वनाथके समय से प्रचलित स्पष्ट किया है[४]। अवश्य ही जैन साधुओं के चारित्र नियम कठोर है और उनकी पवित्रता का पालन भी सुगम नहीं है, परन्तु जैनसंघ मे अकेले साधु ही नहीं रहते—साधुसंघ के साथ उदासीन श्रावक भी रहते हैं जो सर्वथा आरभत्यागी नहीं होते और आवश्यकता पड़ने पर मुनियों के लिये आहार की व्यवस्था भी करते है। इस पर, जैन संघ का यह खास नियम है कि वर्षाऋतु के अतिरिक्त जैनमुनि एक स्थान पर तीन दिनसे अधिक ठहर नहीं सकते। अतएव उनके लिये यह आवश्यक है कि वह घूम कर सर्वत्र धर्म का प्रचार करते रहे, खासकर मिथ्यादृष्टियों को धर्मपथमें लगाते रहें। जैनकथाग्रथों से स्पष्ट है कि मुनिजन ऐसे स्थानों पर भी पहुँचते थे, जहाँ जैनी नहीं थे। वह ग्रामवासियों को धर्म मे

---

१. संजैइ०, भा० २ खड१ पृ० ८८-१०६
२. भ०पा०, पृ० १२६
३. हुभाभ्र०, पृ० ३७ व कनिघम व जागरफी० पृ० ६७१
४. 'भगवान् पार्श्वनाथ' पृ० १२४-२०१ देखो।

दीक्षित करके उनके यहाँ आहार लेते थे। अतः आचार नियमों की कट्टरता के कारण यह मानना ठीक नहीं है कि जैन मुनि दूर-दूर विदेशों में विहार करने नहीं जाते थे।

उपलब्ध पुरातत्व की शोध जैनदृष्टि से हुई ही नहीं है— उसपर, जैन एवं बौद्ध मूर्तियों के सूक्ष्मभेद को समझने वाले भी पहले प्रायः नहीं थे! भारत में ही अनेक जैनकृतियां बौद्ध बता दी गई थीं। ऐसी दशा मे निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के बाहर कोई जैन चिन्ह हैं ही नहीं। साहित्यिक उल्लेखों से तो भारत बाह्य देशों में जैनधर्म का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध है। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अभयकुमार ने ईरान देश के एक राजकुमार को जैनधर्म में दीक्षित किया था—इस उल्लेख से प्रगट है कि ईरान के लोग उस समय ही जैनधर्म के परिचय में आगये थे।[1] मौर्य काल में सिकन्दर महान् को अनेक दिगम्बर साधु पश्चिमोत्तर प्रान्त की सीमा पर मिले थे और उनमें से एक नग्न साधु (Gymnosophis) उनके साथ यूनान की ओर गये भी थे।[2] इन साधुओं में जैन-मुनियों का अभाव नहीं था।[3] सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं श्रुतकेवली भद्रबाहु जी के शिष्य थे और उन्होंने धर्मप्रचार का प्रयत्न किया था। अशोक उनके विषय में लिखता है कि वह

---

१. हिस्ट्री ऑव जैन बाइब्लोग्रेफी, पृ० १२

२. 'वीर' भा० ७ पृ० ३४१–३४३ (M. Crindle, Ancient India, p. 73)

३. 'जिम्नोसोफिस्ट' दि० जैन मुनि थे, यह बात 'इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका' (११ वीं आवृत्ति) भा० १५ पृ० १२८ में लिखी है।

अपने उद्योग में असफल रहे ![1] परंतु अशोक की धर्मयात्रायें जैन प्रभाव से अछूती नहीं थी ।[2] उसने विदेशों मे भी धर्मप्रचार किया था । यूनानी लेखक हेरोडाटेस (Herodotus) ने मिश्र के निकट इथ्योपिया (Ethiopia) मे दि० जैन श्रमणों को (Gymnosophists) देखा था ।[3] ईस्वी प्रथम शताब्दि मे एक श्रमणाचार्य (दि० जैनाचार्य) भड़ोच से यूनान गये थे और वहां धर्मप्रचार करते हुये मृत्यु को प्राप्त हुये थे । उनकी निषिधिका अथेन्स (Athens) में विद्यमान थी ।[4] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जैन श्रमण रूम, यूनान और नार्वे तक गये थें ।[5] मौर्य सम्राट् सम्प्रति और शालिसूक ने निर्ग्रन्थ श्रमणों को अफगानिस्तान, अरब और ईरान में धर्मप्रचार के लिये भेजा था ।[6] डुबोई और फरलांग सा० का मत है कि एक समय सारी मध्यएशिया में जैनधर्म फैला हुआ था ।[7] चीनी तुर्किस्तान के गुफा मंदिरों में दि० जैनधर्म सम्बन्धी चित्र भी बनाये गये थे, यह बात प्रो० ल० कोक ने प्रगट की थी ।[8] लंका में सम्राट्

---

१ सातवां स्थंभलेख देखो ।

२. जैनधर्म और सम्राट् अशोक नामक पुस्तक देखो ।

३. ऐशियाटिक रिसर्चेज़, भा० ३ पृ० ६

४. इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली, भा० २ पृ० २१३

५. भम०, पृ० ७

६. परिशिष्ट-पर्व और EHI, 202-203 & JBORS

७. Dubois, Descriptions....of the people of India...., Intro- 1817 & J. G. R. Furlong, 'Short Studies in Science of Comparative Religions (1897), p. 67.

८. N. C. Mehta, 'Studies in Indian Painting. p.2

पाण्डुकाभय (ई० पू० ३६७-३०७) दो निर्ग्रन्थ श्रमणों के भक्त थे। और उनके लिए उन्होंने अनुराधापुर मे जिनमंदिर बनवाया था।[१] प्रो० सिल्वा लेवी के मतानुसार जैनप्रभाव जावा-सुमात्रा में भी कार्यकारी था।[२] सारांश यह कि भ० महावीर का धर्म-प्रभाव सारे भूमंडल में व्याप्त रहा है। आधुनिक काल में सर्व श्री वीरचंद गांधी, जुगमंदरलाल जज और चम्पतराय जी बैरिस्टर सदृश जैन विद्वान् यूरुप और अमेरिका मे भ० महावीर का सन्देश फैला चुके हैं। अब श्री अखिल विश्व जैन मिशन द्वारा विदेशों में प्रचार किया जा रहा है। सचमुच भ० महावीर को:—

"वचन-किरन सौं मोहतम-मिट्यौ महा दुखदाय ।
वैरागे जगजीव बहु—काल लब्धि बल पाय ॥
सम्यक्दर्शन आदर्यो—मुक्ति तरोवर मूल ।
शंकादिक मल परिहरे—गई जन्म की सूल ॥"

---

१. Indian Seet of the Jains, p. 37.

२. विशाल भारत, भा० १ खंड २ पृ० २११

भ० महावीर सम्बन्धी तीर्थ और पुरातत्व ।

"जिण जणमणिक्खवण, णाणुप्पत्ति मोक्ख संपत्ति ।
णिसिहीसु खेतपूजा, पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥ ४५२ ॥"

—श्री वसुनंदि श्रा०

जहॉ-जहॉ संतों के चरण-कमल पड़ते है, वहॉ-वहॉ के लोग अपने भाग्य को सराहते हैं। वह भूमि ही उन महापुरुष की पदरज से पवित्र हो जाती है। उस क्षेत्र का वातावरण ही एक विशेषता प्रगट करने लगता है और अपने प्रेमी के लिए प्रोत्साहन का कारण बनता है। इसी अनुरूप भ० महावीर जिस स्थान पर पहुँचे, वह उनकी पदरज से पवित्र हो गया और भक्तजनों ने उनकी स्मृति को सजीवित रखने के लिए वहॉ पर मंदिर-मूर्ति या स्तंभ रूप कोई स्मार्क बना दिया। उनमें से कई स्थान तीर्थवत् पूजे जाने लगे और कई भुला भी दिये गये। आज जिन तीर्थों और स्थानों का पता चलता है, उनकी तालिका निम्नप्रकार है:—

अपापानगरी पावा का प्राचीन नाम था। भ० महावीर का निर्वाण यहां से ही हुआ था। इसका वर्णन पहले लिखा जा चुका है। यह निर्वाण तीर्थ होने के कारण पूज्य है।

अहिच्छत्र बरेली जिले के अन्तर्गत अतिशयक्षेत्र है। संभवतः भ० महावीर का समवशरण यहा आया था। यहां प्राचीन मूर्तिया निकली हैं।

*आमलकल्पा स्थान पश्चिम विदेह मे श्वेताम्बी के समीप था। श्वेताम्बरीय शास्त्रों मे लिखा है कि यहां के अंब्रसाल चैत्य में भ० महावीर का समवशरण रचा गया था।

*आलभिका—नगरी राजगृह से बनारस जाते हुये बीच में पड़ती थी। श्वेताम्बरीय मत है कि यहां पर भ० महावीर ने पोग्गल परिव्राजक को श्रमण शिष्य बनाया था।

इलोरा—प्राचीन इलापुर है। निजाम राज्य में दौलताबाद स्टेशन से १२ मील है। दर्शनीय गुफा मंदिर हैं, जिनमें भ० महावीर की कई मूर्तियां बनी हुई हैं।[1]

उज्जैन—प्राचीन उज्जयिनी है, जो मालव देश की राजधानी थी। यहां के अतिमुक्तक नामक श्मशान में वीर भगवान पर उपसर्ग हुआ था। इस स्थान का पता लगाकर प्रसिद्ध करना चाहिये।

*एक जंबू चैत्य—उल्लूकातीर नगर का उद्यान था। श्वेताम्बर शास्त्र कहते हैं कि यहां भ० महावीर का समवशरण हुआ था।

एहोले—बीजापुर जिले में प्राचीन आर्यपुर है। यहाँ सन् ६३४ में जैन कवि रविकीर्त्ति ने भ० महावीर का मन्दिर निर्माण कराया था। यहाँ श्री महावीर स्वामी की प्राचीन प्रतिमायें अब भी मिलती हैं। चालुक्य नरेश पुलकेशि सत्याश्रय से रविकीर्ति ने सम्मान पाया था।[2]

ओरिया—अचलगढ़ (आबू) के निकट अवस्थित है। इसे कनखल तीर्थ कहते हैं—यहाँ महावीर स्वामी का मन्दिर है।[3]

---

*इस चिन्ह वाले स्थानों का पता नहीं है—वे अज्ञात हैं। इनका उल्लेख श्री कल्याण विजय की पुस्तकानुसार किया गया है।

1 बं०प्रा०जै० स्मा० पृ० १६४

२. मं० प्रा०जै० स्मा०, पृ० ६० ३. पूर्व० पृ० १३८

कनकपुर---श्वेताम्बरीय मत है कि यहाँ वीर-समवशरण दो दफा हुआ था।

कम्पिला---(फर्रुखाबाद जिला) प्रसिद्ध जैनतीर्थ है। यहाँ भी भ० महावीर का समोशरण आया था। इसका प्राचीन नाम काम्पिल्य है। यह द्रुपद राजा की राजधानी और तीर्थंकर विमलनाथकी जन्म नगरी थी। कायमगंज स्टेशन से जाते हैं।

कर्ण-सुवर्ण---मुर्शिदाबाद जिला में भागीरथी के दक्षिण तट पर अवस्थित था। आजकल इसे कानसोना कहते हैं। भगवान् महावीर का यहाँ शुभागमन हुआ था---तब इसे कोटिवर्ष कहते थे।

काकन्दी---सम्भवतः वर्तमान गोरखपुर जिले का खुखुन्दो ग्राम है। नवमें तीर्थंकर श्री पुष्पदन्तजी का जन्मस्थान किष्किन्धापुर भी इसे कहा जाता है। महावीर स्वामी यहाँ कई बार पधारे थे। दि० जैन मन्दिर में भ० महावीर की प्राचीन मूर्ति स्थापित है, जिसे युगवीर कहते हैं। इस स्थान की प्रसिद्धि तीर्थरूप में है।[1]

कुण्डग्राम---में भ० महावीर का जन्म हुआ था। यह वैशाली के निकट था। आजकल का वसुकुण्ड ग्राम (मुजफ्फरपुर जिला) ही प्राचीन कुण्ड ग्राम है। यहाँ शोध करके तीर्थ की स्थापना होनी चाहिए।[2] छपरा के भाइयों ने कार्यारंभ किया है।

कुण्डलपुर---मध्यप्रान्त के दमोह जिले में है। इस पर्वत पर ५२ जिनालय हैं। यहाँ श्री महावीर स्वामी की वृहत मूर्ति अति मनोज्ञ १२ फीट ऊँची है। राजा छत्रसाल के समय में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था। पहाड़ी के सरोवर को 'वर्द्धमान

---

१. सं०प्रा०जै०स्मा०, पृ० ८ २. बं०बि०ओ०जै०स्मा०, पृ० २३-२४

सरवर' कहते हैं। महावीर-मूर्ति के कारण यह क्षेत्र अतिशय तीर्थ माना जाता है।१

कुमारी पर्वत—कलिङ्गदेश में था। आजकल यह तीर्थ खंडगिरि उदयगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ भ० महावीर ने धर्मोपदेश दिया था।

कुहाऊं ग्राम—तहसील देवरिया जिला गोरखपुर में है। इसका प्राचीन नाम ककुभ ग्राम है। यहाँ कई जिनमन्दिर थे। इस समय एक गुप्तकालीन स्थम्भ है, जिस पर अन्य चार तीर्थंकरों के साथ भ० महावीर की भी मूर्ति अंकित है।२

***कोल्लाक सन्निवेश**—दि० जैनग्रथों का प्राचीन कूल्यनगर है, जहाँ भ० महावीर का प्रथम पारणा हुआ था। यह स्थान कुण्डग्राम के निकट अवस्थित था।

कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले में कोसम नामक ग्राम है। प्राचीन वत्सदेश की वह राजधानी थी। यहाँ के राजा उदयन और रानी मृगावती भ० महावीर के उपासक और सम्बन्धी थे। चंदना सती का प्रकरण भी यहीं हुआ था। भ० महावीर यहाँ कई वार पधारे थे।३

ग्वालियर—प्राचीन गोपगिरि है। यहाँ के किले में अनेक जिन मूर्तियों में महावीर स्वामी की भी है।४

गुणावा—पटना जिले में नवादा स्टेशन से डेढ़ मील है। यह स्थान गौतम गणधर का निर्वाण क्षेत्र माना जाता है। यहाँ

---

१. म०प्रां० जै० स्मा०, पृ० १३

२. सं० प्रां० जै० स्मा०, पृ० ६

३. पूर्व० पृ० २६

४. म० प्रा० जै० स्मा०, पृ० ६५

भ० महावीर स्वामी के चरण और मूर्ति भी विराजमान हैं। इसकी प्रसिद्धि तीर्थ के रूपमे है ।[१]

गौर्वर ग्राम—गणधर इन्द्रभूति गौतम और उनके भाइयों का जन्मस्थान था। यह राजगृह के पास था।

चम्पा—अंगदेश की राजधानी थी। आजकल यह स्थान भागलपुर (विहार) से तीन मील पर है और तीर्थ माना जाता है। भ० महावीर यहाँ कई दफा आए थे ।[२]

चित्तौड़—प्राचीन चित्रकूट दुर्ग है। यहाँ का चच्चद्वारा निर्मित प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ भ० महावीर के एक प्राचीन मन्दिर का मानस्तम्भ है ।[३]

चंदेरी—झाँसी जिले में प्राचीन स्थान है और अतिशय तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यहाँ की तीर्थंकर मूर्तियाँ दर्शनीय और प्रसिद्ध हैं, जिनमें भ० महावीर की भी मूर्ति है ।[४]

जृम्भिक ग्राम—के निकट ऋजुकूला नदी के तट पर भ० महावीर को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई थी। सम्भवतः वर्तमान झिरिया यह ग्राम है।

जरसप्पा—उत्तर कनाड़ा जिला के होनावर ताल्लुके मे है। श्री महावीर स्वामी के मन्दिर में उनकी दर्शनीय प्रतिमा है ।[५]

जयपुर—राजपूताना का प्रमुख नगर है। वहाँ कई मन्दिरों मे महावीरजी की प्राचीन मूर्तियाँ हैं और एक महावीरजी का मन्दिर भी है ।[६]

---

१. दि० जै०डा०, पृ० ५८४
२. दि०जै०डा०, पृ० ५८५
३. म०प्रा०जै०स्मा० पृ० १३७
४. पूर्व० पृ० ६२
५. बं०प्रा०जै० स्मा०पृ० ३४
६. म० प्रा० जै० स्मा०, पृ० १७६

बादामी—बीजापुर ज़िला में प्राचीन स्थान है। यही चालुक्य राजधानी वातापि है। यहाँ एक गुफा मंदिर सन् ६५० ई० का बना हुआ है, जिसके बाहर भ० महावीर की दि० जैन मूर्ति पल्यंकासन विराजमान है। यह गुफा श्री महावीर स्वामी की भक्ति मे अपनी वीतरागता झलका रही है।२ यह अतिशय तीर्थ रूप में पूजी जाना चाहिये।

बीजोल्या—रियासत उदयपुर मे अतिशय क्षेत्र है। यहाँ भ० महावीर की भी मान्यता थी। एक मानस्तभ पर उनकी भव्य प्रतिमा अंकित है, जिस पर का लेख पढ़ा नहीं जाता।३

बीना—सागर जिले मे अतिशय तीर्थ देवरी के निकट है। यहाँ एक मन्दिर मे भ० महावीर की श्याम वर्ण पाषाण की १२ फीट ऊँची प्रतिमा अत्यन्त मनोग्य और दर्शनीय है।४

बेलगांव—का प्राचीन नाम वेणुग्राम था। यह बम्बई प्रात मे एक मुख्य ज़िला है। यहाँ पहले रट्ट वंश के राजा राज्य करते थे। राजा लक्ष्मीदेव की रानी चन्द्रिकादेवी जिनेन्द्र महावीर की भक्त थीं। उनके असाध्य रोग होने पर उन्होंने रामबाग में एकांत-वास किया और एक जिन मदिर मे महावीर प्रतिमा प्रतिष्ठित करा कर उनकी पूजा मे रत रहतीं थीं। इस भक्ति के फल स्वरूप उनका असाध्य रोग अच्छा हो गया और वह स्थान अतिशय स्थान माना जाने लगा।५

भोजपुर—भोपाल राज्य के अन्तर्गत एक प्राचीन स्थान है।

२ बं० प्रा० जै० स्मा०, पृ० १०३

३. दि० जैं० डा०, पृ० ५०२,

४. दि० जैं० डा०, पृ० ३०२

५. ऽ मन्नियशान्स इन सादर्न कर्णाटक व कोल्हापुर पृ० ५५

यहाँ भ० महावीर की २० फीट ऊँची मूर्ति है।[१]

मथुरा—सूरसेन देश की राजधानी थी। यहाँ भ० महावीर की मान्यता विशेषरूप मे रही है। यह निर्वाणतीर्थ है।[२]

❀ **मिथिलापुरी**—विदेह की राजधानी थी। वर्तमान सीतामढी को मिथिला बताया जाता है। भ० महावीर का यहाँ विहार हुआ था।

❀ **मृगग्राम**—में भ० महावीर के समय विजय क्षत्रिय राजा था। भगवान् ने यहाँ मृगापुत्रके कृत पापों का वर्णन किया था, यह श्वेताम्बरीय शास्त्र बताते है।

❀ **मृत्तिकावती**—नगरी दशार्णदेश की राजधानी थी। भ० महावीर यहाँ कई दफा आए थे और यहाँ के राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी।

राजगृह—मगधदेश की राजधानी था। इसे सम्राट् श्रेणिक ने फिर से बनवाया था। भ० महावीरके सम्पर्क में यह नगर सबसे अधिक आया था। यहाँ निकट विपुलाचल पर्वत पर भगवान् का समवशरण कई दफा आया था। राजगृह के सामान्य-विशेष प्रायः सब ही मनुष्य भ० महावीर के भक्त बने थे। आजकल यह पटना जिले का राजगिरि स्थान है।[३]

रानीवंध—बंगाल के मयूरभंजस्टेट मे है। यहाँ श्री भ० महावीर की मूर्ति मिली है जिसकी पूजा करने लोग यहाँ आया करते थे।[४]

---

१. म० प्रा० जै० स्मा०, पृ० ११ — २. दि० जै० डा०, पृ० ८१
३. दि० जै० डा०, पृ० ५६५
४. बं० बि० ओ० प्रा० स्मा०, पृ० ८४

❀ रोल्हीडकनगर—में धरण यक्ष का मन्दिर था। श्वे० शास्त्र बताते हैं कि महावीरजी का समवशरण यहाँ आया था।

❀ वर्धमानपुर—में भ० महावीर ने राज्ञी अंज के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

❀ वाणिज्य ग्राम—वैशाली के पास एक समृद्धिशाली व्यापारिक मंडी थी। श्वे० शास्त्र बताते हैं कि भ० महावीर के भक्त आनन्द गाथापति प्रमुख कोट्याधीश गृहस्थ यहीं के रहने वाले थे।

❀ विसाखा—सम्भवत: अयोध्या का प्राचीन नाम है। परन्तु कोई लखनऊ को विसाखा बताते हैं। कहते हैं, भगवान् का समवशरण यहाँ हुआ था।

❀ वीतभयनगर—सिन्धु-सौवीर देश की राजधानी थी। यहाँ के राजा उदायनको भगवान् ने मुनि दीक्षा दी थी। उनका समवशरण यहाँ आया था।

वीर भूमि—बंगाल प्रदेश का एक जिला है। प्राचीन राढ़ देश का एक भाग है—भ० महावीर यहाँ विचरे थे।[1]

वैशाली—मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक स्थान है। यह विदेह देश की राजधानी थी। भ० महावीर की ननिहाल यहाँ ही थी। उपरान्त यह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था।[2]

शत्रुंजय—जैनियों का प्रमुख तीर्थ सौराष्ट्र में है। भ० महावीर की मूर्तियां यहाँ भी हैं।

श्रावस्ती—कौशल देश की राजधानी थी। गोंडा जिले का

---

१. ए० वि० ओ० प्रा० स्मा० पृ० ११२-११६,
२. पूर्व० पृ० २१ २९

सहेठ महेठ नामक गांव प्राचीन श्रावस्ती है। भ० महावीर का समवशरण यहाँ कई दफा आया था। यहाँ के राजा सुहृद्ध्वज जैनी थे।१

श्री महावीरजी—(चांदनगांव) जयपुर रियासत में प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र है। यहाँ के विशाल मंदिर में भ० महावीर की वह विशाल मूर्ति विराजमान है जो एक ग्वाला के द्वारा भूगर्भ से निकाली गई थी और दीवान जोधराजजी भरतपुर ने जिसे वृहद् मंदिर बनवा कर उसमें विराजमान किया था। यह प्रतिमा चमत्कार लिये हुए बताई जाती है। इसी कारण इस तीर्थ की विशेष मान्यता है।२

श्रीमाल—गुर्जर देश की राजधानी था। आबू पर्वत से ५० मील की दूरी पर यह नगर अवस्थित है। यहाँ तेरहवीं शताब्दि के शिलालेख में लिखा है कि भ० महावीर का शुभागमन हुआ था। (यः पुरात्र महास्थाने श्रीमाले सुसमागतः। सदेवः श्री महावीर.. ....भयत्राता .) ३

साकेत—कौशल देश का प्रसिद्ध नगर और एक समय राजधानी था। भ० महावीर यहाँ पधारे थे।

संदेरा—संद्रक जैन गच्छ का मुख्य स्थान है। यहाँ श्री महावीर स्वामी का जैन मंदिर है।४

इस प्रकार भ० महावीर की मान्यता के मुख्य तीर्थ (१) पावापुर, (२) कुण्डलपुर बड़ागांव, (३) कुण्डलपुर और (४)

---

१. सं० यु० जै० स्मा० पृ० ६३

२. दि० जै० डा० पृ० ४८०

३. संग० भा० १ खंड १ पृ० ४८०

४. मरा० प्रा० जै० स्मा० पृ० १६३

श्री महावीरजी चाँदनगांव ही हैं। इनके अतिरिक्त भ० महावीर की जन्मभूमि और तपोभूमि का अनुमान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ ग्राम में किया जाता है। केवलज्ञानभूमि भिरिया कही जाती है। इन कल्याणक तीर्थों का भी उद्धार होना आवश्यक है।

भारतीय पुरातत्व में जिनमूर्तियाँ और उनकी मुद्रा अति प्राचीनकाल से उपलब्ध हो रही है। मोइन जो-दड़ो और हरप्पा के पुरातत्व इसके साक्षी हैं,[१] परन्तु हमारा उद्देश्य भ० महावीर विषयक पुरातत्व का निर्देश करना है। अतएव भ० महावीर की उपलब्ध सर्व प्राचीन मूर्ति का अन्वेषण परने पर हमें कंकाली टीला मथुरा अथवा उस्मानाबाद जिले का तेरपुर स्थान स्मरण होता है। कंकाली टीला से प्राप्त वोद्वस्तूप-पट भ० पार्श्वनाथ के समयका अनुमान किया गया है; जिस पर पाच तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ अङ्कित बताई गई हैं।[२] यह पांच तीर्थङ्कर वह ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने कौमारावस्था में दीक्षा धारण की थी और उनमें एक महावीर भी हैं। इस मूर्ति के अतिरिक्त तेरपुर की महावीर मूर्ति भी चतुर्थकाल की बताई जाती है अर्थात् वह सन् ईस्वी से पहले की निर्मित है।[३] उधर पटना स्टेशन के पास से मौर्यकालीन जिनप्रतिमा उपलब्ध है,[४] परन्तु वे खंडित हैं और उनके विषयमें यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि वह किन तीर्थङ्कर की प्रतिमा हैं—उनका महावीर मूर्ति होना सम्भव है। किन्तु कंकाली टीला से उपलब्ध महावीरजी की एक प्रतिमा

---

१. भ०पा० की भूमिका देखो

२. जैनऐंटीक्वेरी, भा० १ पृ० २३

३. करकण्डु चरिउ (कारंजा सीरीज) की भूमिका देखो।

४. जैनऐंटीक्वेरी, भा० पृ० १७

ई० पूर्व सन् ५३ की निस्सन्देह सर्व प्राचीन प्रगट मूर्ति है।१ यह प्रतिमायें इस बात की साक्षी हैं कि भ० महावीर की मान्यता एक अतीव प्राचीनकाल से सारे भारतवर्ष में व्याप्त हो गई थी। कलिंग के कुमारी पर्वत पर भ० का समोशरण आया था और वहाँ भी ई० पूर्व द्वितीय शताब्दि की जिन प्रतिमायें उपलब्ध है।२ उधर दक्षिण भारत में ई० पूर्व तीसरी शताब्दि तक की जिनमूर्तियाँ मिली है।३

मूर्तियों के अतिरिक्त शिलालेख पुरातत्व की एक खास चीज़ है। अजमेर प्रान्तान्तर्गत वार्लीग्राम से एक शिलालेख वीर निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् का अङ्कित उपलब्ध हुआ है, जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। यह शिलालेख यद्यपि अधूरा है, फिर भी उससे स्पष्ट है कि माध्यमिका नगरी (उदयपुर) में जिनेन्द्र महावीर की स्मृतिरूप कोई वस्तु निर्माण की गई थी।३ उपरान्त सम्राट् अशोक के लेखों में यद्यपि भ० महावीर का व्यक्तिगत उल्लेख नहीं है, परन्तु उनके भक्त निर्ग्रन्थ श्रमणों का उल्लेख अवश्य है।४ इसके अतिरिक्त कंकाली टीला के मूर्ति लेख भी दृष्टव्य है। ये प्राचीन शिलालेख भ० महावीर के अस्तित्व का महत्व स्वयं प्रगट करते हैं। प्राचीन ही नहीं, अर्वाचीन काल में भी भ० महावीर के स्मार्क-स्वरूप शिलालेख मिलते हैं। उनमे से किसी-

---

१. इम्पीरियल गैजेटियर ऑव इण्डिया भा० २ पृ० ५६

२. जविओरि सो० भा० ३ पृ० ४६५-६८

३. 'वीराय भगवते—चउरासी निवस्से—साला मालिणीये—रंनिए विट्ठ मज्झिमिके।'—म०प्रां०जै०स्मा० पृ० १६०

४. अशोक के धर्म लेख, पृ०

प्राचीन भारत में स्वर्णमुद्रायें भी धर्मभाव को लेकर बनाई जातीं थीं। उनमें से एक सुवर्णमुद्रा पर सिंह आदि ऐसे चिन्ह हैं जिनसे प्रगट होता है कि वह मुद्रा भ० महावीर के भक्त द्वारा उनकी स्मृति में ढाली गई थी![1] परमतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करने के लिये यह धार्मिक मुद्रायें एक सार्वजनिक चबूतरे पर रख दीं जातीं थीं।

कहीं-कहीं ऐसी पाषाण मूर्तियाँ भी मिलीं हैं, जिनमें राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला बालक महावीर को लिये हुये चित्रित हैं। कंकाली टीला से एक पाषाणपट मिला है जिसमें भ० महावीर की बालकालीन घटना अङ्कित है। वहीं से क्षत्रियाणी त्रिशलाकी भी मूर्ति मिली है।

'कल्पसूत्र' की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी मिलती हैं जिनमें भ० महावीर के चित्र बने हुए हैं। जैन मन्दिरों में भी वीर जीवन सम्बन्धी चित्र चित्रित मिलते हैं। सारांश यह कि भक्तिप्लावित हृदयों ने अपनी भक्ति का प्रकाश विविध रूप से करके भ० महावीर के जीवन को सजीव और प्रभावशाली बना रक्खा है!

[1] म०म० पृ० २४६-२४७